वासना-त्याग मोक्ष है

चन्दन बास निवारहू, तुझ कारण बन काटिया ॥
जियत जीव जनि मारहू, मुये सबै निपातिया ॥ 37 ॥

शब्दार्थ—चन्दन=एक सुगंधित लकड़ी या उसका वृक्ष, तात्पर्य में चेतन जीव। बास=गंध, वासना। निवारहू=त्याग करो। बन=जंगल, भ्रम-मान्यताएं। निपातिया=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे चेतन मनुष्य ! तू वासनाओं का त्याग कर। तेरे कल्याण के लिए मैंने भ्रांतियों का जंगल काट दिया है। तपस्या के नाम पर जीते जी अपने को मत पीड़ित करो या उपवास करके आत्महत्या मत करो। यदि शरीर को पीड़ित करने एवं आत्महत्या करने से मोक्ष होना माने, तो शरीरांत में सब नष्ट हो जाते हैं, फिर तो सबका मोक्ष होना सुकर हो जाना चाहिए॥ 37 ॥

व्याख्या—मनुष्य दुखों से पीड़ित है। वह उससे छूटना चाहता है। दुखों से छूट जाना ही मोक्ष है। परन्तु मोक्ष के विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी भ्रांतियां हैं। नाना धार्मिक ग्रंथों में मोक्ष के बड़े तर्कहीन नुस्खे दिये गये हैं। अमुक मंत्र या नाम जपने मात्र से मोक्ष, अमुक नदी में नहाने से मोक्ष, अमुक नगर में बसने से मोक्ष, घोर तपस्या द्वारा शरीर को सुखाने से मोक्ष, किसी तथाकथित तीर्थ में आत्महत्या करने से मोक्ष, अन्न-जल छोड़कर निरन्तर उपवास करते-करते शरीर त्याग देने से मोक्ष, किसी मजहब, किताब एवं कल्पित ईश्वर में विश्वास करने से मोक्ष, यहां तक कि वैयाकरणों ने शब्द रटने से मोक्ष मान लिया, संगीत वालों ने स्वर-साधना ही से, कामियों ने संभोग से ही मोक्ष मान लिया है और अवतारवादियों ने तथाकथित अवतारों द्वारा जिनकी हत्या कर दी गयी उनका भी मोक्ष मान लिया है।

सद्गुरु ने यहां चेतन मनुष्य को चन्दन शब्द से सम्बोधित करके कहा है कि हे मानव ! तू वासना का त्याग कर। वासना का त्याग ही मोक्ष है। सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तेरे कल्याण के लिए भ्रांतियों का जंगल काट डाला है। मोक्ष के सस्ते तथा तर्कहीन नुस्खों का परदाफ़ाश कर दिया है। अब तेरा काम है कि तू स्वयं सत्यासत्य को समझ और अपना कल्याण कर !

मोक्ष न तो किसी बाहरी क्रिया का फल है और न किसी में मिलना या कहीं अन्यत्र पहुंचना मोक्ष है। मोक्ष है सारी वासनाओं का त्याग। वासनाएं ही जीव के लिए बन्धन हैं। उनके सर्वथा नष्ट हो जाने पर बन्धन समाप्त हो जाते हैं। बस यही मोक्ष है।

काम-भोग, राग-रंग, विषय-विलास की वासना तथा क्रिया का त्याग तो करना ही चाहिए, जीवन-निर्वाह के लिए जो आवश्यक हैं जैसे भोजन, वस्त्रादि इनकी भी वासना नहीं होना चाहिए। हमें जीवन-निर्वाह के लिए

खाना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं, शरीर ढकने के लिए पहनना चाहिए, प्रदर्शन के लिए नहीं। जब मन चारों तरफ से अनासक्त एवं वासना-विहीन हो जाता है, तब हमारे लिए सर्वत्र मानो अमृत-ही-अमृत उपलब्ध हो जाता है; क्योंकि तब हमारा हृदय परम शांत हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष के लिए "जियत जीव जनि मारहू" जीते जी अपने आप को पीड़ा मत दो। अन्न-वस्त्र त्यागने से मोक्ष नहीं मिलता। शरीर को पीड़ा देकर मोक्ष की कल्पना गंवारूपन है। यदि शरीर को संताप देकर तथा इसकी हत्या करके मोक्ष होता तो मरने पर सबका मोक्ष मानना चाहिए। परन्तु यह बात सच नहीं है।

जीवन-निर्वाह में मध्यवर्ती व्यवहार होना चाहिए। विषय-विलास गलत है, परन्तु शरीर को संताप देना भी गलत है। ठूंसकर खाना गलत है, परन्तु अधिक उपवास भी गलत है। फैशनेबुल होना गलत है, परन्तु दिखाने के लिए फटा, मैला एवं टाट लपेटना भी गलत है। बहु-व्यवहार गलत है, परन्तु एकदम निष्क्रिय रहना भी गलत है। निरन्तर भीड़ में रहना गलत है, परन्तु साधु-संगत छोड़कर सब समय अलग-थलग रहना भी गलत है।

मोक्ष के लिए तपस्या का स्थान गौण है, साधना की प्रधानता है। तपस्या दिखाऊ, उत्तेजक और प्रचारक होती है, किन्तु साधना गम्भीर और अन्तर्मुख होती है। गीता में महाराज श्रीकृष्ण के मुख से भी यही कहलवाया गया—"आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, सोना तथा जागना मध्यवर्ती रखने से ही योग दुख का नाशक होता है।"[1] गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा—"देह सुखाने तथा केवल ध्यान करने से वासना नहीं मिटती, उसके लिए ज्ञान पर विचार करना आवश्यक है।"[2] उन्होंने और भी कहा है—

माधो मोह पास किमि टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय, अभिअन्तर ग्रन्थि न टूटै॥
घृत पूरण कटाह अन्तर्गत, ससि प्रतिबिम्ब लखावै।
इंधन अनल लगाय कल्प शत, औटत नास न पावै॥
तरु कटोर महँ रह बिहंग, तरु काटै मरै न जैसे।
साधन करिय विचारहीन मन, सुद्ध होय नहिं तैसे॥
अन्तर मलिन विषयवस मन, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन, बल्मीक विविध विधि मारे॥

---

1. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता 6/17॥
2. देह सुखाय पिंजर करे, धरे रैन दिन ध्यान।
तुलसी मिटै न वासना, बिना विचारे ज्ञान॥

तुलसी दास हरि गुरु करुना बिन, विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई॥

गोस्वामी जी के उक्त वचनों से उनके व्यर्थ महिमापरक वचन अपने आप कट जाते हैं, जैसे—"चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा।" रामेश्वर के लिए—"जो गंगा जल आनि चढ़ावहिं। सो सायुज्य मुक्ति पद पावहिं।" आदि। मोक्ष न छूमन्तर की चीज है और न शरीर को संताप देने से मिलता है। वासना का त्याग ही मोक्ष है। अपनी आत्मा से अलग जो कुछ है सबकी वासना का त्याग मोक्ष है।

चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय॥
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहाँ समाय॥ 38॥

शब्दार्थ—चंदन=चेतन-मनुष्य। सर्प=अहंकार। विष=विषयासक्ति। अमृत=स्वरूपविचार, आत्मविचार, वासनाहीन दशा, शांति।

भावार्थ—जीव को अहंकार सर्प ने लपेट रखा है, अतः जीव बेचारा क्या करे! उसके रोम-रोम में तो विषयासक्ति भीनी हुई है, फिर उसमें स्वरूप-विचार एवं शांतिरूपी अमृत कहां समाये?[1] ॥ 38॥

व्याख्या—जीव का मौलिक स्वरूप निर्विकार है। परन्तु वह सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं देहादि के अहंकार में पड़कर विषयासक्तिरूपी विष से लिप्त हो गया है। सर्प लपेटिया, विष भीनिया तथा अमृत कहां समाय—ये तीनों वाक्य-खण्ड बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। जीव को अहंकार-सर्प ने लपेट रखा है। अहंकार-सर्प कोई स्वतंत्र प्राणी नहीं है जो दौड़कर जीव को लिपट जाये। तात्पर्य यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूलकर देह-गेहादि विजाति भौतिक वस्तुओं में अहंता-ममता कर लिया है। यह अहंता-ममता ही उसके लिए सर्प बन गयी। हमने स्वयं अपने आप की भूल से अहंकार-सर्प को जन्म दिया है जो हमारे लिए दुख का कारण बना है।

"रोम रोम विष भीनिया" में विषयासक्ति की प्रबलता के लिए व्यंजना है। 'भीनिया' शब्द जानबूझकर प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ होता है ओतप्रोत होना। मनुष्य का मन विषयों से ओतप्रोत है। उसमें विषयों के अध्यास अत्यन्त प्रबलता से जम गये हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि फिर उसमें अमृत कहां समायेगा! स्वरूपविचार, आत्मविचार, पारखविचार एवं आत्मचिन्तन विषयी मन में कैसे हो!

---

1. इस साखी को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं—शीतल चंदन में सर्प के लिपटे रहने पर भी, सर्प के रोम-रोम में विष रहने से, उसमें चन्दन की शीतलता इस प्रकार प्रविष्ट नहीं होती जिससे उसका विष दूर हो जाये, इसी प्रकार दुष्टजन सत्संग में रहकर भी दुर्गुणरूपी विष से दूर नहीं हो पाते।

उक्त बातें पढ़-सुनकर मनुष्य को घबराने की आवश्यकता नहीं है। जो सर्वसामान्य की बातें हैं वे यहां बतायी गयी हैं। विषयासक्ति प्रबल होते हुए भी अन्धकार मात्र है, जो ज्ञानप्रकाश के उदय होते ही टिक नहीं सकती। घोर अन्धकार में आदमी को कुछ नहीं सूझता। वह लाठी, तलवार, बंदूक के प्रयोग से समाप्त भी नहीं होता। किन्तु घोर-से-घोर अन्धकार प्रकाश जलाते ही गायब हो जाता है। तब प्रतीत होता है कि मानो अन्धकार कभी था ही नहीं। इसी प्रकार देहाभिमान एवं विषयासक्ति अत्यन्त प्रबल दिखते हुए भी स्वरूपज्ञान उदय होते ही गायब हो जाते हैं। फिर पता नहीं चलता ये कभी थे भी। विवेकज्ञान एवं पारख की दिव्य दृष्टि का तेज अत्यन्त जाज्वल्यमान है। उसमें मन के किसी प्रकार का अन्धकार टिक नहीं सकता।

सिद्धांततः जीव अमृत है। अमृत का अर्थ ही अ-मर, अ-मृत है। व्यवहारतः वासना का त्याग अमृत है। वासना ही विष है। उसका त्याग अमृत है। व्यवहार के बिना सिद्धांत काम नहीं करता। जीव स्वरूपतः अमृत होते हुए भी दुखी है; क्योंकि वह व्यवहारतः अमृतत्व से दूर है। वह निर्वासनिक नहीं है।

वासना विष है, फोड़ा है, पीड़ा है, दर्द है। जिसने वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह अमृत हो गया है, वह नीरोग है, सुखी है और महा शांत है।

ज्यों मोदाद समसान शिल, सबै रूप समसान॥
कहहिं कबीर वह सावज कीगति, तबकी देखि भुकान॥ 39॥

शब्दार्थ—मोदाद=स्फटिक पत्थर। समसान शिल=प्राप्त रंग के समान हो जाने वाला पत्थर। सावज=साउज, पशु, साउज उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाये; यहां का अभिप्राय है कुत्ता।

भावार्थ—जैसे स्वच्छ कांच के समान स्फटिक पत्थर होता है जिसे प्राप्त रंग के अनुसार प्रतीत होने के नाते समसान शिला भी कहते हैं, वह सभी रूपों एवं रंगों को ग्रहण करता है, वैसे मनुष्य का मन है। यह प्राप्त वृत्तियों के रंग में रंगकर उस-उस के अनुसार बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे कुत्ता शीशमहल में अपने प्रतिबिंब देखकर और उन्हें अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उन्हें परास्त करने के लिए भूंक-भूंककर मरता है, वैसे मनुष्य भ्रमवश अपनी ही भावनाओं को सबमें प्रतिबिंबित करके राग-द्वेष में भूंक-भूंककर मरता है॥ 39॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में मनुष्य के मन को स्फटिक पत्थर तथा कुत्ते के सुन्दर उदाहरण देकर जिस प्रकार से समझाया है, वह अत्यन्त तलस्पर्शी है। स्फटिक पत्थर स्वच्छ कांच के समान होता है। उसके सामने जितने रंग या रूप आते हैं, वह उन्हें ग्रहण करता रहता है। यदि उसके सामने

लाल रंग आया तो उसमें लाल रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। पीला रंग आया तो पीला रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। मन की यही दशा है। उसके सामने काम आया तो वह काममय लगता है, क्रोध आया तो क्रोधमय। यदि मन के सामने दुख की वृत्ति आयी तो मन दुखमय बन जाता है और यदि उसके सामने सुख आया तो वह सुखमय बन जाता है। मन में वासनाएं आयीं तो वह वासनामय एवं बन्धनरूप बन जाता है और यदि मन में वासनाहीन भावना आयी तो वह मुक्त तथा शांतिमय हो जाता है। यह सब कहने का अर्थ यह है कि मन अपने आप में न सुखरूप है न दुखरूप, न बन्धनरूप है न मुक्तरूप, न पापरूप है न पुण्यरूप। वस्तुतः जैसी-जैसी वृत्तियां उसके सामने आती हैं वह वैसे-वैसे बनता रहता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह मन को न कोसकर अपनी वृत्तियों को सुधारे। वृत्तियों के सुधर जाने पर मन अपने आप सुधर जाता है।

स्फटिक पत्थर स्वच्छ है, उसमें पड़े हुए प्रतिबिंब तो अन्य वस्तुओं के हैं, अतएव प्रतिबिंब कोई सत्यवस्तु नहीं है, जो व्यक्ति ऐसा समझता है वह प्रतिबिंबों से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार जो विवेकवान यह समझता है कि सुख-दुख विकारादि सारी वृत्तियां मन में पड़े हुए प्रतिबिंब के समान हैं, न मन मेरा स्वरूप है और न मन में पड़े हुए विकारों के प्रतिबिंब ही मेरे स्वरूप हैं; मैं तो इन सबसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, वह सुख-दुख द्वन्द्वों से रहित निर्विकार होता है। विवेकवान साधक मन और मन के द्वन्द्वों का द्रष्टा बन जाता है। अपने आप को मन तथा उसके विकारों से अलग कर लेना ही तो मोक्ष है, कल्याण है और परमपद की प्राप्ति है।

दूसरा उदाहरण कुत्ते का है। कुत्ता ऐसे मकान में घुस गया जहां सब तरफ दीवारों पर दर्पण लगे थे। उसने उसमें अपने प्रतिबिम्ब देखे। उसने समझा कि ये मेरे विरोधी कुत्ते हैं। वह भूंकने लगा और भूंकते-भूंकते मर गया। संसारी लोगों की यही दशा है। वे अपने मन में अपनी वृत्तियों की ही परिछाईं देखते हैं। जैसे उनके मन के ख्याल होते हैं उन्हें संसार के लोग वैसे लगते हैं।

जब हम किसी से द्वेष कर लेते हैं चाहे वह कितना ही अच्छा हो, तब वह हमें बुरा लगता है; और जब हम किसी से मोह कर लेते हैं चाहे वह भले ही बहुत बुरे आचरण का हो, वह हमें अच्छा लगता है। हमारे ख्याल बुरे हैं तो संसार बुरा लगता है, यदि अच्छे हैं तो अच्छा लगता है। जैसे कुत्ता शीशे में प्रतिबिम्ब देखकर तथा भूंक-भूंककर मरता है वैसे हम अपने मन के राग-द्वेष के वश होकर उन्हीं भावनाओं के चश्मे से संसार को देख-देखकर तथा उलझ-उलझकर मरते हैं।

स्फटिक पत्थर तथा कुत्ता—दोनों के उदाहरणों में सार यही है कि हमें मन की वृत्तियों को ही सुधारना है।

हठ और दृढ़ संकल्प-शक्ति का भेद

गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय॥
ऐसो तप्त अंगार है, ताहि चकोर चबाय॥ 40॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगलै तप्त अंगार॥
कहैं कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार॥ 41॥

शब्दार्थ—टेक=संकल्प, हठ, पक्ष, आश्रय। लगार=लगाव, प्रेम।

भावार्थ—चकोर पक्षी चन्द्रमा का प्रेमी होता है वह उसके प्रेमपक्ष को कभी नहीं छोड़ता। वह तप्त अंगार को भी चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है चाहे उसकी जीभ एवं चोंच भले जल जायें। लगाव ऐसी वस्तु है कि वह जलता भी नहीं॥ 40-41॥

व्याख्या—यह प्रसिद्धि है कि चकोर पक्षी रात में चन्द्रमा के उगते ही उसकी ओर टकटकी लगाकर देखता है; क्योंकि चकोर चन्द्रमा का अत्यन्त प्रेमी होता है। उसके सामने यदि प्रज्वलित अंगार डाल दिया जाये तो उसे भी वह चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है। वह जलने की बात को लेकर डरता नहीं।

चन्द्र-चकोर का उदाहरण एकनिष्ठ समर्पित भाव के लिए है। यदि यह गलत की ओर है तो बन्धनप्रद है और यदि सत्य की ओर है तो कल्याणप्रद है। सद्गुरु ने चौबीसवीं रमैनी के शुरू ही में कहा है "चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई।" अर्थात गुरुओं ने उपासकों को ऐसा उपदेश किया है कि जैसे चकोर चन्द्रमा में हठपूर्वक प्रेम करता है वैसे तुम हठपूर्वक ईश्वर में प्रेम करो। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एक कल्पित अवधारणा है और उसमें हठ एवं पक्षपूर्वक प्रेम करने का मतलब है स्वतंत्र विवेकसंपन्न मानवीयबुद्धि का परित्याग कर देना। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि गुरुओं ने लोगों को चन्द्र-चकोर की बात बताकर तथा मानवीयबुद्धि को पलटकर उसे पशुबुद्धि का बना दिया। हाथ से बनायी हुई मूर्ति को तथा मन से बनायी अवधारणा को जो ईश्वर-परमात्मा मानकर उसी में पक्ष एवं हठ करके पड़ा रहेगा, उसे आत्मज्ञान एवं स्वरूपज्ञान कब होगा ! अतएव मनुष्य को हठी एवं पक्षपाती न होकर विनम्र तथा उदार होना चाहिए और हर बात जांच-परखकर मानना चाहिए। यदि परख करने पर पूर्व की मानी हुई बात गलत ठहरती हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। गलत एवं असत्य का पक्ष

पकड़ने से किसी का कल्याण तो हो नहीं सकता, उलटे अकल्याण एवं बन्धन हैं।

परन्तु, यदि कोई सत्यज्ञान, सत्य रहनी एवं सत्य आचरण में अविचल भाव से दृढ़ है तो उसके इस टेक का अर्थ पक्ष तथा हठ न होकर आश्रय, आधार एवं अवलंब होगा। कहा जाता है—"ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर।" अर्थात वही चीज गालों में लग जाये तो कालिख कहलाती है और आंखों में लग जाये तो काजल कहलाती है। मन की दृढ़ता असत्य में हो जाये तो वह पक्ष एवं हठ के नाम से जानी जायेगी, परन्तु वही दृढ़ता सत्य में हो जाये तो सत्य संकल्प के नाम से जानी जायेगी।

कोई व्यक्ति जब किसी डाकू, हत्यारे एवं आततायी को मारकर किसी सज्जन की रक्षा करता है तब उसे साहसी तथा शूर-वीर कहकर उसका सम्मान किया जाता है; और जब कोई व्यक्ति स्वयं डाकू एवं हत्यारा बनकर किसी की हत्या करता है तब उसे क्रूर एवं आततायी कहा जाता है। दोनों घटनाओं में उन दोनों व्यक्तियों द्वारा हत्या की एक-जैसी ही क्रिया हुई है, परन्तु दोनों के मानसिक स्तर में महान अन्तर रहा है। इसी प्रकार हठ तथा दृढ़ संकल्प—दोनों में एक-जैसी मजबूत पकड़ की क्रिया है, परन्तु दोनों के भावों एवं परिणामों में महान अन्तर है। असत्य के प्रति मजबूत पकड़ हठ है तथा सत्य के प्रति मजबूत पकड़ दृढ़ संकल्प है।

इस मंथन से यह सिद्ध हुआ कि हम मेहनत एक-जैसी ही करते हैं, परन्तु सही दिशा में चलने से अपने गंतव्य तक पहुंचते हैं और गलत दिशा में चलने से अपने गंतव्य से बहुत दूर हो जाते हैं। अतएव मन तथा शरीर की क्रिया का अपना महत्त्व होते हुए भी विवेक का सर्वोपरि महत्त्व है। मनुष्य को भावनाओं के जोश में बहना नहीं चाहिए, किंतु विनम्रता एवं निष्पक्षता पूर्वक सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

संसार में अधिकतम लोग ऐसे हैं जो भावनाओं में बहते हैं। वे जो हठ पकड़ लेते हैं, छोड़ते नहीं।

एक बदमाश था। वह राज्य-कर्मचारियों द्वारा पकड़ा गया। राजा ने दण्डस्वरूप उसकी नाक कटवा ली और उसे छोड़ दिया। वह अपना देश छोड़कर दूर चला गया। उसने साधु का वेष बना लिया और लोगों से कहने लगा कि यह नाक ईश्वर-दर्शन में रुकावट करती थी, इसलिए मैंने इसको काटकर फेंक दिया है। अब हर समय ईश्वर के खुले दर्शन होते हैं। ऐसी बातें कहकर वह लोगों के सामने ताली बजाकर नाचता था कि हम धन्य हैं। हमें हर समय ईश्वर के दर्शन हो रहे हैं।

आप जानते हैं कि संसार में ईश्वर-दर्शन के प्रेमी बहुत हैं। लोग उसके

पास आने लगे और उससे निवेदन करने लगे कि हे गुरुदेव ! हमारी भी नाक काटकर आप हमें विधिवत दीक्षा दें जिससे हम भी ईश्वर के दर्शन कर सकें। वह लोगों की नाक काटकर उन्हें अपना चेला बनाने लगा। नाक काटने के बाद वह उनके कानों में मन्त्र देने के नाम पर यही बताता था कि देखो, अब तो तुम्हारी नाक कट ही गयी है। अब समाज को यही बताओ कि हमारी नाक कट जाने से हमें ईश्वर के साक्षात दिव्य दर्शन होते हैं। चेले उस धूर्त गुरु के पक्षपाती होते गये और उसकी बातें दोहराते गये। लोग नाक कट जाने पर नाचने लगते थे और कहने लगते थे कि हम धन्य हैं। हमें गुरुकृपा से ईश्वर-दर्शन हो रहे हैं। इस ईश्वर-दर्शन के मोह में सैकड़ों ने अपनी नाक कटवायी और कटवा लेने के बाद उस धूर्त-गुरु के पक्षपात में पड़कर उसी का राग अलापने लगे।

एक राजा ने ईश्वर-दर्शन की इच्छा अपने मन्त्री से बतायी और अपनी नाक कटवाने की बात कही। मन्त्री समझदार था। उसने कहा—हुजूर, पहले किसी विश्वासपात्र नौकर की नाक कटवाकर देख लिया जाये कि उसे ईश्वर-दर्शन होते हैं या यह सब जालसाजी है। यदि यह ईश्वर-दर्शन सच है तो नाक कटवाना कोई बड़ी बात नहीं है। मैं भी अपनी नाक कटवा सकता हूं। एक नौकर को उस धूर्त गुरु के पास भेजकर उसकी नाक कटवायी गयी। ईश्वर-दर्शन तो वैसे ही फर्जी है, नाक कटाकर करने की बात तो और ही बेवकूफी है। नौकर ने राजा तथा मंत्री को वास्तविकता बतायी कि ईश्वर-दर्शन नहीं हो रहे हैं। यह धूर्त है। वह पकड़ लिया गया और कारागार में डाल दिया गया।

यह कहानी चाहे काल्पनिक हो; परन्तु इसका सार सत्य है। संसार में अनेक धूर्तगुरु लोगों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर अपने जाल में फंसाते हैं और लोग जब फंस जाते हैं तब वे चन्द्र-चकोर के उदाहरण के अनुसार उसके पक्षपाती हो जाते हैं। इससे उनका पतन होता है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह निर्मान तथा निष्पक्ष विवेकी हो। वह सदैव असत्य के त्याग एवं सत्य के ग्रहण के लिए तत्पर रहे। असत्य का पक्ष मनुष्य के लिए अहितकर है, सत्य ही मनुष्य का अपना हितकर है। हां, वह सत्य में अविचल भाव से दृढ़ हो।

दृश्य-ज्योति का द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है

झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु॥
गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु॥ 42॥

शब्दार्थ—झिलमिल=हिलता हुआ ज्योति-प्रकाश। अटके=फंसे, बंधन में पड़े। कालपुर=कल्पना का नगर। साहु=साधु, विवेकी।

भावार्थ—प्राणायाम करते हुए त्राटकादि मुद्रा द्वारा झिलमिल ज्योति देखने के झगड़े में पड़कर सभी योगी इस भ्रम-झूले में झूलते हैं। इनमें से इससे कोई नहीं बचा। गोरखनाथ-जैसे महापुरुष भी इस कल्पना के नगर में फंस गये, फिर दूसरा कौन विवेकी कहलायेगा ! ॥ 42 ॥

व्याख्या—कुछ साधक अपने हृदय में एक बिन्दुरूप ज्योति की कल्पना करते हैं और उसमें अपने मन को रोकते अर्थात उस ज्योति-बिन्दु का ध्यान करते हैं। फिर यह कल्पना करते हैं कि वह ज्योति फैलती जा रही है। वह पूरे हृदय में फैल गयी है, पूरे शरीर में फैल गयी है, फिर वह मीलों की गोलाई में फैल गयी है, अंततः अनंत विश्व-ब्रह्मांड में फैल गयी है।

कुछ साधक उस बिन्दु को उतने ही रूप में नित्य देखते हुए ध्यान करते हैं; उसके फैलने की कल्पना नहीं करते। कुछ साधक उस बिन्दु को नाभि में, तो कोई त्रिकुटी में, कोई ब्रह्मरंध्र में देखते हुए उसका ध्यान करते हैं।

कुछ साधक शरीर के बाहर उस ज्योति को देखते हैं। इसके लिए त्राटक मुद्रा करना पड़ता है। दोनों भौंहों के बीच में खुले नेत्रों से एकटक देखने से या सामने किसी दीवार में एक गोल बिन्दु बनाकर उसे अनिमेष देखने से आंखों में गरमी आ जाने पर ज्योति दिखती है। "जब तक नेत्रों से अश्रुपात न हो तब तक अनिमेष (बिना पलक गिराये) किसी सूक्ष्म पदार्थ की ओर देखते रहने को बुधजन त्राटक-योग कहते हैं।"[1]

कुछ साधक आंखों को भींचने पर जो उसमें गरमी होती है उसे ही देखते हैं और वे आंखें बन्दकर देर तक उसी ज्योति के ध्यान में मग्न रहते हैं। आखें बन्द करने से अन्धकार, प्रकाश तथा प्रकाश के कई रंग दिखते हैं। उन्हीं में वे अपने मन को केन्द्रित करते हैं। कुछ साधक बन्द आंखों पर उंगली लगाकर हलका-सा दबाते हैं इससे उसमें गरमी होने से ज्योति दिखने लगती है। इस प्रकार ज्योति-दर्शन के अनेक तरीके हैं।

इस प्रकार ज्योति को ही आत्मा या परमात्मा मान लेने की बात और उस ज्योति को देखकर यह मान लेना कि परमात्मा के दर्शन हो गये तथा परमात्मा मिल गया एक महा भ्रम है। ज्योति तो आंख की गरमी है। ज्योति जड़-दृश्य है। उसके द्रष्टा तुम चेतन हो। दृश्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता, किन्तु द्रष्टा ही श्रेष्ठ होता है। ज्योति, नाद आदि में मन रोकने का प्रयास एक क्रियायोग है। ये कुछ समय के लिए मन रोकने के आधार हैं। ये व्यक्ति के आत्मस्वरूप नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें अटक जाना कल्पना में फंस जाना है। अपने

---

1. निमेषोन्मेषकौ त्यक्तवा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावद्श्रूणि मुञ्चन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः॥ हठयोग संहिता 4/43॥

स्वरूप से अलग किसी वस्तु एवं अवधारणा को अपना लक्ष्य एवं विश्रामस्थल मान लेना कालपुर में फंस जाना है।

योगी तथा संत के शरीर भी नाशवान हैं

गोरख रसिया योग के, मुये न जारी देह॥
माँस गली माटी मिली, कोरो माँजी देह॥ 43॥

शब्दार्थ—रसिया=रसिक, प्रेमी। कोरो=शरीर की हड्डियां। माँजी=साधना से चमकने लगीं।

भावार्थ—श्री गोरखनाथ जी योगाभ्यास के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने अपने शरीर को योगाभ्यास में इसलिए तपाया कि यह अमर हो जाये। फलतः उनके शरीर का मांस गलकर मिट्टी में मिल गया। अभिप्राय है कि उन्होंने योगाभ्यास से मांस को गला डाला और उनकी देह की हड्डियां मंजे हुए बरतन के समान चमकने लगीं॥ 43॥

व्याख्या—योगाभ्यास से या काया-कल्प से शरीर को अजर-अमर बनाया जा सकता है—यह भ्रम बहुत पुराना है। कहा जाता है योगिराज गोरखनाथ जी ने अपने शरीर को योगबल से अमर कर लिया था। आज भी बहुत लोगों को भ्रम है कि गोरखनाथ जी आज भी अपने शरीर से विद्यमान हैं और हिमालय की कंदराओं में निवास करते हैं। परन्तु ये सारी बातें फर्जी हैं। कबीर साहेब ने ऐसी भ्रांतियों को काटने के लिए ही कहा है—"नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास। कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे काल के फाँस॥"[1] अर्थात मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वेदव्यास आदि किसी का शरीर नहीं बचा। सभी देहधारी काल के गाल में जाते हैं। यहां तक "गये राम औ गये लछमना।"[2] सृष्टि का नियम है जो शरीर धारण करता है, वह मरता है। चेतन अजर-अमर है, परन्तु शरीर तो किसी का भी अमर नहीं है। अनेक कणों के संयोग से जो शरीर एक दिन बना है, वह बिखरकर नष्ट होगा ही। "जो ऊगे सो आथवै, फूले सो कुम्हिलाय। जो चूने सो ढहि परे, जन्मे सो मरि जाय॥"[3] इस परम सत्य को कोई झुठला नहीं सकता।

योगाभ्यास से आयु बहुत लम्बी हो जाती है, यह भी एक भ्रम है। अच्छे-अच्छे योगी भी अल्पायु होते हैं और विषयी-पामर भी दीर्घायु होते हैं। किसका शरीर कितने दिनों तक रहता है इसका महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व है

---

1. रमैनी साखी 54।
2. रमैनी 55।
3. कबीर अमृतवाणी।

कि कौन आदमी अपनी सीमित जिन्दगी में कितना आत्मकल्याण तथा लोककल्याण करता है।

कितने योगी एवं साधु-संन्यासी हैं जो अपनी उम्र बहुत लम्बी बताते हैं। कहावत है—"योगी अपनी उम्र लम्बी बताता है और वेश्या अपनी उम्र कम!" एक गुरु बताते हैं कि मेरे गुरु आठ सौ वर्ष की उम्र के हैं। वे हिमालय में रहते हैं। वायव्यरूप में कहीं भी पहुंचकर पुनः वे स्थूल शरीर वाले हो जाते हैं। एक तपस्वी महात्मा जो बहुत दिनों से जगह-जगह नदियों के किनारे मचान पर नंगे रहा करते हैं, उनके पीछे अनेक चमत्कार जोड़े जाते हैं। उन्हें सैकड़ों वर्षों का बताया जाता है। जबकि वे अभी सौ वर्ष की उम्र से भी कुछ कम ही होंगे।[1]

कहा जाता है कि बिना दो नम्बर का व्यापार किये धन नहीं बढ़ता है, इसी प्रकार बिना दो नम्बर का प्रचार किये धर्म नहीं बढ़ता। झुठाई और जालसाजी के आधार पर चमत्कारी बात करने वालों का धर्म है धन और जन का अधिक संग्रह। उनके धर्म की परिभाषा सत्य नहीं है, किन्तु धन-जन का विस्तार है। एक ने कहा कि मेरे गुरुजी की उम्र इस समय तीन सौ वर्ष है। अगले आदमी ने पूछा कि आप इस बात को कैसे जानते हैं? उसने कहा कि दो सौ वर्ष से तो मैं ही उनकी सेवा कर रहा हूं। एक विवेकी सन्त से एक साधु मिलने आये। उस समय उस साधु की उम्र साठ वर्ष की रही होगी। उन्होंने सन्त जी से कहा—'साहेब, आपको मैं साठ वर्ष का लगता हूंगा, परंतु इस समय मेरी उम्र नब्बे वर्ष की है।' उन संत की उम्र उस समय असी की रही होगी। उन्होंने उनसे व्यंग्य में कहा—'हां, ऐसा होता है। आपही को मैं असी वर्ष का लगता हूंगा, परन्तु मैं दो सौ वर्ष का हूं।'

वे वेषधारी-साधु लज्जित हो गये और समझ गये कि सन्त जी ने मुझे उत्तर दिया है। झूठ बोलना वैसे ही पाप है, फिर अपनी उम्र ज्यादा बताने से क्या फायदा है! आज भी उत्तरी भारत के योगी टाइप के कुछ साधु अपने आप को एक सौ बीस वर्ष तथा एक सौ चालीस वर्ष का बताते रहते हैं जो उनके मन का केवल व्यामोह है।

श्री पूरण साहेब, श्री निर्मल साहेब, आदि शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा ईसा, ज्ञानदेव आदि संसार की ये बड़ी-बड़ी विभूतियां अपनी-अपनी थोड़ी आयु में जो काम करके जगत का कल्याण किये वह अत्यंत प्रशंसनीय है। महापुरुष यदि धरती पर ज्यादा दिन रहें, तो संसार का ज्यादा कल्याण है, यह बात सच है। परन्तु किसी को अपनी या दूसरे की उम्र बढ़ाकर बताने से किसी का कल्याण नहीं।

---

1. सन् 1987 ई. में।

वस्तुतः मध्ययुग के धर्मग्रंथों, पुराणों, महाकाव्यों में जो अनेक व्यक्तियों के नामों के साथ उनकी उम्र के विषय में बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है उसका प्रभाव पीछे की पीढ़ी पर कुछ-न-कुछ आना ही था। "राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य करते हैं,[1] राजा दशरथ की जब साठ हजार वर्ष की उम्र होती है तब वे श्री राम को युवराज बनाने की बातें सोचते हैं,[2] श्री राम ग्यारह हजार वर्ष राज्य करते हैं,[3] शिव जी सतासी हजार वर्ष तक समाधि ही में बैठे रहते हैं,[4] पार्वती जी चार हजार वर्ष से अधिक तपस्या करती हैं,[5] कांकभुशुंड जी एक ही आश्रम पर सत्ताइस कल्प (एक खरब, सोलह अरब, चौसठ करोड़ वर्ष) तक निवास करते हैं।[6] कहां तक गिनाया जाये, यह सूची बहुत लम्बी बनायी जा सकती है। वेदों के ऋषि ही बेचारे चतुर नहीं थे। उन्होंने केवल सौ वर्ष जीने की कल्पना की है।[7] छांदोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि इतरा के पुत्र महीदास ने एक सौ सोलह वर्ष की लम्बी आयु पायी थी।[8] यह तथ्यपूर्ण है। वेद, शास्त्र और उपनिषदों के ऋषि ईमानदार थे। ये पुराणों के लेखक बड़े चालाक हो गये थे। इन्हें कुछ भी लिखने और कहने में संकोच नहीं था। वस्तुतः प्राचीन ऋषियों ने सौ वर्ष की पूरी आयु मानकर ही पचीस-पचीस वर्ष के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

अधिकतम मनुष्य तो सौ वर्ष के भीतर ही मर जाते हैं। कोई-कोई सौ के ऊपर जाता है। इस समय कबीरपंथ के महान संत षटशास्त्री श्री हनुमान साहेब जी[9] काशीवास कर रहे हैं जो एक सौ सात-आठ वर्षों के हैं। सद्गुरु

---

1. श्री मद्भागवत, स्कंध 5, अध्याय 1, श्लोक 29। आगे 31वें श्लोक में कहा गया है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिये की लीकों से सात समुद्र बने जिससे पृथ्वी सात द्वीपों वाली हो गयी।
2. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 2, श्लोक 8। मूल श्लोक में है कई हजार वर्ष, टीका में साठ हजार वर्ष—गीता प्रेस।
3. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 128, श्लोक 106, गीता प्रेस।
4. बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनाशी।
   (मानस, बालकांड, दोहा 59 के आगे)
5. संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरस गवांए॥
   कुछ दिन भोजन बारि बतासा। फिर कठिन कुछ दिन उपवासा॥
   बेल पाती महि परई सुखाई। तीन सहस संबत सोइ खाई॥
   (मानस, बालकांड, दोहा 73 के आगे)
6. इहां बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात औ बीसा॥
   (मानस, उत्तरकांड, दोहा 113 के बाद)
7. जीवेम शरदः शतम्। (यजुर्वेद 36/24)
8. छांदोग्य उपनिषद्, प्रपाठक 3, खंड 16, मन्त्र 7।
9. श्रद्धेय श्री हनुमान साहेब षटशास्त्री का 18-4-88 ई. को काशी में शरीरांत हो गया।

कबीर साहेब की कुल आयु लगभग एक सौ बीस वर्ष की थी। इससे थोड़ी अधिक कहीं किसी की हो सकती है। किन्तु कोई भी व्यक्ति सैकड़ों वर्ष नहीं जीता।

साधु के बंधन

बन ते भागि बेहड़े परा, करहा अपनी बान॥
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान॥ 44॥

शब्दार्थ—बेहड़े=बीहड़, ऊबड़-खाबड़, भयंकर स्थान। करहा=खरहा, शशा, खरगोश। बान=स्वभाव। बेदन=वेदना, कष्ट।

भावार्थ—खरगोश अन्य हिंसक जंतुओं के डर से अपने दौड़ने के स्वभाववश भागकर एक उलझे हुए भयंकर स्थान में जा गिरा। अब वह अपनी पीड़ा किससे कहे! उसके दर्द को अन्य कौन समझेगा! अभिप्राय है कि मनुष्य गृहस्थी के बंधनों से भागकर साधु का वेष धारण किया और किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया, परंतु अपने फंसने के स्वभाववश वहां भी प्रपंच बनाकर उसमें बंध गया। अब वह अपने दुख को किससे कहे, उसके कष्ट को कौन दूर करे!॥ 44॥

व्याख्या—खरगोश का तेज दौड़ने का स्वभाव होता है। वह अपने इस स्वभाव से हिंसक जंतुओं के हमले से भागकर बचता है, परन्तु यदि कहीं तेज दौड़कर उलझी हुई जगह में गिर पड़ता है, तो फंसकर दुख ही भोगता है।

मनुष्य ने इन्द्रिय-भोगों के लोभवश तथा सम्मान के मोहवश अपने आप को जगह-जगह बंधनों में बांधने का स्वभाव बना लिया है। कुछ सात्त्विक संस्कार के मनुष्य इन बंधनों से बचने के लिए घर-गृहस्थी से भागते हैं और जाकर किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं। यदि उनमें विवेक की क्षमता नहीं है और अनासक्तिपूर्वक पवित्र रहनी में नहीं रह पाते तो वे वहां भी अपने लिए अनेक बंधन बना लेते हैं।

जो लोग साधु-वेष में आते ही हैं धन, अधिकार तथा मान-महंती के लिए, उनका हाल तो पहले से ही खस्ता है। वे साधु माने ही नहीं जा सकते। जो पहले पवित्र भाव से आते हैं, परन्तु पीछे साधु-वेष धारणकर बन्धनों में उलझ जाते हैं उनके लिए इस प्रसंग में चेतावनी है।

इस प्रसंग में गृहस्थों की बात नहीं, किन्तु विरक्त एवं साधुओं की चर्चा है। कौन साधु निर्बंध है तथा कौन बंधमान है, यह कह पाना एक कठिन काम है। जिनमें विवेक की कमी है उनमें एक दूसरे को बंधमान मानते हैं। मठाधीश-साधु भ्रमणशील-साधु को इच्छावश भटकने वाला मानता है और भ्रमणशील-साधु मठाधीश-साधु को बंधनों में बंधा हुआ मानता है। कितने

साधु मठों में कमाते-खाते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं तथा कितने भ्रमणशील-साधु भी घूमते-विचरते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ साधु वेषधारी मठों में रहकर विषयासक्ति तथा लड़ाई-झगड़े में समय गंवाते हैं और कुछ भ्रमणशील मन के गुलाम बने चक्रवात की तरह जहां-तहां भटकते रहते हैं। आश्रम एवं मठों में तथा आश्रम-विहीन भ्रमण—दोनों में विवेकवान सन्त भी होते हैं।

कितने मठों एवं आश्रमों में साधुओं की आध्यात्मिक पढ़ाई-लिखाई होती है। वे साधना करते हैं, जन-सेवा भी करते हैं। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तो हर जगह होते हैं। यदि वे निष्ठापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं तो प्रशंसनीय हैं। साधुओं का आरम्भिक प्रशिक्षण, उनकी विधिवत शिक्षा-दीक्षा तथा धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन, यह सब आश्रम में ही सम्भव है। आश्रमधारियों को केवल आश्रम में ही नहीं बैठ जाना चाहिए। उन्हें समय-समय से जनता में निकलकर पवित्र विचारों का प्रचार करना चाहिए और स्वयं साधना में रहते हुए जीवनलक्ष्य शांति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान रहना चाहिए। आश्रमविहीन साधुओं को विवेकपूर्वक विचरण करते हुए अपने और दूसरे के कल्याण के यत्न करना चाहिए।

अपने में त्याग की ऊंचाई और दूसरे में बंधनों की उपस्थिति देखने का पचड़ा बहुत-से साधुओं के दिमाग में होता है। मामूली ही नहीं, बड़े-बड़े कहलाने वालों में भी यह मानसिक रोग होता है।

एक बार एक सन्त अपने त्याग की बड़ी महिमा गाने लगे। वे पैसे नहीं छूते थे। कपड़े सीमित रखते थे। और भी उनमें कई बाहरी दिखावा के त्याग थे। उनसे कहा गया कि महाराज, त्याग तो बहुत बड़ी चीज है। आपके ही सम्प्रदाय की दूसरी शाखा में दिगंबर साधु होते हैं। वे कपड़ा तक नहीं पहनते। उनका त्याग धन्य है।

उन्होंने छूटते हुए कहा कि वे नरक में जाते हैं। क्योंकि ठण्डी में उनके शिष्य जमीन में गड्ढा खोदकर तथा उसमें इंधन डालकर जलाते हैं। जब गड्ढा गरम हो जाता है तब वे दिगम्बर साधु उसमें रहते हैं।

त्याग-तपस्या में प्रवीण साधु भी इस प्रकार दूसरों को बंधमान और अपने आप को निर्बंध होने की डींग हांकते रहते हैं। सच्चा साधक एवं सन्त दूसरे के बंधनों को देखने और कहने के चक्कर में नहीं रहता। वह तो अपने मन के बन्धनों को देखता है और उनसे अपने आप को बचाता है। आदमी अपने मन के बन्धनों को जान सकता है, परन्तु उसकी उधर दृष्टि नहीं रहती और दूसरे के बन्धनों को वह कैसे जान सकता है, परन्तु उसको जानने की कोशिश में रहता है और मन की कल्पना के अनुसार दूसरे के बन्धनों को

कहता फिरता है।

साधक साधु को चाहिए कि वह दूसरों के बन्धनों का पता लगाने तथा कहने के चक्कर में न पड़े, किन्तु अपने बन्धनों को देखे तथा उन्हें निकाले। राग-द्वेष बन्धन हैं। उनका फल दुखी होना है। जिसके मन में खीज, दुख एवं संताप है, वह राग-द्वेष वाला है और वही बंधमान है। इस कसौटी से सदैव अपने को कसे। साधक को चाहिए कि वह देखे कि मैं दुखी तो नहीं होता हूं। यदि दुखी होता हूं तो दोषी हूं।

लोग घर छोड़कर साधु-वेष में आते हैं और यहां आकर यदि वे राग-द्वेष, झगड़ा-लड़ाई, चिंता, शोक, मोह, विकलता, अशांति, दुख आदि में ही पड़े हैं तो उनका साधु-वेष में आना बेकार है। मनुष्य भोग-मान के आसक्तिवश बन्धन बनाने का स्वभाव वाला हो गया है। साधक को चाहिए कि वह बन्धनों से बचे।

साधक को चाहिए कि वह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति तथा बन्धन एवं निर्बंधता को स्थूल दृष्टि से न देखे। निवृत्ति में प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति में निवृत्ति होती है। सब काम विवेकपूर्वक ही होना चाहिए।

राग-द्वेष तो बन्धन हैं ही, बन्धनों का एक दूसरा भी आयाम है, वह है अबोधवश अपने लक्ष्य को बाहर खोजना। कितने विरक्त साधु देवी-देवताओं के चक्कर में पड़े भटकते हैं और अपने लक्ष्य को किसी बाहरी ईश्वर में खोजते हैं। ऐसे लोग अपने संप्रदाय की मर्यादा के मोह में पड़े रहते हैं और उसे जान जाने पर भी तोड़ नहीं पाते। वे ऐसा करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते हैं। परन्तु आत्मकल्याण के लिए तो भोग और मान—सबका त्याग करना पड़ता है। ठीक ही कहा है—

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरि के, खरी भया नहिं तेल॥

(बीजक, साखी 280)

जेहि त्यागन पहिले किह्यो, कियो न तेहि को ख्याल।
परलोभन के फन्द पड़ि, तलफि रह्यो जिमि बाल॥

(विशालवचनामृत)

घर में रहु तो भक्ति करु, नातरु करु वैराग।
वैरागी बन्धन करै, ताको बड़ो अभाग॥

बहुत दिवस ते हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥
करहा पड़ा गाड़ में, दूरि परा पछिताय॥ 45॥

शब्दार्थ—हींड़िया=खोज किया, भटकता रहा। करहा=खरगोश। गाड़=गड्ढा।

भावार्थ—हठयोगी आदि अनेक साधक शून्य में समाधि लगाकर बहुत दिनों तक ब्रह्म को खोजते रहे, परन्तु वह न मिला। इनकी दशा वैसे हुई जैसे खरगोश अपने निवास स्थान से दूर किसी कंटीले तथा झाड़दार गहरे गड्ढे में पड़ा पश्चाताप कर रहा हो॥ 45॥

व्याख्या—आध्यात्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ा भ्रम है कि परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की अपनी आत्मा से कोई अलग वस्तु है और खोज करने पर मिलती है। कोई कर्मकांड के द्वारा हवन-तर्पण आदि कर उसे खोजता है, कोई शास्त्र-अध्ययन द्वारा खोजता है, कोई तीर्थों में खोजता है, कोई मूर्ति आदि की पूजा द्वारा खोजता है, कोई ध्यान-समाधि द्वारा खोजता है। हठयोगी आदि शून्य में समाधि लगाकर खोजते हैं।

पहली बात तो यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं है जो मिल सके। दूसरी बात है शून्य में समाधि लगाकर ब्रह्म को खोजने की बात। इसे थोड़ा समझ लें तो बात सीधी हो जाये। समाधि लगाकर शून्य में खोजना नहीं है, किन्तु समाधि द्वारा संकल्पों को शून्य कर देना है। संकल्पों के शून्य हो जाने पर व्यक्ति की अपनी चेतना मात्र रह जाती है, वही परम तत्त्व है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक जड़दृश्य-प्रपंच रहता है और जब संकल्प समाप्त हो गये अर्थात संकल्पों का शून्यत्व हो गया, तब दृश्य समाप्त हो गया। फिर तब अपने चेतनस्वरूप का बोध मात्र रह जाता है।

इस प्रकार खोजकर कुछ पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुओं एवं अवधारणाओं को अपनी मान रखा है उन्हें केवल छोड़ना है। बाहरी सब कुछ छूट जाने पर स्वस्वरूप अपने आप रह जाता है।

बाहरी शून्य, ज्योति, नाद आदि में लीन होना एक भास-अध्यास में लीन होना है जो विजाति एवं नाशवान है। अपने सत्य चेतनस्वरूप की स्थिति ही नित्य है, क्योंकि उसका अपने आप से कभी वियोग नहीं।

कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष॥
साँईं के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष॥ 46॥

शब्दार्थ—साँईं=ब्रह्म। परचावते=परिचय करते-कराते। अन्तर=मन में। रेष=हानि, क्षति, रेख, लकीर, अध्यास, वासना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि लोग नाना सम्प्रदायों में भक्त तथा साधुओं के नाना वेष धारण कर लेते हैं और उनके कर्मकांड तथा वाणी-जाल

में उलझ जाते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं मिटती। गुरु और शिष्य परस्पर ब्रह्म का परिचय करते-कराते हुए घोटाले में रह जाते हैं और उनके मन में किसी-न-किसी रूप में संसार की वासना शेष रह जाती है॥ 46॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर के वचन अत्यन्त मार्मिक होते हैं। वे कहते हैं कि लोग भक्त तथा साधु के वेष तो धारण कर लेते हैं और अपने-अपने वेष एवं सम्प्रदाय के अनुसार टंट-घंट करते हैं, धर्मशास्त्र पढ़ते हैं, जप-कीर्तन करते हैं, रोजा-हज्ज-नमाज एवं तीर्थ करते हैं; तपस्या, ध्यान और भी जिनसे जो बन पड़ता है वह सब करते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं जाती। वे जीवनभर भगवान और मुक्ति को बाहर टटोलते रहते हैं।

कितने दिल के सच्चे साधक होते हैं, परन्तु सच्चे पारखी गुरु के अभाव में वे साधना-तपस्या करते हुए भी निर्भ्रांत नहीं हो पाते। उन्हें सृष्टि के विषय में कारण-कार्य-व्यवस्था का भी ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे सदैव चमत्कारों के चक्कर में पड़े रहते हैं। धर्मग्रन्थों में लिखी अतिशयोक्तियों, साधु-महात्माओं एवं तथाकथित अवतारों, पैगम्बरों के नाम से जुड़े हुए चमत्कारों को वे सत्य मानते हैं; क्योंकि न उनमें निर्भयता एवं निष्पक्षतापर्वूक स्वतंत्र चिंतन करने का ख्याल है और न उन्हें सच्चे पारखी गुरु मिले हैं कि उनकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें सत्य दिखा सकें। अतएव न उन्हें जड़-चेतन का भिन्न विवेक है, न जगत के पदार्थों के गुण-स्वभावों का ध्यान है और न वे विश्व के शाश्वत नियमों पर ध्यान देना चाहते हैं। क्योंकि विश्व की वास्तविकता जान लेने पर उनके मन में पले हुए देवी-देवता तथा चमत्कार-पोषित सारे संस्कार छटने लगते हैं। इसलिए वे सत्य ज्ञान से घबराते हैं। ऐतिहासिक अध्ययन करते ही देवी-देवताओं एवं अवतारवाद की बालू-भित्ति भहराने लगती है, स्वरूपज्ञान में आत्म-भिन्न ईश्वर के ख्वाब मिटने लगते हैं। इसलिए ये नाना संप्रदाय के भक्त-साधु सत्संग एवं निर्णय से दूर भागते हैं। प्रकाश में आने से उन्हें यह भय है कि उनका युगों का प्यारा अन्धकार गायब हो जायेगा। अतएव सद्गुरु का यह हृदय को झकझोर देने वाला वचन याद आता है "कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष।"

कितने गुरु और शिष्य ब्रह्म को समझाने और समझने का प्रयास करते हैं, परस्पर अन्वय-व्यतिरेक अर्थात नियम एवं अपवाद, संगति और असंगति पर चर्चा करते हैं और वे अपने आप को ब्रह्मज्ञानी भी मान लेते हैं, परन्तु उनके मन में संसार की लकीर बनी रह जाती है। वे कभी कहते हैं कि ब्रह्म और जगत अलग-अलग हैं और कभी कहते हैं कि दोनों एक ही है। कभी कहते हैं संसार प्रभु की लीला है और कभी कहते हैं कि यह संसार प्रभु से अलग कहां है! कभी कहते हैं कि प्रभु अपने भीतर ही है और कभी वे व्याकुल

होकर प्रभु को बाहर खोजने लगते हैं। कभी कहते हैं विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं का पूर्ण त्याग हुए बिना कल्याण नहीं और कभी कहते हैं कि भोग और त्याग दोनों बराबर हैं। वे कहते हैं कि विषयों में तो आनन्द है नहीं, यदि विषयों के भोग में आनन्द आ रहा है तो ब्रह्मानन्द ही है। इसलिए 'भोगानन्द, विषयानन्द, ब्रह्मानन्द जहां देखो तहां आनन्द ही आनन्द छाया है।' इस प्रकार पारख बिना सब भटक रहे हैं। सद्गुरु का यह वचन अत्यन्त तलस्पर्शी है "साईं के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष।" रेष कहते हैं हानि एवं क्षति को। यदि स्वरूपज्ञान का सच्चा बोध नहीं हुआ, विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग होकर स्वरूपस्थिति नहीं हुई तो यही तो भारी हानि है। रेष को यदि रेख पढ़ें तो अर्थ होता है लकीर, अध्यास एवं वासना। अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर और विषय-वासनाओं का सर्वथा त्याग कर जब तक स्वरूपस्थिति नहीं होती, तब तक किसी-न-किसी प्रकार जगत का अध्यास मन में रहता ही है और तब तक जीव को भटकना ही पड़ेगा।

श्री रामरहस साहेब ने सच कहा है—

आप अपन पौ भेद बिनु, उलटि पलटि अरुझाय।
गुरु बिन मिटै न दुगदुगी, अनबनि यतन नशाय॥

(पंचग्रन्थी, रमैनी 25)

जीवन-जुआ में हार से बचो

बिनु डाँड़े जग डाँड़िया, सोरठ परिया डाँड़॥
बाटनि हारे लोभिया, गुर ते मीठी खाँड़॥ 47॥

शब्दार्थ—बिनु डाँड़े=बिना दंड किये। डाँड़िया=दंडित हुआ। सोरठ=जुआ (सोर=सोलह, ठ=ठौर—सोलह जगह—जुआ खेलने के सोलह कोष्ठक)। डाँड़=व्यर्थ। बाटनि=जुआ में पड़ने वाली चिट्ठी, दावं, बाजी। गुर=गुड़। खांड़=शकर।

भावार्थ—संसार के लोगों को किसी ने दण्डित नहीं किया, किन्तु ये अपने अज्ञानवश स्वयं ही दण्डित हुए। इनका मानव-जीवनरूपी जुआ व्यर्थ गया। ये सुख के लोभी अपने कल्याण की इच्छा का दावं हार गये। गुड़ से शकर मीठा होता है, परन्तु ये गुड़ को शकर न बना सके अर्थात जीवन को तपाकर आध्यात्मिक लाभ न ले सके॥ 47॥

व्याख्या—मानव जीवन एक जुआ है। मनुष्य इसमें अपने कल्याण की इच्छा का दावं लगाता है, अपनी समझ के अनुसार श्रम भी करता है; परन्तु समझ ठीक न होने से वह जीवन-जुआ में कल्याण की बाजी हार जाता है।

वह गुड़ को शकर नहीं बना पाता अर्थात अपने कच्चे माल को पक्का नहीं बना पाता, जीवन को तपाकर इसे उच्च नहीं बना पाता। यही जीवन की सबसे बड़ी हार है।

किसी हारे हुए जुआड़ी को देखो, उसकी कितनी दयनीय दशा होती है। ऋग्वेद के ऋषि कवष ने जुआड़ी की दुर्दशा का चित्र खींचा है जो ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौंतीसवें सूक्त में सुसज्जित है। उसमें से केवल दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ यहां देखें—"जुआड़ी की स्त्री दीन-हीन वेष में यातना भोगती रहती है। पुत्र कहां-कहां घूमा करता है—ऐसा सोचकर जुआड़ी की माता व्याकुल रहा करती है। जो जुआड़ी को उधार देता है, वह इस सन्देह में रहता है कि मेरा धन फिर मिलेगा या नहीं। जुआड़ी बेचारा दूसरे के घर में रात काटा करता है॥ 10॥ अपनी स्त्री की दशा देखकर जुआड़ी का हृदय फटा करता है। अन्यान्य स्त्रियों का सौभाग्य और सुन्दर अट्टालिका देखकर जुआड़ी को सन्ताप होता है। जो जुआड़ी प्रातःकाल घोड़े की सवारी पर आता है, वही संध्या-समय दरिद्र के समान जाड़े से बचने के लिए आग तापता है—शरीर पर वस्त्र भी नहीं रहता॥ 11॥"[1]

संसार में देखो तो लगेगा कि अधिकतम लोग अपने जीवन-जुआ को हार गये हैं। जीवन जितना बीतता जाये, जीवन में सुख, शांति, प्रसन्नता बढ़ते जायें, तो यह जीवन-जुआ में जीत हुई; परन्तु देखो संसार को। निर्धन दुखी हैं, धनी दुखी हैं। पुत्रहीन दुखी हैं, पुत्रवान दुखी हैं। मूढ़ दुखी हैं, चतुर दुखी हैं। अशिक्षित दुखी हैं, विद्वान दुखी हैं। अकिंचन दुखी हैं, सम्पन्न दुखी हैं। तिरस्कृत दुखी हैं, सम्मानित दुखी हैं। इन बाहरी प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा से भला स्थायी प्रसन्नता कैसे मिल सकती है! बिना सच्ची समझ और पवित्र आचरण के ये बाहरी भवन एवं उद्यान से भीतर का नन्दन-वन कैसे खिल सकता है!

सद्गुरु कहते हैं "बिनु डाँड़े जग डँड़िया" बिना दण्डित किये संसार के लोग दण्डित हुए। इन मनुष्यों को न कोई भगवान दण्ड दे रहा है और न कोई शैतान! ये अपने अज्ञान और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के दुष्कर्मवश दंडित हो रहे हैं। "बाटनि हारे लोभिया" संसार की चीजों में लोभ-मोह करने से जीवन में हार होगी ही।

राम को वनवास का दण्ड कौन दिया? उन्हीं की भूल। देखिए वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या कांड का चौथा सर्ग। दशरथ द्वारा राम को युवराज बनाने की बात कहने पर राम उसका प्रतिवाद नहीं करते कि भरत

---

1. ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 34, मन्त्र 10, 11।

तथा शत्रुघ्न को भी उनके ननिहाल से बुला लें। राम गद्दी के लिए तैयार हो जाते हैं। थोड़े समय में दशरथ पुनः राम को बुलाते हैं कि कल ही तुम्हारा तिलक हो जाना चाहिए। जब तक भरत अयोध्या से दूर हैं तब तक हो जाना चाहिए। यद्यपि वे सज्जन हैं, तुम्हारे प्रेमी हैं, परन्तु सज्जन का भी समय से मन बदल जाता है।[1] इस पर राम एक वचन भी नहीं कहते हैं और प्रस्ताव स्वीकार कर उसके लिए अनुष्ठान में लग जाते हैं। वन जाकर भी उनके दुख क्यों बढ़ते हैं ! कथानुसार वे शूर्पणखा का धैर्यपूर्वक दूसरे तरीके से निवारण न कर उसके नाक-कान कटवा देते हैं। उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञस्थल से जैसे मारीच को बिना फल के बाण से शत योजन दूर फेंक दिया था, वैसे शूर्पणखा को भी लंका फेंक देते, उसके नाक-कान न कटवाते तो कितना सुंदर था ! इतना ही नहीं, राम और सीता—दोनों ही सुन्दर मृग के लोभ में पड़कर लक्ष्मण की चेतावनी की भी अवहेलना कर देते हैं और चमकते हुए मृग के पीछे दौड़ते हैं। यहीं से उनके जीवन में दुख गहराता है। आगे चलकर इस अपनी नैतिकता के प्रघटनन में वाली को भी छिपकर मारते हैं। उनके जीवन में दुख निरन्तर बढ़ता जाता है।

कौरवों तथा पांडवों को किसने दुखी किया था ! आपस के राग-द्वेष तथा जुआ जैसे अधम काम ने। उसमें भी राज्य को, स्वयं को, भाई को, यहां तक कि पत्नी-द्रौपदी तक को जुआ के दावं पर लगा देना, छीः ! इससे अधिक दुख को निमंत्रित करने का और क्या साधन हो सकता है !

यादवों के विनाश का दुख क्यों आया ! क्या किसी दूसरे ने उनको दुख दिया ! उनके अपने स्वयं के राग-द्वेष तथा मनोमालिन्यता ने उन्हें तोड़कर तथा उनका सर्वनाश करके रख दिया।

कोई दूसरा हमें दुख नहीं दे सकता। हमारे मन के लोभ-मोह से हमारी बुद्धि में भ्रम पड़ता है और बुद्धि भ्रमित होने से हम गलत काम करते हैं। ऊपर राम, कृष्ण, पांडव आदि के उदाहरण इसलिए दिये गये कि हम यह समझ लें कि बड़े-बड़े लोग भी लोभ-मोह में फंसकर जीवन की बाजी हारते हैं और जीवन में दुख उठाते हैं, फिर हम किस खेत की मूली हैं !

"बाटनि हारे लोभिया" यहां लोभिया शब्द में जीवन की सारी कमजोरियों की व्यंजना है। लोभी व्यक्ति सर्वाधिक कमजोर आदमी होता है। सांसारिक प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में पड़कर ही हम प्रपंच में फंसते हैं और अपने कल्याण की बाजी हार जाते हैं। इस जीवन में त्यागी ही सुखी हो सकता है, लोभी एवं भोगी नहीं। जीवन में सुख का रहस्य अनासक्ति ही है। सब तरफ

---

1. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 4, श्लोक 25 से 29। गीताप्रेस गोरखपुर।

से पूर्ण अनासक्त व्यक्ति ही पूर्ण सुखी हो सकता है।

"गुर ते मीठी खाँड़" गुड़ से शकर मीठा होता है; परन्तु गुड़ से शकर बनाने में परिश्रम है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न भौतिकता से आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचा हुआ जीवन सच्चे अर्थ में सुखी होता है; परन्तु इसके लिए मनुष्य को त्याग और तप करना पड़ता है। गुड़ कच्चा माल है और उसको शकर बना देने पर पक्का माल बन जाता है। भौतिक जीवन एक कच्चा माल है। परन्तु जब यह आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है तब पक्का माल बन जाता है। किन्तु इसके लिए श्रम करना पड़ता है। मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कमाते-खाते हुए साधारण जीवन ही न जीये, किन्तु अपनी आत्मा को, अपने आपा को एवं अपने स्वरूप को पहचाने, इन्द्रियों के मलिन भोगों का त्याग करे, मन के राग-द्वेष का त्याग करे, चित्त को निर्मल करे, अपने स्वरूप में स्थित होवे। जीवन की सर्वोच्च दशा को प्राप्त करे।

जीव देह से सर्वथा भिन्न है

मलयागिर की बास में, वृक्ष रहा सब गोय॥
कहबे को चन्दन भया, मलयागिर ना होय॥ 48॥

शब्दार्थ—मलयागिर=मलयगिरि, दक्षिण भारत का एक पर्वत जिसमें चन्दन-वृक्षों की बहुलता है; चन्दन, तात्पर्य में चेतन। बास=सुगंधी, चैतन्यता। गोय=लीन, छिपा हुआ।

भावार्थ—मलयगिरि की सुगंधी में उसके आस-पास के सारे वृक्ष ओतप्रोत हो जाते हैं। वे कहने मात्र के लिए चन्दन बन जाते हैं, परन्तु मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार चेतन की चैतन्यता में पूर्ण शरीर चैतन्यवत प्रतीत होता है, परन्तु शरीर मूलतः चेतन नहीं हो सकता॥ 48॥

व्याख्या—उक्त साखी अन्योक्ति अलंकार में कही गयी है। पूरी साखी में ऊपरी तौर से मलयगिरि, उसकी वास, अन्य वृक्ष आदि का वर्णन है, परन्तु उसकी व्यंजना चेतन और जड़-देह की तरफ है।

मलयगिरि की सुगंधी से अन्य वृक्षों में सुगंधी आ सकती है, परन्तु वे सारे वृक्ष मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीव के संसर्ग से यह जड़-काया चेतनवत भासती है, परन्तु यह शुद्ध चेतन नहीं हो सकती। जीव अलग है और शरीर अलग है। जैसे गाड़ी में चालक बैठकर गाड़ी चलाता है, वैसे शरीर में स्थित होकर जीव शरीर को चलाता है। जैसे मकान में रहने वाला मकान-मालिक मकान से अलग है, वैसे शरीर में रहने वाला जीव शरीर से

अलग है।

जीव शरीर को अपना स्वरूप मान लेता है, यही सारे दुखों का कारण है। शरीर को अपना स्वरूप मान लेने पर उसका अहंकार होता है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सारे विकार उत्पन्न होते हैं। शरीर में अहंता-ममता करके ही तो सारे दुख उत्पन्न होते हैं। यदि हम एकांत में बैठकर या लेटे हुए ही मन में विचार करें कि शरीर मिट गया है, जला दिया गया है, राख होकर उड़ गया है, मेरे पास शरीर नहीं है, मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, तो ऐसी स्थिति में फिर क्या दुख रहेगा ! सारे दुख शरीर के अहंकार से पैदा होते हैं। शरीर तो केवल कल्याण-साधन है। जैसे पतरी भोजन करने के लिए मिलती है, भोजन करने के बाद वह निरर्थक हो जाती है, वैसे शरीर केवल आत्मकल्याण एवं पर-सेवा का साधन मात्र है, अंत में यह एक दिन निरर्थक हो जाता है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को देहाभिमान के ज्वर से मुक्त करे। देहाभिमान फोड़ा है, पीड़ा है, क्लेश है। मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, इस वास्तविक भाव में निमग्न रहने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि कहता है—"जिस व्यक्ति ने जान लिया कि 'अयमस्मि' मैं यह चेतन पुरुष हूं, वह किस इच्छा एवं किस कामना से शरीर के पीछे चलकर जन्म-मरण के बुखार को चढ़ाये रखेगा।" यथा—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12)

विनयावत ही सत्संग से लाभ ले सकता है

मलयागिर की बास में, बेधा ढाँक पलास॥
बेना कबहुँ न बेधिया, जुग जुग रहिया पास॥ 49॥

शब्दार्थ—बेना=बांस।

भावार्थ—ढांक-पलाश जैसे साधारण पेड़-पौधे भी सरस होने से मलयगिरि की सुगंध में सुवासित होकर चंदन बन जाते हैं। परन्तु बांस-जैसे बड़े वृक्ष भी गांठदार, पोले तथा नीरस होने से मलयगिरि की सुगंधी को नहीं ग्रहण कर पाते, भले ही वे मलयगिरि के पास बहुत काल से रहते हों। इसी प्रकार साधारण मनुष्य अपनी विनम्रता के कारण सत्संग से लाभ लेकर महान हो जाते हैं, परन्तु बड़प्पन के अहंकारी लोग चाहे नित्य साधुजनों के पास ही रहें, उनसे कोई लाभ नहीं ले पाते॥ 49॥

व्याख्या—सब जानते हैं कि ढांक-पलाश के पेड़ बहुत साधारण होते

हैं। परन्तु उनमें बांस-जैसी गांठ नहीं होती, बांस-जैसा पोलापन नहीं होता और बांस-जैसी नीरसता नहीं होती। वे निर्ग्रंथ, ठोस तथा सरस होते हैं, इसलिए छोटे-छोटे होने पर भी मलयगिरि के निकट होने से उनकी सुगंध में सुवासित होकर चन्दन बन जाते हैं। किन्तु बांस बड़े ऊंचे होने पर भी वे कठोर गांठ वाले, पोले तथा नीरस होते हैं। इसलिए उनमें मलयगिरि की सुगंधी नहीं बिंधती।

इस अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग सत्संग से लाभ ले पाने और न ले पाने के विषय में है। उदाहरण में ऐसा होता है कि नहीं, अर्थात मलयगिरि की सुगंध से अन्य वृक्ष चन्दन बनते हैं कि नहीं, इन पंक्तियों का लेखक नहीं जानता। ऐसा न होता हो, तो भी कोई हानि नहीं। कितने उदाहरण सिद्धांत को समझाने के लिए दिये जाते हैं। सिद्धांत में यह सच है कि विनम्र जीव सत्संग से लाभ ले पाते हैं, अहंकारी नहीं।

बांस में पोलापन, गांठ तथा नीरसता है। जो मनुष्य अहंकाररूपी गांठ, कपटरूपी पोलापन तथा श्रद्धाहीनतारूपी नीरसता रखेगा वह चाहे कितना बड़ा विद्वान, तथाकथित उच्च कुलोत्पन्न, धनवान एवं प्रतिष्ठित हो, सत्संग से कोई लाभ नहीं ले सकेगा। परन्तु कोई अशिक्षित हो, तथाकथित निम्न कुल में उत्पन्न हो, धन तथा प्रतिष्ठा से हीन हो, परन्तु विनम्र, निष्कपट तथा श्रद्धालु है, तो निश्चित ही वह सत्संग से महान बन जायेगा।

अहंकार, कपट तथा भावनाहीनता मनुष्य की बहुत बड़ी कुरूपता है। इस कुरूपता को रखकर आदमी प्रायः हर तरफ असफल रहता है। आध्यात्मिक-मार्ग में तो इस कुरूपता को रखकर कोई प्रवेश ही नहीं पा सकता। निर्मानता, निष्कपटता एवं भावना मनुष्य का उच्चतम सौंदर्य है। इससे कौन नहीं मोहित होता ! इसके बिना चमड़ी का सौंदर्य दो कौड़ी का है।

उच्च कुल, विद्या, धन और प्रतिष्ठा इन्हीं सब का अहंकार होता है। पूरी मानवजाति उच्च कुल है। इसमें ऊंच-नीच कुल कौन है ! अतएव मानव के भीतर ऊंच-नीच कुल मानना केवल मिथ्या अहंकार तथा हीनभावना की ग्रंथि है। सारी विद्याएं वस्तु को जानने तथा जनाने के लिए हैं। यदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता होकर भी मनुष्य मानवीय गुणों से रहित रहा, तो उसकी विद्या किस काम की ! धन तो शरीर-निर्वाह की वस्तु है। धन लोगों के पास कम-वेश होता ही है। अरबपति भी केवल पेट की अग्नि शांत करता है और दरिद्र भी। इसलिए कुछ कंकर-पत्थररूपी धन से युक्त होने से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संसार में प्रतिष्ठा तो दुराचारी को भी मिल जाती है; क्योंकि लोगों द्वारा प्रतिष्ठा पाने के बहुत कारण होते हैं।

वस्तुतः सच्चा मानव वही है जो विनम्र, निष्कपट तथा भावना-प्रधान है

और जो सत्पुरुषों की संगत से सद्गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्तकर अपना कल्याण करता है और दूसरों के कल्याण में सहयोग करता है।

भक्ति द्वारा आदमी ऊपर उठता है। अहंकारी आदमी भक्त नहीं हो सकता। इतिहाससिद्ध बात है कि कितने ही उच्च कहलाने वाले लोग अपने अहंकारवश पतित हो गये और लोकदृष्टि में निम्न कहलाने वाले लोग सत्संग-भक्ति के प्रताप से महान हो गये। किसी ने कैसा सुन्दर कहा है—"बैठी पड़ाइनि बैठी सुकुलाइन, आइगै विमान गंधकिनिया कै, मोका भावैल भक्ति भिलिनिया कै।" गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

तुलसी भगत शपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊंचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥
अति ऊंचे भूधरिन पर, भुजगन को अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ईख अन्न अरु पान॥ वैराग्य संदीपनी॥
नीच नीच सब तरि गये, संत चरन लौलीन।
तुलसी जातिहि के मदे, बूड़े बहुत कुलीन॥

सदगुरु कबीर और भी कहते हैं—

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार।
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥
सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावैं सब कोय॥ साखी 139/323॥

जीव की स्वरूपस्थिति नौ कोस की दूरी पर

चलते चलते पगु थका, नग्र रहा नौ कोस॥
बीचहि में डेरा परा, कहहु कौन को दोष॥ 50॥

शब्दार्थ—नग्र=नगर, गंतव्य, अपनी स्थिति। नौ कोस=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध या नौ कोस—अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनन्दमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, आकाशमय तथा विज्ञानमय[1]। डेरा=पड़ाव।

भावार्थ—मानो कोई यात्री हो। वह सुबह से चल रहा हो। चलते-चलते

---

1. स्थूल शरीर—अन्नमय कोश; शब्द समूह—शब्दमय कोश; पंचप्राणादि का समुच्चय—प्राणमय कोश; दृश्यविषयों का अहंकार—आनंदमय कोश; वासना का समुच्चय—मनोमय कोश; दृश्य-भास—प्रकाशमय कोश, दृश्य ज्ञान—ज्ञानमय कोश; आकाश को आत्मरूप मानना—आकाशमय कोश तथा जड़-चेतन अभिन्न एक मानना—विज्ञानमय कोश है। ये स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर रखने वाले हैं।

उसके पैर थक गये हों, अभी उसका मूल निवास स्थान नौ कोस की दूरी पर हो, इतने में शाम आ गयी हो। इसलिए बीच में ही उसका पड़ाव पड़ गया हो, तो कहो, इसमें किसका दोष है ! वस्तुतः चलने वाले का दोष है जो सही रास्ते से न चलकर भटक गया है। भटकने वाले का रास्ता लंबा हो ही जाता है।

इसी प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान सभी मार्गों में चलते-चलते मनुष्य का जीवन थक जाता है और वह बूढ़ा हो जाता है, परन्तु आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति, चतुष्टय अंतःकरण में संस्कारित पांचों विषयों की आसक्तिरूपी नौ कोस की दूरी पर ही रह जाती है और मौत का समय आ जाता है। इसमें कहो भला किसका दोष है ! दोष चलने वाले का ही है, जो कल्याण का सही रास्ता न पकड़कर भूले पथ में भटक गया है॥ 50॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस साखी में "नग्र रहा नौ कोस" कहा है। इस ग्रंथ में अन्यत्र भी "नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझे"[1] "नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश।"[2] आदि कहा है। कहावत भी है "न नौ मन तेल जुरेगा, न राधा नाचेगी।"

वस्तुतः संख्या के अंक 1 से 9 तक ही होते हैं। आगे शून्य (0) होता है। इसलिए भारतीय परंपरा में संख्या की व्यंजना के लिए "नौ" का प्रयोग किया जाता है।

कल्याण के प्रेमी संसार में बहुत हैं। गुरुजन उन्हें ज्ञान तथा साधना के नाम पर जो कुछ बता देते हैं वे उसको लेकर चलते हैं। परन्तु उनकी जिन्दगी बीत जाने पर भी उनका गंतव्य, उनका स्वरूपस्थितिरूपी निवासस्थल नौ कोस अर्थात बहुत दूरी पर रह जाता है। नौ कोस हैं मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। शब्दादि पांचों विषय का मन से मनन कर, चित्त से अनुसंधान कर, बुद्धि से उनमें सुख निश्चय कर तथा अहंकार से उनकी करतूति करके जो उनकी आसक्ति बना ली गयी है, स्वरूपस्थिति तक पहुंचने में यही मानो नौ कोस का अन्तर रह जाना है। कर्म, उपासना, ज्ञान, जप, योग, तप आदि के नाम पर मनुष्य जीवनभर बहुत कुछ करता रहा, किन्तु यदि उसके अंतःकरण से विषयासक्ति की रेखा सर्वथा नहीं मिटी है तो स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। सद्गुरु पूछते हैं कि बताओ, इसमें दोष किसका है?

दोष दूसरों का तो नहीं बताया जा सकता। दोष उस असावधान व्यक्ति

---

1. बीजक, शब्द 85।
2. बीजक, साखी 197।

का ही है जो "जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन। अंधे को अंधा मिला, राह बतावै कौन॥"[1]

स्वरूप का यथार्थ बोध न होने से विषयासक्ति सर्वथा नहीं मिटती। लोग काम-भोग तथा देह का अहंकार छोड़ देते हैं, परन्तु यदि उन्होंने यह मान रखा है कि मेरा लक्ष्य कहीं बाहर है, मेरा गंतव्यरूपी नगर मेरी आत्मा से अलग है तो यह पंच विषय तथा चतुष्टय अंतःकरण से अलग नहीं है। यदि साधक ने यह मान लिया कि मैं ही यह विश्व-ब्रह्मांड हूं, जैसे जल और उसकी तरंग एक है, जैसे मिट्टी और उससे बने घट एक है, जैसे स्वर्ण तथा उससे बने आभूषण एक है, उसी प्रकार मैं और यह संसार एक है, तो इस महाभ्रांति में पड़ने से साधक चतुष्टय अंतःकरण एवं पांचों विषयों से अलग कहां हुआ! इस भ्रांत मान्यता में पड़ने से अपना चेतनस्वरूप जड़ की मान्यता से अलग हो ही नहीं सकता है। लोग कर्मकांड का व्यवहार तो सांसारिक भोगों के लिए करते ही हैं, उपासना में भी अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर पांचों विषयों से परे नहीं जाते और यदि ज्ञान भी उपर्युक्त प्रकार से जड़-चेतन को एक में मिला देता है तो साधक विषयों से निवृत्त कैसे हो सकता है! अतएव परख न होने से मनुष्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान के नाम पर नवधा प्रकृति एवं नौ कोशों के भीतर ही उलझ जाता है।

पांचों विषयों एवं चतुष्टय अंतःकरण तथा समस्त दृश्य-भासों का मैं साक्षी उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, इस तत्त्व का बोध एवं इस बोध में स्थिति होने पर ही जीव का अपना नगर, अपना आश्रयस्थल एवं अपना निधान मिलता है।

जीव को कहीं से चलकर कहीं अन्यत्र पहुंचना नहीं है। जीव तथा जीव की स्वरूपस्थिति में नौ कोसों की दूरी का अर्थ यह नहीं है कि जीव को अपनी स्थिति के लिए एक जगह से चलकर दूसरी जगह जाना पड़ेगा। वस्तुतः जीव ही जीव की स्थिति-भूमिका है। हर मौलिक वस्तु का आश्रयस्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। इसी प्रकार जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन ही उसका अपना आश्रयस्थल एवं स्थिति दशा है। वस्तुतः जीव अपने स्वरूप की मौलिकता न समझकर चतुष्टय अन्तःकरण एवं पाचों विषयों में भटक गया है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर पर ही हो, परन्तु नशा कर लेने के कारण उसे भ्रम हो गया हो कि मैं अपने घर से दूर कहीं विदेश में हूं और जब उसका नशा दूर हो जाये तब वह समझे कि मैंने अपने घर को पा लिया, वैसे ही जीव अपने स्वरूप के अज्ञानवश, अविद्या के नशा से दृश्यों

---

1. बीजक, साखी 153।

को ही अपना स्वरूप मानकर अपने आपा से दूर पड़ा हुआ-सा है। अतएव अविद्या दूर होने पर जहां अपने आप को जड़ दृश्यों से अलग समझकर अपने आप में आ गया, बस कृतार्थ हो जायेगा।

जीवन की असावधानी

झालि परे दिन आथये, अन्तर पर गइ साँझ॥
बहुत रसिक के लागते, बिस्वा रहि गइ बाँझ॥ 51॥

शब्दार्थ—झालि परे=झोला पड़ना, शाम का धुंधलापन, तात्पर्य में इन्द्रियों की निर्बलता। दिन आथये=रात होना, बुढ़ापा। अन्तर=भीतर। रसिक=विषयी।

भावार्थ—जैसे किसी पथिक के अपने गंतव्य पर पहुंचने से पहले ही संध्या हो जाये, दिन डूब जाये और रात का झोला पड़ने लगे, वैसे व्यक्ति अपनी स्वरूपस्थिति के पाने के पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो जाती हैं, उसके मन में अंधियारा हो जाता है और मौत का समय आ जाता है। जैसे वेश्या से बहुत विषयी पुरुषों के लगने के कारण वह बंध्या रह जाये, वैसे जीव अनेक विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं में लगने के कारण स्वरूपस्थिति से दूर रह जाता है॥ 51॥

व्याख्या—मनुष्य की असावधानी पर सद्गुरु दो सटीक उदाहरण देते हैं, एक रास्ते की अंधियारी का तथा दूसरा वेश्या का। आदमी चलते-चलते अपने गंतव्य पर न पहुंचे और बीच ही में रात हो जाये तो यह उसके लिए दुखद है। इसी प्रकार यदि मनुष्य ने अपनी स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, परम संतोष एवं अविचल शांति नहीं पायी है और बीच ही में वह बूढ़ा हो गया, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो गयीं, मन भी भ्रांत हो गया और सब कुछ ढीलाढाला हो गया तो वह दांव चूक गया। जिसने स्वस्थ रहते हुए जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य परम शांति की प्राप्ति नहीं कर ली, उसका जीवन भौतिक क्षेत्र में सफल होते हुए भी वस्तुतः सर्वथा असफल है। बाहर का सब कुछ पाकर क्या किया यदि उसने अपने आप को खो दिया! जैसे बालक खिलौने खेलने में समय बिता देता है, वैसे आदमी विषय-भोग, राग-द्वेष, चिन्ता-फिक्र में सारे समय गवां देता है।

वेश्याएं बहुत पुरुषों के संग में फंसकर अंततः कहीं की नहीं रह जातीं, इसी प्रकार जीव नाना विषय-वासनाओं, देवी-देवताओं की मान्यताओं में फंसकर अंततः कहीं का नहीं रह जाता।

इन्द्रियों के सारे विषय केवल मोह एवं भ्रम पैदा करने वाले हैं। इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप से अलग कहीं भी देवी-देवादि माने जाते हैं, सब

हमारी ही कल्पनाएं हैं। अपनी मानसिक कल्पनाओं में फंसकर अपना पतन करना है। जहां तक जीव अपने चेतनस्वरूप को छोड़कर अलग मन लगायेगा, वहां तक वह केवल भटकेगा। अतएव साधक को चाहिए कि वह बाहर भटकना छोड़कर अपने आपा को पहचाने और अपने स्वरूप में स्थित हो।

लक्ष्य अत्यंत निकट है

मन कहै कब जाइये, चित्त कहै कब जाव॥
छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव॥ 52॥

शब्दार्थ—छौ मास=छह महीने, तात्पर्य में छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत या छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण; इनका विवरण पीछे 28वें शब्द की व्याख्या में देखें। हींड़ते=खोजते, भटकते। आध कोस=एक मील, तात्पर्य में बहुत निकट, केवल मन का परदा—माया।

भावार्थ—स्वर्ग, मोक्ष एवं ब्रह्म-धाम की प्रशंसा सुनकर मनुष्यों का मन कहने लगा कि हे भगवान, वहां कब पहुंचेंगे और चित्त कहने लगा कि वहां कब जायेंगे ! परन्तु इन मुमुक्षुओं की दशा वैसी हुई जैसे कुछ लोग छह महीने से भटकते हुए अपना गांव खोज रहे हों, जबकि वह पास में, आध ही कोस पर हो, किन्तु भ्रमवश न पाते हों॥ 52॥

व्याख्या—धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों, पुराणों तथा धर्मग्रन्थों में स्वर्ग, मोक्ष, ब्रह्मधाम, साकेतलोक, बैकुण्ठलोक, गोलोक, शिवलोक, सतलोक, जन्नत एवं परमात्मा के धाम का बड़ा रोचक वर्णन है। उन्हें पढ़ तथा सुनकर भावुक-भक्तों के मन और चित्त वहां पहुंचने के लिए व्याकुल होने लगते हैं। अतएव वहां पहुंचने के लिए वे यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, योग-तपस्या, तीर्थ-व्रत करते हैं और नाना धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वहां पहुंचने के लिए लोग वेदों को पढ़ते हैं और छह वेदांगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष तथा व्याकरण को पढ़ते हैं; सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत को पढ़ते हैं। इन ग्रन्थों, इन कर्मकांडों में मोक्ष, स्वर्ग एवं ब्रह्मधाम को खूब खोजते हैं। परन्तु स्वरूपज्ञान बिना कोरे-के-कोरे रह जाते हैं।

कुछ गंजेड़ी लोग थे। वे अपने गांव का रास्ता भूल गये थे। वे अपने गांव की तलाश छह महीने से कर रहे थे। उनका गांव तो उनसे आध कोस पर ही था; परन्तु सब तो थे गंजेड़ी। सब गांजा का दम लगाते थे, गप्पे मारते थे और जंगल में चक्कर लगाया करते थे।

"छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव" सद्गुरु का यह विद्वानों पर करारा व्यंग्य है। यदि आदमी एक दिन में केवल पांच कोस चले तो छह महीने में नौ सौ कोस जाया जा सकता है। परन्तु यहां तो गांव केवल आध कोस पर है और उसे छह महीने से खोज रहे हैं। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है ! विद्वान लोग छहों शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं, छहों वेदांगों को पढ़ रहे हैं, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि गांव तो केवल आध कोस पर है। बहुत निकट है ब्रह्मधाम, स्वर्ग तथा मोक्षधाम !

वह आध कोस केवल मन की माया है। आध कोस का यहां बहुत बारीक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। "आध कोस" में उसके लिए अत्यंत निकटता की व्यंजना है। केवल आध कोस पर गांव और तुम वहां पहुंचने के लिए छह महीने से भटक रहे हो ! छह महीने से उसे खोज रहे हो ! कितना आश्चर्य !

वस्तुतः अपने चेतनस्वरूप की स्थिति ही ब्रह्मधाम, स्वर्ग, मोक्षधाम, साकेतलोक, गोलोक एवं सतलोक है। इसे खोजना नहीं है, समझना है और समझकर तथा बाहरी जगत से लौटकर अपने आत्मस्वरूप में आ जाना है। व्यक्ति से उसके मोक्षधाम का अन्तर केवल आध कोस है। वह है मन-माया का परदा। भ्रांति कट जाने पर व्यक्ति को पता लगता है कि हम जिस ब्रह्म को, राम को, परमात्मा को खोज रहे हैं वह तो मेरा अपना आत्मस्वरूप ही है। यह स्वरूपस्थिति ही ब्रह्मधाम एवं सतलोक में पहुंचना है। जो अपने चेतन स्वरूप में, पारखस्वरूप में स्थित हो गया वह ब्रह्मधाम पा गया, सतलोक पा गया। स्वरूप की स्थिति हो जाने पर कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता।

भजन के लिए भोजन जरूरी है

गृह तजि के भये उदासी, बन खण्ड तप को जाय ॥
चोली थाकी मारिया, बेरई चुनि चुनि खाय॥ 53॥

शब्दार्थ—उदासी=वैरागी। चोली=शरीर। बेरई=बेर फल।

भावार्थ—कितने लोग भावुकता में पड़कर और घर छोड़कर वैरागी हो जाते हैं तथा जंगलों में तपस्या करने चले जाते हैं। जब उनकी भावना का जोश उतरता है, भूख लगती है, काया निर्बल होती है, तब वे बेर-जैसे साधारण फल भी चुन-चुन कर खाते हैं और अपना पेट भरते हैं॥ 53॥

व्याख्या—क्षणिक वैराग्य एवं भावुकता से काम नहीं चलता। जो क्षणिक वैराग्य से घर छोड़कर बाहर निकलता है, यदि थोड़ी-सी कठिनाई उसके सामने आती है तो उसके कच्चे ढीले हो जाते हैं। वह घर-गृहस्थी में

रहकर चाहे जितनी कठिनाई सह ले, परन्तु साधुमार्ग की कठिनाई तब तक नहीं सह पायेगा जब तक उसे साधुत्व एवं वैराग्य में लाभ निश्चय न हो। मनुष्य खेती, व्यापार, नौकरी में बहुत कठिनाई सहकर उन्हें हर्षपूर्वक करता है। वह माता-पिता का तो सहता ही है, पत्नी, बच्चे और नये-नये लोगों का उसे सहना पड़ता है। इस संसार में बिना सहन किये कहीं भी नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी दिशा में कुछ करना चाहता है तो उसे सहना पड़ेगा। बिना विवेक के, केवल भावुकता में घर छोड़कर वैरागी बनने वाले की दशा दयनीय होती है। वह न इधर का होता है और न उधर का !

एक सच्ची घटना है। शहर में रहने वाले एक संपन्न आदमी, जिनकी उम्र साठ वर्ष के करीब होगी, अपने बच्चों से घबराकर निकट के एक साधु आश्रम में चले गये। उनके बच्चों में कोई डॉक्टर, कोई वकील तथा कोई इंजीनियर था। सबने समझाया। उन्होंने नहीं माना। वे जब गुरु-स्थान पर जाते थे, उनके खाने-पीने की थोड़ी अलग व्यवस्था हो जाती थी। वे मानो समझते थे कि मेरे लिए साधु समाज की ओर से अलग व्यवस्था होती रहेगी। नहीं भी होगी, तो भी सर्वसामान्य साधु की तरह हम अपना जीवन बिता लेंगे।

जब वे सज्जन साधु-समाज में स्थायी रूप से रहने लगे, तब कुछ दिनों में उनके लिए अलग व्यवस्था जो होती थी, बन्द हो गयी। वह बन्द होना ही था। एक समाज दो भांति नहीं चल सकता। चलना भी नहीं चाहिए। सुबह चने आदि का जलपान जो सब साधुओं को मिलता वही उन्हें भी मिल जाता। दोपहर एवं शाम को दाल, भात, रोटी और सब्जी। और यह बहुत सादे, फीके और साधारण स्तर के। जमीन पर चटाई पर सोना।

कुछ दिनों के बाद उन्हें अपने घर की याद जोरों से आने लगी। उनको ख्याल होता "भले, घर में बच्चों से मनमुटाव चलता था, पत्नी उखड़ी-उखड़ी रहती थी, परन्तु सुबह की चाय तथा उसके साथ कभी चिल्ला, कभी पावरोटी, कभी मिठाई, कभी समोसे, कभी जलेबी मिल जाते थे। दोपहर एवं शाम को महीन चावल का भात, गाढ़ी दाल, मसालेदार तरकारियां, घी से चुपड़ी चपातियां मिलती थीं। पलंग पर डनलप के गद्दे पर सोते थे। रात में सोते वक्त एक पाव दूध भी मिल जाता था। गाड़ी पर बैठकर घूमने का अवसर भी मिल जाता था। अपना घर था। क्या परिवार वालों से मनमुटाव होने से कोई घर छोड़ देता है !"

उनके गुरुजी भी उनके मन को कुछ-कुछ समझने लगे थे, परन्तु इस विषय पर दोनों ने आपस में अभी कोई बात नहीं की थी।

एक दिन वे सज्जन स्नान करके धूप में खड़े थे और अपने एक हाथ से

दूसरे हाथ की कलाई पकड़कर नाप रहे थे और देख रहे थे कि घर की अपेक्षा यहां साधु-समाज में आने पर कितने दुबले हो गये हैं। पीछे से गुरुजी आ गये। उन्होंने कहा—"क्या भैया, दुबले हो गये?" वे बेचारे बहुत लज्जित हो गये। उन्होंने अपने मन की व्यथा कह सुनायी कि महाराज, मैं साधु-समाज में रह नहीं पाऊंगा। किन्तु जिस जोश-खरोश से मैं घर छोड़कर यहां रहने आया हूं, उसको देखते हुए यदि मैं घर लौटूंगा, तो परिवार की दृष्टि में दो कौड़ी का हो जाऊंगा। महाराज, कोई उपाय लगाइए जिससे सांप मर जाये, किन्तु लाठी न टूटे।

महात्मा भी चलते-पुर्जे आदमी थे, बहुत व्यावहारिक थे। उन्होंने एकांत में बैठाकर उन्हें सारी सावधानी बता दी कि तुम किस प्रकार गम्भीर बीमार तथा बेहोश बनो और आगे घर जाने पर क्या-क्या तुम्हें कहना है, सब समझा दिया।

वे सज्जन बीमार होकर बेहोश हो गये। महात्मा ने उनके घर सन्देश भेजा। लड़के कार लेकर आश्रम पर पहुंचे। उन्होंने देखा कि पिताजी एकदम बेहोश हैं। उन्होंने महात्मा से आज्ञा मांगी कि महाराज, इन्हें घर ले जाने की अनुमति दें। महात्मा ने अनुमति दे दी। साथ में स्वयं गाड़ी में बैठकर उनके घर गये।

डॉक्टर बुलाये गये। उन्हें कुछ पता नहीं चल रहा था कि कौन बीमारी है। कुछ दवा दी गयी। वे आधे घंटे में होश में आये। उन्होंने पूरे होश में आने पर पूछा—"मैं कहां हूं?"

महात्मा ने कहा—"तुम अपने घर अपने बच्चों के बीच में हो।" वे तुरंत रो पड़े, और बड़े जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे कि महाराज, यहां मुझे कौन ले आया? मैं यहां नहीं रह सकता। मैंने तो सन्तों के चरणों में ही रहकर इस देह का अन्त करने को सोचा है। मुझे शीघ्र संताश्रम ले चलें। मैं एक घंटा भी घर-परिवार में नहीं रह सकता।

बच्चों ने उन्हें मनाना शुरू किया। बच्चों को अपना अपमान लग रहा था कि हम सब संपन्न होकर पिता की सेवा न करें तो लोग क्या कहेंगे ! बच्चों ने महात्मा से भी उन्हें समझाने के लिए कहा।

महात्मा ने उन्हें समझाया—"तुम हठ छोड़ दो। मुझे गुरु मानते हो, तो मेरी कड़ी आज्ञा है कि तुम घर में रहो। मेरी आज्ञा मानो। तुम्हारे बच्चे तुम्हारी सेवा करना चाहते हैं।"

उन्होंने बड़ी रोनी सूरत बनाकर स्वीकार किया और कहा कि जब आप ही की ऐसी कड़ी आज्ञा है, तो मैं विवश हूं।

ऐसे चालाक महात्मा एवं गुरु सबको तो नहीं मिलते कि ऐसे लोगों की

मर्यादा बनाये रखते हुए उन्हें घर वापस कर सकें। इसलिए बहुत समझ-बूझकर घर छोड़ना चाहिए। भावुकता में पड़ना ठीक नहीं।

जंगल में तप करने की पिनक का समय अब तो और नहीं रहा। क्योंकि अब पहले सरीखा न वन में फल है न कंद। यहां तक कि वन का ही अधिकतम सफाया हो गया है। शरीर को संतुलित आहार देकर ही इससे भजन बन सकता है। कबीर साहेब ने कहा है—

कबीर भूख कुतिया अहै, करे भजन में भंग।
याको टुकड़ा डारि के, करो भजन निस्संग॥ कबीर अमृतवाणी॥

स्वरूपराम में स्थित पुरुष की उच्चता

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पिंजर तासु॥
नैन न आवै नींदरी, अंग न जामें माँसु॥ 54॥

शब्दार्थ—चीन्हिया=पहचाना, परख की। झीना=दुर्बल। पिंजर=शरीर। जामें=बढ़ना।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस आत्मतत्त्व की जिन्होंने परख की, उसका शरीर दुर्बल होता है, उसके नेत्रों में नींद नहीं आती तथा उसके अंगों में मांस नहीं बढ़ता॥ 54॥

व्याख्या—लोग केवल राम-नाम जपते हैं। केवल जपने से कोई बड़ी घटना जीवन में घट जायेगी यह मात्र सुनी-सुनायी महिमा की बात है। परन्तु करना राम-नाम की परख की है कि वस्तुतः राम-नाम है क्या ! राम तो एक नाम है, संज्ञा है एवं पद है; परन्तु इसका पदार्थ क्या है ! पदार्थ तो चेतन है जो निजस्वरूप है। सद्गुरु ने कहा है "हृदया बसै तेहि राम न जाना"। राम तो हृदय में बसने वाली चेतन सत्ता है, वही मेरा स्वरूप है, अर्थात वही मैं हूं।

जब ऐसी पक्की परख हो जाती है तब यही निजस्वरूप का बोध कहलाता है। निजस्वरूप का बोध हो जाने पर शरीर निस्सार हो जाता है। तब शरीर केवल साधन की वस्तु लगता है, भोग की नहीं। यहां सद्गुरु ने शरीर के लिए 'झीना पिंजर' शब्दों का प्रयोग किया है जिसका शब्दार्थ होता है दुर्बल काया। परन्तु शब्दार्थ लेने से काम नहीं चलता। बोधवान का शरीर दुर्बल ही हो, ऐसी बात नहीं है। वे बलवान शरीर के भी हो सकते हैं। वस्तुतः झीना पिंजर, नैन न आवै नींदरी तथा अंग न जामें माँसु, इन तीनों संयुक्त शब्दों के अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक होने चाहिए। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार किये जा सकते हैं, जैसे कि बोधवान पुरुष शरीर से अनासक्त होते हैं,

उन्हें देहबन्धन से मुक्त होने के लिए बेचैनी रहती है और वे इन्द्रियों के भोग से उपरत होते हैं।

वस्तुतः "झीना पिंजर" और "अंग न जामें माँसु" का अर्थ एक ही है, जिसका सार अभिप्राय है शरीराभिमान से मुक्त हो जाना। निज चेतनस्वरूप राम को पहचानने का अर्थ ही है देहाभिमान का विलय हो जाना।

ऐसे पुरुष को नेत्रों में नींद नहीं आती, यदि इसका यही स्थूल अर्थ लिया जाये तो अनर्थ है। हर ज्ञानी पुरुष नींद के समय जमकर सोता है। काम भर सोना ही चाहिए। यहां "नैन न आवै नींदरी" का अर्थ है देहबन्धन से छूटकर मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। इस संसार के मोह में न फंसना मानो नींद न लेना है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु ने दूसरे शब्द में कहा है "संतो जागत नींद न कीजै" हे संतो ! जागते रहो, नींद न करो। यहां सद्गुरु ने मुमुक्षुओं को यह आज्ञा नहीं दी है कि वे देह-विश्राम के लिए जो सोते हैं वह बन्द कर दें, किन्तु उन्होंने बताया है कि तुम इस माया नगरी में कहीं भूल न जाओ।

रामतत्त्व एवं निजस्वरूप की पूर्ण पहचान का अभिप्राय ही यही है कि उसे संसार से उचाट हो जाये। वह देह के अभिमान को छोड़ दे और इन्द्रियों के भोगों से एकदम विरत हो जाये।

जो जन भीजै रामरस, बिगसित कबहुँ न रूख॥
अनुभव भाव न दरसे, ते नर सुख न दूख॥ 55॥

शब्दार्थ—भीजै=भीगना, लीन होना, ओतप्रोत होना। रामरस=स्वरूपप्रेम, आत्मचिंतन। बिगसित=विकसित, प्रफुल्लित, आनंदित। रूख=उदास, कष्टित।

भावार्थ—जो साधक आत्मचिंतन में सदैव डूबे रहते हैं, वे न सांसारिक उपलब्धियों में हर्षित होते हैं और न उनके चले जाने से शोकित होते हैं। सदैव स्वरूपस्थिति के अनुभव में लीन होने से उन्हें सांसारिक भाव-तरंगें नहीं प्रभावित कर पातीं। अतएव वे सांसारिक वस्तुओं के मिलन-बिछुड़न में न सुखी होते हैं और न दुखी होते हैं॥ 55॥

व्याख्या—आत्मचिंतन एवं स्वरूपस्थिति में निमग्न साधक मानो रामरस से ओतप्रोत होता है। अपनी चेतना एवं आपा ही तो राम है और उस भाव में डूबा साधक रामरस में भीगा हुआ है। ऐसे साधक के मन में हर्ष-शोक नहीं रहते। वह सब समय निर्द्वंद्व रहता है।

"अनुभव भाव न दरसे" इस वाक्यांश का इस साखी में एक साथ अर्थ नहीं बैठता। इसमें "अनुभव भाव" का अलग तथा "न दरसे" का अलग अर्थ होगा। अर्थात स्वरूपचिंतन में लीन पुरुष अनुभव-भाव में डूबा रहता

है। उसे अन्य भावनाएं नहीं दरसतीं। ऐसा ही विभागपूर्वक अर्थ बैठता है। पूरे वाक्यांश का एक साथ अर्थ करने से हो जायेगा कि उन्हें अनुभव का भाव नहीं दरसता, जो प्रसंग के अनुकूल नहीं है।

हमारा राम हमसे अलग नहीं हो सकता कि खो जाये। बाहर कोई राम नहीं जिससे हमें मिलने की आवश्यकता का आभास हो। बीजक के पाठफल में आया है 'अस्ति आत्माराम है' आत्माराम ही परम वास्तविकता है। इसके चिंतन-रस में जो डूबा रहता है, वह किस बात का भय करे, किसका लोभ करे और किसकी चाह करे ! जिसे अपने स्वरूप की गरिमा का पूर्ण पता लग जाता है, वह सारे जड़-दृश्यों से अतीत शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मतृप्त होता है। आत्मतृप्त व्यक्ति को बाहर से पाने की कुछ वासना नहीं रह जाती।

श्री रामरहस साहेब ने भी अपने चेतनस्वरूप को ही राम कहते हुए कहा है—"धीरज दया तत्त्व संयुक्ता। राम भूमिका बासक युक्ता॥ आनन्द सिन्धु अहन्तातीता। राम रूपमय परम पुनीता॥" इस प्रकार अपने अविनाशी स्वरूप राम में रमण करने वाला साधक संसार के शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। वह सदैव एकरस कृतार्थस्वरूप है।

यथार्थ परख से बंधनों का सर्वथा नाश

काटे आम न मौरसी, फाटे जुटै न कान॥
गोरख पारस परसे बिना, कौने को नुकसान॥ 56॥

शब्दार्थ—मौरसी=बौर लगना, मंजरी लगना। पारस=एक कल्पित पत्थर जिसमें लोहा के छू जाने से सोना बन जाने की कल्पना की जाती है।

भावार्थ—आम का पेड़ काट देने पर न वह पुनः विकसित होता है और न उसमें बौर लगते हैं। इसी प्रकार कान को फाड़ देने पर वह पुनः नहीं जुटता। ऐसे ही सारी वासनाओं को परख कर छोड़ देने पर जीव पुनः भवबंधनों में नहीं पड़ता। हे योगिराज गोरखनाथ ! यदि लोहा पारस-पत्थर का स्पर्श नहीं करता है तो किसकी हानि है, लोहे की या पारस की? वस्तुतः लोहे की ही हानि है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति पारखी गुरु के पास जाकर और उनसे प्रेरणा लेकर सारे भवबंधनों को नहीं छोड़ता है तो व्यक्ति की ही हानि है॥ 56॥

व्याख्या—कई प्रकार के पेड़ होते हैं उन्हें काट देने पर उनकी जड़ों से दूसरे पेड़ तैयार होकर वे फलने-फूलने लगते हैं, जैसे केले, फालसा, गन्ना आदि। परन्तु आम के पेड़ के लिए यह बात नहीं है। वह काट देने पर न बढ़ता है और न फूलता-फलता है। इसी प्रकार कान की बात है। कान छेद

देने पर यदि उसमें कोई आभूषण न पहना जाये तो वह कुछ दिनों में बंद हो जायेगा। परन्तु यदि उसे फाड़ दिया जाये तो वह नहीं जुटता।

उक्त दोनों उदाहरण देकर सद्‌गुरु जो समझाना चाहते हैं उसे वे खोल कर अलग शब्दों में तो नहीं कहते, परन्तु वही बताना उनका मुख्य लक्ष्य है। वह है वासना-निवृत्ति के बाद जीव का पुनः भवबंधनों में न पड़ना। यह जीव माया-जाल में फंसा हुआ है जिससे उसका मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। गांजा, भांग, शराब, जुआ, जिन व्यसनों के बन्धनों में मनुष्य फंस जाता है उनसे उसका क्या मौलिक सम्बन्ध है ! एक लड़की किसी अपरिचित लड़के के साथ, एक लड़का किसी अपरिचित लड़की के साथ अपने आप को जीवनभर के लिए बांध देते हैं; किन्तु विचारकर देखो, उन दोनों का क्या मौलिक सम्बन्ध था और आगे छूट जाने पर क्या रहेगा ! यह ठीक है कि व्यावहारिक जगत का दूसरा दृष्टिकोण है। परन्तु परमार्थतः किसी का क्या नाता है !

यह जीव अकेला आया है और अकेला जायेगा। बीच का सारा सम्बन्ध मान्यता मात्र है और इसी में मनुष्य सारे भव-बंधन बनाता है। अतएव जो ठीक से परखकर इन्हें सर्वथा छोड़ देता है वह इनके बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सारा दृश्य-संसार जीव से सर्वथा अलग है। अतएव जब जिसको उसके राग की बन्धनरूपता का पता लग जाता है और वह उसे दुखरूप परखकर छोड़ देता है, तब उसका उसमें फंसने का कारण नहीं हो सकता। जो वस्तु स्वाभाविक हमसे अलग है, उसका त्याग सहज है। सारा संसार जीव से अलग है। अतएव उसका राग छोड़ देना उसके लिए सहज है।

पारस-पत्थर सर्वथा काल्पनिक है। लोक-प्रचलित कहानी है कि पारस-पत्थर में यदि लोहा छू जाये तो सोना बन जाता है। यह उदाहरण कवि-जगत में खूब चलता है। वास्तव में बातों को समझाने के लिए ऐसे तरीके अच्छे होते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि लोहा अपने आप को पारस-पत्थर से नहीं छुआता है तो वह सोना नहीं बन सकता। इसलिए न छुआने से उसी का नुकसान है। इसी प्रकार कोई साधक सच्चे पारखी सद्‌गुरु के पास नहीं जाता, उनसे जड़-चेतन की परख तथा अपने भव-बंधनों की पहचान नहीं करता है, तो उसी का नुकसान है। सद्‌गुरु का कोई नुकसान नहीं।

अतएव कल्याणार्थी को चाहिए कि वह अपने कल्याण के लिए बोध और रहनीसंपन्न पारखी सद्‌गुरु की शरण में जाये। उनसे जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष की ठीक से परख प्राप्त करे, और सारे भव-बंधनों को आज ही छोड़कर पूर्णतया कृतार्थ हो जाये। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

हंस द्रष्टा पद थीर लही, परखाये सब जाल।
सदा सुखारी पारखी, नजरे नजर निहाल॥

(पंच. गुरु. दो. 226)

इस साखी में सद्गुरु ने गोरखनाथ जी का नाम लेकर उनको सम्बोधित किया है। गोरखनाथ कबीर साहेब से करीब चार सौ वर्ष पहले हो चुके हैं अतएव उनका आमने-सामने होना तो असम्भव है, वस्तुतः गोरख का नाम लेकर सद्गुरु ने गोरखपंथियों की याद की है। उन्हें प्रेरित किया है कि वे केवल हठयोग में न रुके रहकर सत्यासत्य की परख करें।

पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार॥
पारस ते पारस भया, परख भया टकसार॥ 57॥

शब्दार्थ—परख=गुण-दोष की पहचान एवं सत्यासत्य जानने की शक्ति, परीक्षा। टकसार=टकसाल, सिक्के ढलने का स्थान, निर्दोष वस्तु, खरा, सत्संग।

भावार्थ—जीव पारसरूप है तथा संसार लोहरूप है। अर्थात जीव चेतन है और संसार जड़ है। जैसे पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है, वैसे चेतन के सम्बंध से जड़ शरीर चेतनवत हो जाता है। पारस के स्पर्श से लोहा केवल सोना होता है, पारस नहीं, परन्तु पारखी सद्गुरु के संसर्ग से मनुष्य पारखी हो जाता है। यही पारस से पारस होना है। और सत्यासत्य की परख सत्संग में होती है॥ 57॥

व्याख्या—पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है यह तो केवल कल्पना है। परन्तु यह वास्तविकता है कि चेतन जीव के संसर्ग से जड़ शरीर चेतनवत भासता है। जब तक चेतन जीव इस शरीर में है तब तक यह सारी क्रियाएं कर रहा है, जैसे ही शरीर में से जीव निकलकर चला जाता है वैसे ही शरीर निरर्थक हो जाता है। "पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार" जड़-चेतन का यह भिन्न विवेक है, जिसे सद्गुरु ने आलंकारिक शब्दों में कहा है।

"पारस ते पारस भया"[1] बहुत महत्त्वपूर्ण भाव है। कहावत के अनुसार पारस तो लोहा को केवल सोना बनाता है, पारस नहीं। किन्तु सद्गुरु अपने शरणागत को सद्गुरु ही बनाता है। कोई गुरु अपने शिष्य को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। गुरु बनाने का अर्थ है श्रेष्ठ, शुद्ध-बुद्ध एवं निर्मल बनाना। सद्गुरु ने स्वयं कहा है—"जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल

---

1. जो लोहा को सोना करे, सो पारस है कच्चा।
जो लोहा को पारस करे, सो पारस है पक्का।

की आस। मुझ ही ऐसा हो रहो, सब सुख तेरे पास।"[1] यहां सद्गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुम संसार की कामनाएं एवं आशाएं छोड़कर मेरे समान बन जाओ, फिर सब सुख तुम्हारे पास होगा।

"परख भया टकसार" सब की परख सत्संग में होती है। टकसाल वह स्थान है जहां सिक्के ढलते हैं। टकसाल प्रामाणिक स्थल है। टकसाल निर्दोष एवं खरी वस्तु को भी कहते हैं। जहां निष्पक्ष खरा-खरा निर्णय होता है उस सत्संग में ही सत्य तथा असत्य की परख होती है। शास्त्र, परम्परा, बड़ा जनसमूह, बड़े पुरुष आदि का पक्ष जहां होगा, वहां सत्यासत्य का निर्णय होना असंभव है। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय और मान्य हैं, परन्तु स्वविवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। हम शास्त्रों तथा महापुरुषों की बातों को भी अपने विवेक से ही समझते हैं। जहां स्वतंत्र विवेक का आदर है वहीं सच्चा ज्ञान है, वहीं सत्य है, वहीं मानवता है और वहीं कल्याण है।

"परख भया टकसार" वस्तुतः परख ही टकसार है। परख एवं पारख ही ज्ञान के लिए परम प्रमाण है। 'प्रमा' का अर्थ ज्ञान है और वह जिस साधन से हो उसको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव तथा ऐतिह्य[2] कुल आठ प्रमाण माने गये हैं। परन्तु परख प्रमाण सबके ऊपर है। परख ही टकसार है, परख ही खरा एवं चोखा ज्ञानपथ है। परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। एक चींटी भी बालू में से चीनी-कण परखकर निकाल लेती है। मनुष्य शरीर तो उत्तम भूमिका है। यहां जीव का परख-गुण अत्यन्त विकसित है। शर्त यह है कि व्यक्ति जड़संस्कारों एवं गलत भावनाओं में फंसकर अपने परख-गुण की उपेक्षा न करे। यदि मनुष्य सारे पक्षपात को हटाकर स्वतंत्र परख एवं पारख का उपयोग करे तो वह सत्य ज्ञान पाकर इसी जीवन में कृतार्थ हो जाये।

प्रेम और सत्य उपासनीय है

प्रेम पाट का चोलना, पहिर कबीरू नाच॥
पानिप दीन्हों तासु को, जो तन मन बोले साँच॥ 58॥

शब्दार्थ—पाट=वस्त्र। चोलना=साधुओं का लम्बा कुरता, अलफी, अंगरखा। कबीरू=काया में वीर जीव, मनुष्य। नाच=जीवन का व्यवहार करना। पानिप=ओप, दुति, कांति, चमक, मर्यादा। बोले=बोलना, वचन।

भावार्थ—हे मनुष्य ! प्रेमरूपी वस्त्र का अंगरखा पहनकर नाचो, अर्थात

---

1. साखी 298।
2. इनका विवरण कबीर दर्शन, अध्याय 3, सन्दर्भ 'प्रमाण' में देखें।

अपने जीवन के सारे व्यवहार प्रेमपूर्वक करो। यह विश्व-प्रकृति उसी के जीवन में चमक देती है और विवेकवान मानव भी उसी की मर्यादा करते हैं जिसके तन में, मन में और वचन में एक सत्य ही समाया हो॥ 58॥

व्याख्या—राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, चिंता-शोक, विकलता आदि में जीवन जीने वाले तो बहुत लोग हैं; किन्तु प्रेम में जीवन जीने वाला व्यक्ति दुर्लभ है। यदि सभी लोग प्रेम में जीवन जीने लगें तो यह धरती स्वर्ग बन जाये। ग्रंथकर्ता मानो अपने आप को ही सम्बोधितकर मानव मात्र को कहते हों कि हे कबीर, प्रेम-पाट का चोलना पहनकर नाचो। यहां "नाचो' का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु 'लक्षणा' अर्थ है। ग्रंथकार ने भक्ति के नाम पर नाचने-कूदने को बुरा कहा है। उन्होंने 67वीं रमैनी में कहा है—"देह हलाय भक्ति नहिं होई। स्वाँग धरे नर बहु विधि जोई॥" अर्थात अनेक प्रकार से स्वांग बनाकर भक्ति के नाम पर जो देह हिलाया एवं नाचा-कूदा जाता है, इससे भक्ति नहीं होती।

यहां नाचने का अर्थ है अपने जीवन का व्यवहार करना। "प्रेम पाट का चोलना, पहिर कबीरू नाच।" इस पंक्ति के अलंकार को हटाकर सीधा अर्थ होगा 'हे मानव, सबसे प्रेम का व्यवहार करो।'

संसार में प्रेम दुर्लभ वस्तु है। परिवार या समाज के नाम से संसार में कई मनुष्य एक साथ रहते हैं, परन्तु वे वहां परस्पर प्रेमपूर्वक रहते हों, यह बहुत बड़ी बात है। किसी युवक-युवती की पारस्परिक आसक्ति प्रेम नहीं है। वह मोह है। प्रेम में निष्काम भावपूर्वक सेवा की जाती है, मोह में भोग पाने की भावना होती है। प्रेम तक पहुंचने में स्वार्थ का परदा है। जो व्यक्ति अपना स्वार्थ जितना कम कर देता है वह उतना ही प्रेम का व्यवहार अधिक कर सकता है। स्वार्थ को जीते बिना जीवन में प्रेम का उदय नहीं हो सकता। अपने झूठे अहंकार तथा झूठे स्वार्थ के व्यामोह में पड़कर लोगों में पारस्परिक प्रेम नहीं रह जाता। प्रेमविहीन जीवन रूखा तथा निराशाग्रस्त हो जाता है। जिस परिवार एवं समाज में व्यक्तियों में परस्पर प्रेम नहीं है, वहां कलह, कटुता, आपाधापी एवं राग-द्वेष का ही बाजार गरम रहता है। जिसके जीवन में प्रेम का संचार नहीं है, जो मानव मात्र के प्रति प्रेम एवं जीव मात्र के प्रति करुणा नहीं रखता, उसका जीवन नहीं, श्मशान है। इसलिए सद्गुरु ने कहा है कि पोथी पढ़-पढ़ के जगत के लोग मर जाते हैं, परन्तु वे पंडित नहीं होते। जो प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ लेता है वह पंडित हो जाता है। "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।"

यदि हम परस्पर प्रेम का व्यवहार रखते हैं तो सूखी रोटी खाकर, फटे वस्त्र पहनकर और टूटी झोपड़ी में फटी चटाई पर सोकर भी सुख से रह

सकते हैं; और यदि हम अपने साथियों में प्रेम का व्यवहार न रखकर घृणा, द्वेष आदि का व्यवहार रखते हैं, तो कीमती भोजन, वस्त्र, आसन, आवास आदि का उपभोग करते हुए भी अशांत एवं नरक का जीवन बिताते हैं। हम जहां जायें, जितने प्राणी मिलें, सबको प्रेम की निगाह से देखें और सबसे प्रेम का व्यवहार करें, यही प्रेमपाट का चोलना पहनकर नाचना है। हमारे जीवन का सारा व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए।

सद्गुरु इस साखी में दूसरी बात कहते हैं "पानिप दीन्हों तासु को, जो तन मन बोले साँच।" यह प्रकृति, ये विश्व के नियम, यह संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था उसी के जीवन में तेज भरते हैं, उसी के जीवन को चमक देते हैं जिसके तन, मन और वचन में सत्य की प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य भूल कर सकता है, किसी के अपराध पर क्षमा भी कर सकता है क्योंकि वह ज्ञानवान है; परन्तु प्रकृति बेजान होने से न उसमें भूल होती है और न क्षमा-भाव। वह तो अनादि स्वतः स्वचालित कम्प्यूटर है। हम जो कुछ करेंगे उसका परिणाम वह हमारे सामने कर देगी। हमने किसी को गाली दी, हो सकता है वह ज्ञानी हो, हमें क्षमा कर दे। परन्तु हमारा मन हमें क्षमा नहीं करेगा। गाली देने से हमारे मन की मलिनता हमें कष्ट देगी। हम चार रोटी की जगह पांच या छह खायेंगे तो हमारी आंत हमें तुरन्त दण्ड देगी ही।

इसी प्रकार यदि हम शरीर से सत्य का आचरण करते हैं, वाणी से सत्य बोलते हैं और मन में सत्य की प्रतिष्ठा रखते हैं; अर्थात हमारे मन, वाणी तथा कर्म सत्य के बोध, भाव एवं आचरण से सम्पन्न हैं, तो इन सबका हमें प्रचार नहीं करना पड़ेगा कि लोग मुझे सत्यपरायण समझ लें। इसका परिणाम तो पूरी प्रकृति से हमें मधु मिलेगा। ऋग्वेद का ऋषि इसी स्थल के लिए तो कहता है—"ऋत एवं सत्य के पथ पर चलने वाले के लिए हवाएं मधु ढोती हैं, नदियां मधु बहाती हैं तथा वनस्पतियां मधु बरसाती हैं।"[1]

हमारा जीवन जितना असत्य में लिपटा होता है, उतना हमें सत्य के उत्तम फल से अविश्वास होता है। असत्य हो या सत्य, उसका फल मिलना अटल है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अविश्वास छोड़ दो और अपने तन, मन तथा वचन में सत्य का आचरण करो, तो पूरी सत्ता की ओर से तुम्हें प्रकाश मिलेगा, प्रकृति तुम्हारे पथ में आलोक फैलायेगी। संसार के समझदार लोग भी सत्यपरायण को ही प्रतिष्ठा देते हैं। सत्य अमोघ है, अटल है, अमृत है, कल्याणस्वरूप है, अतः हमें सत्यपरायण होना चाहिए।

इस साखी में दो बातें बतायी गयी हैं; पहली है सबसे प्रेम का व्यवहार

---

1. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (ऋग्वेद 1/90/6)

करना और दूसरी है अपने तन, मन और वचन में सत्य की प्रतिष्ठा रखना। इन दोनों का फल बताया गया है जीवन में चमक एवं मर्यादा की प्राप्ति। वस्तुतः प्रेम जीवन का उच्चतम सौंदर्य है और सत्य जीवन का प्राणतत्त्व। प्रेम और सत्य एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम में निस्स्वार्थता है, निस्स्वार्थता में सत्य है और जहां सत्य है वहीं प्रेम है। जिसका जीवन प्रेम तथा सत्य से परिपूर्ण है वह इस भवसागर से अपने तथा दूसरे के तरने के लिए जहाज है।

हम अपनी छाया से भयभीत हैं

दर्पण केरी गुफा में, स्वनहा पैठा धाय॥
देखि प्रतीमा आपनी, भूँकि भूँकि मरि जाय॥ 59॥

शब्दार्थ—गुफा=पहाड़ या जमीन में बना हुआ गढ़ा, कमरा, कक्ष। स्वनहा=श्वान, कुत्ता। प्रतीमा=प्रतिमा, छाया, प्रतिबिम्ब।

भावार्थ—मानो एक कुत्ता दौड़कर दर्पणों के किसी कक्ष में घुस गया और उन दर्पणों में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब देखकर तथा उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी एवं वैरी मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन की कलुषित भावनाओं की प्रतिछाया दूसरे लोगों में आरोपित कर, उनसे राग-द्वेष कर और लड़-झगड़कर अपने जीवन को बरबाद करता है॥ 59॥

व्याख्या—58वीं साखी में प्रेम और सत्य के व्यवहार की चर्चा की गयी थी। उसके विरोधी भाव की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य न तो अपने जीवन में प्रेम को स्थान देता है और न सत्य को; किन्तु वह अपनी मलिन भावनाओं को अपने आस-पास के लोगों में प्रतिबिम्बित करता रहता है। हम जितना असत्य तथा राग-द्वेष में लिप्त होते हैं उतना दूसरों पर संदेह करने वाले होते हैं। जैसे कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वैरी मानकर उससे लड़ता है, वैसे ही हम अपने मलिन मनोभावों के नाते दूसरों में संदेह करते हैं कि वे हमारे विरोधी हैं और फिर हम उनसे मोर्चाबन्दी करने लगते हैं।

हम अपनी मलिन भावनाओं के कारण अपनी छाया से ही भयभीत हैं। हमारी अनैतिकता, हमारे मन की मलिनता, हमारे मन की अपराधी भावनाएं हमें क्षमा नहीं कर सकतीं। कैकेयी राम से वन में मिलकर उनसे सांत्वना पाने के बाद भी अपने दुष्कर्मों के कारण सदैव अनुताप में जलती रहती थी। कहते हैं औरंगजेब मरते समय अपने मन में अपने ऊपर गायों तथा हिन्दुओं द्वारा हमला होते हुए देखता था, क्योंकि उसने अपने जीवन में गायों तथा हिन्दुओं

को खूब सताया था। हम कितना ही पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रोजा-हज्ज करते रहें और गिड़गिड़ाकर किसी ईश्वर से क्षमा मांगते रहें; किन्तु यदि हमारे जीवन में दुष्कर्म हैं तो हमारी अन्तरात्मा हमें कभी क्षमा नहीं कर सकती। पापी आदमी कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, आवास में सुख नहीं पा सकता। आदमी अपने मलिन भाव तथा मलिन आचरणों के कारण आप ही अपना शत्रु है तथा अपने पवित्र भावों तथा पवित्र आचरणों के कारण अपना मित्र है।

कुत्ते के प्रतिबिम्ब कुत्ते के शत्रु नहीं हैं। वह अपनी मूर्खता से उन्हें शत्रु मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मरता है। इसी प्रकार इस संसार में हमारा कोई शत्रु नहीं है। हम अपनी मूर्खता एवं मनोमालिन्य से दूसरों में शत्रुत्व की कल्पना कर राग-द्वेष एवं झगड़े-झंझट में अपने जीवन को नरक बनाते हैं। कोई अपने अज्ञानवश हमसे शत्रुता माने भी, परन्तु यदि हमारा मन पवित्र है, हम उसे शत्रु की निगाह से नहीं देखते तो वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हमारी दुर्भावना एवं हमारे दुष्कर्म के अलावा संसार में न हमारा कोई शत्रु है और न कोई हमारा कुछ बिगाड़ सकता है। मनुष्य अपनी ही अपराधी भावनाओं के छाया-पुरुष अपने चारों तरफ खड़ा करता रहता है और उन्हीं से भयभीत होकर जीवनभर कलह कर-कर मरता है।

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आपु दुहुँनमा सोय ॥
यह तत्त्व से वह तत्त्व है, याही से वह होय॥ 60॥

शब्दार्थ—प्रतिबिम्ब=बिम्ब की छाया, परछाईं। आप=स्वयं व्यक्ति।

भावार्थ—जैसे मनुष्य दर्पण में अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है, तो बिम्ब शरीर एवं प्रतिबिम्ब छाया—दोनों में उसी की ही सत्ता रहती है। बिम्ब-तत्त्व से ही प्रतिबिम्ब-तत्त्व बनता है, दर्पण में इस शरीर की ही छाया पड़ती है, वैसे जिस प्रकार हमारी मान्यता होती है, उसी प्रकार हमारी भावना बनती है॥ 60॥

व्याख्या—बिम्ब की सत्ता न हो तो प्रतिबिम्ब की सत्ता नहीं हो सकती। बिम्ब शरीर है, प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ी हुई शरीर की छाया है। शरीर में व्यक्ति की सत्ता है, तो मानो छाया में भी व्यक्ति की सत्ता है। जैसा बिम्ब होगा वैसा प्रतिबिम्ब होगा। यदि बिम्ब में अर्थात चेहरे में काला धप्पा लगा है तो प्रतिबिम्ब में भी धप्पा लगा होगा और यदि चेहरा साफ है तो छाया भी साफ होगी। हमारी मान्यताएं बिम्ब हैं और भावनाएं प्रतिबिम्ब हैं। जैसी मान्यता, वैसी भावना। यदि हमने किसी को शत्रु मान लिया है वह भले ही बहुत अच्छा आदमी हो, तो उसकी याद में हमारा मन अवश्य खराब होगा। जब हमें वह मिलेगा उसके लिए हमारी गलत भावनाएं सामने उभर आयेंगी।

यदि हमने किसी को मित्र मान लिया है तो उसकी याद में, उसके मिलने में, उसकी संगत में हमें आनन्द की अनुभूति होगी। हमारी सारी भावनाएं हमारी अवधारणाओं की छाया मात्र हैं। हम मलिन भावनाओं से तभी ऊपर उठ सकते हैं जब मलिन अवधारणाओं एवं मान्यताओं से ऊपर उठें। हमारी भावनाओं की गंदगी ही हमारा आध्यात्मिक पतन तथा हमारा नरक है और हमारी भावनाओं की पवित्रता ही हमारी आध्यात्मिक उन्नति है, हमारे जीवन का स्वर्ग है।

कीड़ी से कुंजर तक, पेट भरने की चिन्ता सबको है। पेट के लिए तो सब प्रयत्न करते ही हैं। मानव की सबसे बड़ी विशेषता है उसका अपने मन को पवित्र करना। मन की पवित्रता के समान संसार में कोई दूसरा सुख नहीं है। लोग अपने चाम के चेहरे को तो बारम्बार दर्पण में देखकर उसके दाग को दूर करते रहते हैं, परन्तु अपने मन के चेहरे को साफ करने की चिंता बहुत कम लोगों को है। यह मन का चेहरा ही प्रतिबिम्ब बनता है। यदि हमारा मन साफ है तो पूरा जीवन पवित्र, सुखद एवं शांतिमय होगा।

शास्त्रों से मानव श्रेष्ठ है

जोबन सायर मूझते, रसिया लाल कराय॥
अब कबीर पाँजी परे, पन्थी आवहिं जाय॥ 61॥

शब्दार्थ—जो=जो। बन=जंगल, वाणी का विस्तार। सायर=समुद्र, वेद-शास्त्रादि। मूझते=मुझ मनुष्य जीव ही से। रसिया=वाणी के रसिक। लाल=उत्तम मणि। कराय=किये। पाँजी=मार्ग। पन्थी=जीव।

भावार्थ—संसार में जो वाणी का वन एवं वाणी का समुद्र है वह मुझ-जैसे मनुष्यों से ही पैदा हुआ है। वाणी के रसिक लोग उसे लाल-मणि मानकर बिना विचार किये सांच-झूठ सभी वाणियों को प्रमाण रूप मानने लगते हैं। किसी वाणी के बन जाने के बाद लोगों के लिए वही रास्ता बन जाती है और पथिक लोग उसी के आधार पर जीवन-यात्रा करने लगते हैं, प्रायः विचार नहीं करते॥ 61॥

व्याख्या—संसार में वाणियों का विस्तार वन और समुद्र जैसा है। हजारों शास्त्र हैं और असंख्य वाणियां हैं। लिपिबद्ध एवं पुस्तकों के रूप में जो हैं वे तो हैं ही, मौखिक रूप से मनुष्य-समूह में जो गूंजती हैं उन वाणियों की भी कोई गणना नहीं हो सकती। इन वाणियों में कल्याणकारी तो थोड़ी हैं, विनाशकारी अधिक हैं। जिनसे विषय-वासनाओं और काम-क्रोधादि की ज्वाला प्रदीप्त हो ऐसी वाणियों का सर्वत्र बोलबाला है। धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी वाणियां बनी या बनती हैं, उनमें प्रायः विचार करने की छूट नहीं दी

जाती। धर्मशास्त्र के नाम पर एक बार जो वाणियां कह या लिख दी गयीं, उनमें चाहे जितना अनर्गल, बे-सिर-पैर की, हानिकारी एवं झूठी बातें हों, नकारी नहीं जा सकतीं। यदि उन्हें कोई नकारता है तो उसे नास्तिक, काफिर या अपवित्र करार दिया जाता है। उसको अधर्मी सिद्ध किया जाता है।

धार्मिक नामधारियों ने अपने मन की बेतुकी बातों को अपनी पुस्तकों में किसी काल्पनिक ईश्वर, पैगम्बर तथा अवतारों के द्वारा कहलवा लिया है। अब उन पर कोई विचार करता है तो वह गाली का पात्र बन जाता है। इसलिए शिक्षित और अशिक्षित दोनों मूढ़ बने हुए धर्मशास्त्रों के नाम पर अनर्गल बातें ढोते चले जाते हैं। इस दिशा में अशिक्षित से शिक्षित कोई बहुत भिन्न नहीं होते। सांसारिक शिक्षाएं कोई बड़ी बात नहीं हैं। मनुष्य थोड़े दिनों के अभ्यास से चिकित्सा, कानून, यंत्र, व्याकरण आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु उसका सब तरफ से निष्पक्ष होकर तत्त्व-विवेक करना बहुत बड़ी बात है। इसलिए अच्छे-अच्छे जज, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, शास्त्री, आचार्य, आई.ए.एस. गोबरगणेश बने हुए नाना चमत्कारों, अन्धविश्वासों तथा भौतिक उपलब्धि के लिए धूर्त सोखा-ओझाओं, तांत्रिकों, पूजा के बल पर सारी सिद्धि प्रदान करने वाले महात्मा एवं पंडित नामधारियों के चंगुल में फंसे हुए भटकते रहते हैं।

भूत-प्रेत की बातें, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार और फलितज्योतिष की बातें, ऋद्धि-सिद्धि की बातें, मन्त्र-तन्त्र तथा देवी-देवताओं की बातें जादू-टोना की बातें, भाग्य-विचार और राशिफल की बातें और इस तरह की सैकड़ों, अनर्गल बातें महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों में बड़े नामधारी लोगों की जुबान से एवं लेखनी से कहलवा तथा लिखवा दी गयी हैं। अब तो बस जनता का इस रास्ते पर चलना ही चारा रह गया है। वह विचार नहीं कर सकती। यदि विचार करती है तो परम्परा-विरोधी है, अपने धर्म तथा संस्कृति का नाशक है। और भी पता नहीं क्या-क्या गाली उसे दी जाती है। धर्मशास्त्र तथा महापुरुष एवं प्रभु के नाम पर हमारे पैर पकड़कर पीछे खींचे जाते हैं। हमें पुनः जंगली युग में ले जाने का प्रयास किया जाता है। वाणी के रसिक लोग धर्म के नाम पर कही गयी एक-एक बात को लाल-मणि के समान मान रहे हैं। परन्तु जो लिखा या छपा हो वह सब सत्य नहीं तथा जो कुछ चमकता हो वह सब सोना नहीं। हर बात पर विचार करना मानव का धर्म है।

क्रांतिद्रष्टा सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सारे वेद, शास्त्र, बाइबिल, कुरान तथा विश्व की सारी लिखित तथा अलिखित वाणियां मुझ-जैसे मनुष्यों की ही बनायी हैं। इसलिए सब पर विचार करना हमारा अधिकार है। मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई वाणी या ग्रन्थ रचा हो या रच

सकता हो। सारी वाणी-रचना मानव की है। इसलिए मानव का कर्तव्य है कि वह हर वाणी पर परख की कसौटी लगाये। सार को ले और अनर्गल बातों को निर्भय होकर छोड़ दे। निष्पक्षता एवं निर्भयता के बिना सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

उपर्युक्त साखी का एक अर्थ और किया जाता है। पहले वाले अर्थ में जोबन को 'जो बन' अलग-अलग करके पढ़ा जाता है। परन्तु दूसरे अर्थ में जोबन एक में पढ़ा जाता है और इसका अर्थ है जवानी। सायर का अर्थ समुद्र है ही। मूझते का अर्थ है मूर्च्छित होना। 'मूझना' मूर्च्छित होने को कहते हैं। घनानन्द ने लिखा है "सोचनि जूझत मूझत ज्यौं।"[1]

अतएव अर्थ हुआ कि जवानी के समुद्र एवं विषय-वासना की मूर्च्छा में पड़े हुए लोग विषय-भोगों को ही लाल-मणि मानकर उन्हीं की उपलब्धि में अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि पीछे से यह विषय-सेवन ही जीवन का रास्ता बन जाता है। इसी अध्यास-वश जीव बारम्बार जन्म-मरण के फेरे में घूमते हैं।

मनुष्य अपनी किशोर अवस्था में स्वतंत्र रहता है। यदि वह जीवनपर्यंत स्वतंत्र रहना चाहता है तो भी संसार के धुरंधर मायावी लोग उसे नाना भय और लालच दिखाकर विषय-वासना के खूंटे में बांध देते हैं। फिर तो वह संसार का चक्कर काटता रहता है। अतएव साधक को विषय-वासना का जाल स्वयं काटना होगा। इसके लिए अनासक्ति और निर्भयता की परम आवश्यकता है।

स्वरूपस्थ व्यक्ति ही सम्राट है

दोहरा तो नौ तन भया, पदहि न चीन्हैं कोय॥
जिन्ह यह शब्द विवेकिया, छत्र धनी है सोय॥ 62॥

शब्दार्थ—दोहरा=दो परतों का, दूसरा, विजाति, दुगुना, दोहा। नौ=नव, नवीन। पदहि=पद को, स्व स्वरूप चेतन को। छत्रधनी=राजा, स्वतंत्र, सुखी।

भावार्थ—जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर दूसरी एवं विजाति दृश्य-माया में मोह करता है, इसलिए उसे भव-सागर में भटकते हुए नये-नये शरीरों की प्राप्ति होती है। क्योंकि विजाति जड़-दृश्यों से हटकर कोई अपने चेतनस्वरूप को तो पहचानता नहीं। जो व्यक्ति उक्त बातों पर विवेक कर तथा जड़-दृश्यों का राग छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होता

---

1. मूझना, बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि., कबीर रोड, काशी।

है, वह स्वरूपस्थिति के उच्चासन पर आरूढ़ होकर स्वतंत्र, सुखी एवं सम्राट हो जाता है॥ 62॥

व्याख्या—दोहरा, दुगुना, दूसरा, द्वैत-जड़ दृश्य माया में राग करना ही भवधार में बहने का कारण है। जब हम अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर देह-गेह आदि में मोह करते हैं, तभी अपने पद से गिर जाते हैं। 'स्व' और 'पर' दो ही तत्त्व हैं। स्व चेतनस्वरूप है और पर जड़स्वरूप है। जब हम जड़ में लोभ करते हैं तब उसके मूल में अपने स्वरूप का विस्मरण ही है।

"पदहि न चीन्हैं कोय" कोई अपने पद को नहीं पहचानता कि मैं कौन हूं। संसार के अधिकतम लोग देह ही को अपना स्वरूप समझते हैं। मैं अजर, अमर, अखण्ड शुद्ध चेतन हूं यह विवेक न होने से मनुष्य देहाभिमानवश सदैव दुखी बना रहता है। देहाभिमान ही आध्यात्मिक दुर्बलता है। इसे त्यागकर स्वरूपज्ञान में प्रतिष्ठित होना महान बलवान हो जाना है। स्वरूप-विवेक, स्वरूप-स्मरण तथा स्वरूप-स्थिति आध्यात्मिक-उन्नति का उच्चतम शिखर है। इस अवस्था में पहुंच जाना ही सम्राट हो जाना है। स्वरूपस्थ व्यक्ति छत्रधनी है, बादशाहों का भी बादशाह है। जिसकी सारी कामनाएं बुझ गयीं और जो अपने अविनाशी राम में लीन है, वह सर्वोच्च है।

उक्त साखी का थोड़ा पाठान्तर से दूसरा भी अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'नौ तन' की जगह पर 'नूतन' पाठ है। इसका अर्थ है—मेरे दोहे नूतन हैं, नये हैं, परन्तु मेरे पदों को लोग नहीं समझते। जिन्होंने मेरे शब्दों पर विवेक किया है या करते हैं वे सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सम्राट हो जाते हैं।

पवित्रात्मा पुरुष प्रकाश-स्तम्भ है

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार॥
बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार॥ 63॥

शब्दार्थ—चन्दन की डार=मानवीय सद्गुण, चेतनस्वरूप की स्थिति। बाट=रास्ता।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं अपने मानवीय सद्गुण एवं आत्मस्वरूप की स्थिति में आरूढ़ होकर संसार के लिए भी सन्मार्ग बताये जा रहा हूं। यदि संसार के लोग बताये हुए सन्मार्ग पर नहीं लगेंगे तो हमारा क्या नुकसान करेंगे, अपना ही अहित करेंगे॥ 63॥

व्याख्या—मानवीय सद्गुण तथा स्वरूपस्थिति के समान कोई सुगंधी नहीं है। परन्तु उदाहरण के लिए चन्दन के सिवा और किसका नाम लिया जाये! अतएव सद्गुरु ने यहां चन्दन की डाली का सुन्दर रूपक दिया है।

मानवीय सद्‌गुण एवं स्वरूपस्थिति चन्दन की डाली है जिसमें हर समय सुगंधी है। दया, शील, क्षमा, करुणा, संतोष, सत्य आदि मानवीय सद्‌गुण हैं और सारी जड़ वासनाओं को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप में स्थित हो जाना स्वरूपस्थिति है। सद्‌गुरु इस दशा में स्थित हैं और इसी मार्ग पर लाने के लिए वे संसार के लोगों को पुकार रहे हैं। जो व्यक्ति उनके वचनों पर ध्यान देगा, उन्हें सुन-विचारकर उनका आचरण करेगा, वही कृतार्थ हो जायेगा।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जो मेरी बातों पर ध्यान नहीं देगा, वह मेरा क्या बिगाड़ेगा ! वह अपना ही नुकसान करेगा।

"बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार" यह मजबूरी संसार के सभी महापुरुषों के सामने थी और आज भी है। हमारे बीच महापुरुष आते हैं, परन्तु हम अपने प्रमादवश उन्हें नहीं समझ पाते। उनके बताये हुए सन्मार्ग पर चलना तो दूर, हम उनके प्रति द्वेष-भाव कर अपने अन्तःकरण को बिगाड़ते हैं। संसार के सभी महापुरुषों की अवहेलना करने वाले लोग उनके सामने ही थे। परन्तु इसको लेकर उन्होंने अपना काम बन्द नहीं किया। वे स्वयं अपने शुभ-मार्ग पर चलते रहे और दूसरों के लिए सत्प्रेरणा देते रहे। जो उनकी ओर ध्यान दिये वे उनसे लाभ लेकर अपना कल्याण करते रहे।

पवित्रात्मा पुरुष मानव-समाज के लिए प्रकाशस्तंभ होते हैं। यदि सच्चे ज्ञान एवं पवित्र रहनी से संपन्न पुरुष हमारे बीच में होते हैं तो वे हमारे लिए एवं मानव-समाज के लिए अमोघ वरदान होते हैं। ज्ञान तथा सद्‌गुण की बात कहने वाले लोग तो हमें बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो उनके आचरणों से संपन्न हों, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं। यदि ऐसे पुरुष हमारे बीच हों तो वे हमारे लिए प्रेरणास्रोत हैं और हमारा परम सौभाग्य है। अतएव हमें महापुरुषों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को ऊपर उठाना चाहिए।

सत्य सर्वोपरि उपलब्धि एवं सुख है

सब ते साँचा भला, जो साँचा दिल होय॥
साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय॥ 64॥

शब्दार्थ—नाहिना=नहीं है।

भावार्थ—यदि हम अपने हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा कर सकें तो सत्य के समान संसार में अन्य कोई उपलब्धि नहीं है। चाहे कोई करोड़ों उपाय करे, किन्तु सत्य ज्ञान एवं सत्य आचरण के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता॥ 64॥

व्याख्या—लोग कहते हैं कि झूठ के बिना काम नहीं चलता। परन्तु उन्हें

समझना चाहिए कि वे झूठ को भी सत्य के आधार पर ही चलाते हैं। वे झूठ बोलकर भी यही कहते हैं कि यह सत्य है। यदि यह कह दिया जाये कि जो मैं बोल रहा हूं वह झूठ है तो उसे कौन मानेगा !

लोग विवाह-शादी में झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। इसमें झूठ बोलना धर्म समझते हैं। व्यापार तो बिना झूठ के चल ही नहीं सकता, यह बात मन में पहले ही पक्की कर ली जाती है। वस्तुतः हम झूठ बोल-बोलकर एक दूसरे के लिए इतने अविश्वासी हो गये हैं कि इसको लेकर हमें और झूठ बोलना पड़ रहा है। हम झूठ बोलकर दूसरों को धोखा देते हैं और दूसरे लोग झूठ बोलकर हमें धोखा देते हैं।

हम झूठ बोलकर रात-दिन चाहे जितना राइट-रांग करते हों, परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति झूठ बोलकर हमें धोखा देना चाहे और हम इस बात को समझ सकें तो हम उसे पसन्द नहीं करेंगे। जो लोग व्यापार में प्रतिदिन हजारों-लाखों का गोलमाल करते हैं वे ही अपने नौकर द्वारा दस पैसे की चोरी पर उसे डण्डे से मारते हैं। हमें अपना झूठ भले पसन्द हो, परन्तु हमारे अपने तयीं दूसरों द्वारा किया गया झूठा व्यवहार कतई पसंद नहीं होता। जब हम अपने लिए किसी द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहते, तब यह भी बात समझ में आ सकती है कि कोई भी अपने लिए दूसरों द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहता। मानवता का अर्थ यही है कि हम दूसरों द्वारा अपने लिए जैसा व्यवहार चाहते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरों के लिए करें। हम अपने लिए दूसरों द्वारा सत्य और निश्छल व्यवहार चाहते हैं, अतएव हम भी दूसरों के साथ सत्य एवं निश्छल व्यवहार करें।

सद्गुरु इस साखी में कहते हैं कि सत्य सबसे भली वस्तु है। सत्य क्या वस्तु है? वस्तु का सत्य ज्ञान, सत्य भावना, सत्य वचन एवं सत्य आचरण; ये चतुर्विध सत्य की धारणा ही सत्य को ग्रहण करना है। पहली बात वस्तु का सत्य ज्ञान है। जड़ और चेतन के उनके अपने गुण-धर्मों के सहित उन्हें तत्त्वतः समझ लेना सत्य ज्ञान है। पानी कोई देवता बरसाता है यह असत्य ज्ञान है। जड़ प्रकृति की अपनी अनुकूल योग्यता से पानी बरसता है। जब उसकी अनुकूल योग्यता नहीं रहती तब नहीं बरसता। यदि कोई देवता बरसाये तो आवश्यकतानुसार बरसाये। देव चेतन होने से वह अतिवर्षण एवं अवर्षण नहीं कर सकता जिससे प्राणियों को कष्ट हो। परन्तु देखा जाता है कि कहीं अतिवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र बह जाता है और कहीं अवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र सूखा और अकाल से कराहता रहता है। वर्षा, शीत, धूप, ओला, पाला, नदी-झरना का बहना, वनस्पतियों का उगना, बढ़ना, उनमें फूल-फल का आना, छह ऋतुओं का परिवर्तन होना, भूचाल आना, ज्वालामुखी का

फूटना तथा और सारी जड़ प्रकृति से होने वाली घटनाएं किसी चेतन देव, भूत, प्रेत आदि की अपेक्षा नहीं रखतीं। जड़ तत्त्वों के उनके गुण, धर्म एवं क्रियादि उनमें अंतर्निहित हैं, जिनसे जड़ात्मक सृष्टि अबाध गति से चलती है। जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन असंख्य हैं जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं। वे जड़-वासनावश देह धारणकर संसार में भटक रहे हैं। मनुष्य शरीर में स्वरूपज्ञान पाकर तथा वासना का त्यागकर वे मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य, पशु, अण्डज तथा उष्मज के अलावा देव, भूत, प्रेत आदि कोई योनि एवं खानि का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य के अलावा मनुष्य का कोई उद्धारक नहीं है। अपने कर्मों से ही अपना उत्थान या पतन, बंध या मोक्ष है। प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध संसार में जितनी बातें चमत्कारिक रूप में मान्य हैं वे सब मनुष्य के अज्ञान से फैली हैं। चमत्कारों के मूल में धूर्तता है या मूर्खता। इस प्रकार जड़-चेतन को उनके अन्तर्निहित गुण-धर्मों के द्वारा ठीक से समझना सत्य ज्ञान है।

दूसरी बात है सत्यभावना। हम जिस वस्तु को जिस तरह समझते हों उसको उसी तरह मानें। झूठी मान्यताओं को मन में कभी स्थान न दें। हमारा मन वस्तुपरक होना चाहिए, कल्पनापरक नहीं। सत्यज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिल जाने पर आगे वचन तथा आचरण में भी सत्य प्रतिष्ठित होता है। मन मूल है। उसके बाद वचन तथा क्रियाएं हैं। अतएव प्राप्त सद्ज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिलना चाहिए। हमारा मन सत्यज्ञान से ओत-प्रोत होना चाहिए।

तीसरी बात है सत्यवचन। हम जिस वस्तु को जैसे सुने हैं, जैसे जानते हैं, जैसे मानते हैं उसे ठीक उसी प्रकार कहना सत्य-वचन है। लोग थोड़ी-थोड़ी बातों में झूठ बोलते रहते हैं। कितने लोगों का झूठ बोलना उनके जीवन का नियम ही होता है। कितने लोग कभी-कभी अपवादस्वरूप झूठ बोलते हैं। कुछ लोग जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलते। वे सब समय हृदय को सरल एवं निश्छल रखते हैं और हृदय में जैसी बात है वैसी ही कहते हैं। प्रश्न होता है कि किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए झूठ बोलना ठीक है या नहीं। मेरे विचार से ऐसी जगह झूठ बोलना भी यदि पाप हो तो भी यह पाप करके निरपराध प्राणी की जान की रक्षा करनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम सत्य बोलने में श्रद्धा करें।

चौथी बात है सत्य का आचरण। सत्य को जान या कहकर ही न रह जायें, उसका जीवन में आचरण करें। हम यदि समझ लिये हैं कि व्यभिचार, हत्या, चोरी, परनिंदा, द्वेष, काम, क्रोधादि गलत हैं, तो हमें चाहिए कि इनसे दूर रहने के प्रयत्न में लगे रहें और दया, क्षमा, शील, संतोष, परसेवा,

ब्रह्मचर्य, वासना-निवृत्ति आदि यदि सत्य-पथ हैं ऐसी समझ हो गयी हो तो इनका हम अनुसरण करें।

इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि सत्य को हम अपने जीवन में धारण कर सकें तो इसके समान कोई उपलब्धि नहीं है। इसके बिना जीवन में सच्चा सुख मिल भी नहीं सकता। इन्द्रिय-भोग-विलास एवं मिथ्या ममता एवं स्वार्थ में हम जितना चिपके रहते हैं उतना सत्य से दूर रहते हैं और झूठ का आश्रय लेते हैं। जब हम स्वार्थ को जीत लेते हैं तब झूठ से दूर तथा सत्य में लीन हो जाते हैं। सत्यज्ञान, सत्यभावना, सत्यवचन एवं सत्याचरण से संपन्न व्यक्ति भीतर-बाहर स्वस्थ, सदैव प्रसन्न, आनंदित एवं निर्भय होता है। इसके सुख के आगे जगत के सारे सुख तुच्छ हैं। उसकी आत्मा सत्य के व्यावहारिकस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती है। उसके समान न कोई देवता है, न ईश्वर है, अपितु वही सर्वोच्च देवता है, ईश्वर है और गुरु है।

महाभारतकार कहते हैं कि जो वेदों को जानता है वह वेदों के उस भेद को नहीं जानता जो जानने योग्य है। जो सत्य में स्थित है वही वेदों के जानने योग्य भेद को जानता है।[1] वे कहते हैं कि वेदों का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्म-संयम है, आत्मसंयम का रहस्य मोक्ष है, यही संपूर्ण शास्त्रों का सार है।[2] रामायणकार श्री राम से कहलाते हैं कि संसार में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदैव सत्य पर ही टिका रहता है। सबका आधार सत्य है। सत्य से पृथक कहीं परमपद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या, वेद—सब सत्य पर ही ठहरे हैं। अतएव सबको सत्य में अनुरक्त होना चाहिए।[3]

साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि॥
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि॥ 65॥

शब्दार्थ—सौदा=खरीद-बेची, माल। हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो सफेद चमकवाला और अत्यन्त कठोर होता है, तात्पर्य में सत्यज्ञान एवं कल्याण।

भावार्थ—अपने मन में जान-समझकर असली माल खरीदो और बेचो,

---

1. यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम्।
   सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥ महाभारत, सनत्सुजातीय पर्व॥
2. वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
   दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ महाभारत, शांतिपर्व 299/13॥
3. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
   सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
   दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
   वेदाः सत्य प्रतिष्ठा नास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥ (वाल्मीकीय रामायण 2/109/13-14)

अर्थात सत्यज्ञान को लो और दो। सच्चे और निश्छल मन वाले होकर ही सत्यज्ञान एवं कल्याण पाओगे। झूठ का आश्रय लेने से तो मूलधन की भी हानि होगी। अर्थात असत्य बातों में पड़कर तो साधारण जीवन का सुख भी नष्ट हो जायेगा॥ 65॥

व्याख्या—कुछ लोग व्यापार शुरू करते हैं तो वे अपनी दुकान एवं गोदाम में ज्यादा नकली माल रखते हैं। वे असली माल में भी नकली माल मिला देते हैं। खाने-पीने की वस्तुओं एवं दवाओं में भी नकली माल मिला देते हैं। यहां तक कि हानिकर चीजें मिला देते हैं। ऐसे नराधम एवं पापी लोगों के लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। उनको जीवन में शांति तो मिल ही नहीं सकती। उनका व्यापार भी कुछ दिनों में बैठ जाता है और यदि उनकी धांधलेबाजी ज्यादा दिनों तक चलती रही, तो भी यह पक्का समझ लो कि इस प्रकृति के क्षेत्र में न्याय में देर भले हो, अन्धेर नहीं है। कारण-कार्य की ऐसी स्वचालित व्यवस्था है जिसमें अपने कर्म के फल-भोग आने ही हैं। लहसुन-प्याज खाने वाले को दुर्गंधी की डकार आयेगी ही। जो व्यापारी अधिक मुनाफे के लोभ में पड़कर अपने ग्राहकों को कच्चा माल देकर सच्चे माल के पैसे लेगा, तौल-नाप में कम देगा, डांड़ी-पसंगे मारेगा या अन्य ढंग से ठगेगा, उसका कुछ दिनों में व्यवहार भी बिगड़ेगा और धर्म तो उसका बिगड़ा ही है। अतएव व्यापारियों को चाहिए कि वे माल सच्चा रखें। अपने ग्राहकों को ईमानदारी से सौदा दें। उनसे उचित मुनाफा लें। ऐसा सच्चा सौदा करने वाले का व्यापार स्थायी होगा। उसके लोक-परलोक दोनों बनेंगे।

संसार में कुछ गुरु नामधारी भी पक्के धूर्त होते हैं। जैसे दो नम्बर के धंधा के बिना व्यापार में धन नहीं बढ़ता, वैसे दो नम्बर के प्रचार के बिना उनका धर्म नहीं बढ़ता। उनका धर्म है धन और अनुयायियों की भीड़। ऐसे धूर्त गुरु स्वयं या अपने अनुयायियों द्वारा खुद को अवतार घोषित करते या करवाते हैं, अपने सम्बन्ध में चमत्कार का प्रचार करते या करवाते हैं, नाना सनसनीखेज बातें अपने लिए लिखते या लिखवाते तथा कहते या कहलवाते हैं। ऐसे धूर्तों के चक्कर में केवल अनपढ़ मूर्ख ही नहीं पड़ते, किन्तु ज्यादा तो पढ़े-लिखे मूर्ख पड़ते हैं।

सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हुए बताते हैं "साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि" वे कहते हैं कि सत्य का सौदा करो। इसके लिए श्रद्धा-विश्वास रखो, किन्तु हर बात को अपने मन में जानने की भी चेष्टा करो। अपने विवेक से बातों को तौलो, परख की कसौटी लगाओ। चाहे शास्त्रों की बातें हों, चाहे गुरुजनों की और चाहे जनसमूह की, सबको ठोक-बजाकर, जांच-परखकर उनका ग्रहण या त्याग करो।

ध्यान रहे, तुम जितने पाप करोगे, उनका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। नदी-स्नान, मूर्ति-मंदिर-दर्शन, नाम-जप, तीर्थ-सेवन तथा अन्य कर्मकांडों से पाप कट नहीं सकते। किसी के पूजा कर देने से, आशीर्वाद दे देने से तुम्हें पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिल सकते। इनके लिए तुम्हारे प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ एवं सत्कर्म ही काम देंगे। सत्संग, सत्कर्म, सद्गुण, स्वरूपज्ञान-आत्मज्ञान यह सब सांचा सौदा है। इस सौदे को खरीदो।

"साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहू हानि" सच्चे दिल से निष्पक्ष एवं निर्भय होकर सत्य का सौदा करने पर ही सत्यज्ञान तथा शांति मिलेगी। जो झूठ का व्यापार करेगा, किसी दिन उसकी मूल पूंजी भी डूबेगी। इसी प्रकार अन्धविश्वास, चमत्कार एवं धूर्त गुरुओं की वाहवाही में पड़कर जो उनके कच्चे ज्ञान के चक्कर में पड़ेगा, उसका साधारण जीवन भी खराब होगा, आगे स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति का होना तो बहुत दूर है।

सुकृत बचन माने नहीं, आपु न करे विचार॥
कहहिं कबीर पुकारि के, सपनेहु गया संसार॥ 66॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य, सत्य, संत। आपु=स्वयं।

भावार्थ—लोग संतों के पवित्र एवं सत्य वचनों को मानते नहीं और स्वयं भी विचारकर सत्यज्ञान एवं सत्य आचरण ग्रहण करते नहीं। कबीर साहेब लोगों को बलपूर्वक पुकारकर कहते हैं कि संसार के लोग अपने जीवन को स्वप्न के समान व्यर्थ खोकर चले गये और चले जा रहे हैं॥ 66॥

व्याख्या—बृहत् हिन्दी कोष में सुकृत के इतने अर्थ किये गये हैं—पुण्य, सत्कर्म, दान, दया, पारितोषिक तथा सौभाग्य; विशेषण में इसके अर्थ इतने हैं—शुभ, सुविहित, भाग्यवान, ठीक तरह से किया हुआ, सुनिर्मित तथा जिसके साथ सदय व्यवहार किया गया हो। इस साखी की प्रथम पंक्ति का सार इतना ही है कि लोग संतों के पुण्य एवं सच्चे वचन नहीं मानते और स्वयं भी निष्पक्ष होकर विचार नहीं करते। सत्य के बोध के लिए दो ही तरीके हैं, एक तरीका है जिज्ञासु के सौभाग्य से उसे कोई ऐसे संत पुरुष एवं गुरु मिल जायें जो सारे पक्षपातों से रहित परम विवेकी हों और जिज्ञासु उनके वचनों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान दे। अथवा वह स्वयं इतना निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चिन्तनप्रवीण हो कि हर बात पर स्वतः तटस्थ होकर विचार करे। वस्तुतः सत्संग एवं स्वतः विवेक आवश्यकता दोनों की है। हमें गुरु-संतों के सत्संग-निर्णय का आधार भी चाहिए और अपना निष्पक्ष विवेक-बल भी चाहिए।

खेद यह है कि संसार के अधिकतम लोग न अपने विवेक का उपयोग करते हैं और न संत-पुरुषों का आधार लेते हैं। वे पशु-सदृश कमाते-खाते

और विषय-भोगों में जीवन व्यतीत करते हैं। शरीर धारण करके जो कल्याण का काम करना चाहिए उसे वे नहीं कर पाते हैं और एक दिन जीवन सपने की तरह समाप्त हो जाता है। जीवन में बौद्धिक और मानसिक संतोष प्राप्त हो तो जीवन सफल है। अन्यथा यह सपने के समान मिला और गया, हाथ में कुछ भी नहीं आया।

ज्ञान की आग

आगि जो लागि समुद्र में, धुवाँ न परगट होय॥
की जाने जो जरि मुवा, की जाकी लाई होय॥ 67॥

शब्दार्थ—समुद्र=अंतःकरण। लाई=लायी हुई, लाइ-आग।

भावार्थ—साधक के हृदयरूपी समुद्र में ज्ञान की आग लग गयी। इसमें तो धुआं प्रकट होता नहीं है कि बाहर से कोई आग का अनुमान कर सके। इस आग को वही जानेगा जो इसमें जलकर मर चुका है, अर्थात ज्ञानाग्नि से जिसकी सारी आसक्तियां जलकर समाप्त हो गयी हैं और वह जीवन्मुक्त हो चुका है या इसे वह सद्गुरु जानेगा जिसने इस आग को लाकर साधक के हृदय में लगायी हो॥ 67॥

व्याख्या—मनुष्य कहीं आग जलते हुए देखता है और उसके साथ यह भी देखता है कि उसमें से धुआं निकल रहा है। दूसरे समय में वही आदमी जब दूर से कहीं धुआं उठता हुआ देखता है, तो पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे धुआं देखकर वहां आग जलने का अनुमान होता है। फिर आदमी का यह ज्ञान सहज हो जाता है कि जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है।

साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगती है। इसमें धुआं नहीं प्रकट होता। इसलिए इस आग का ज्ञान दूसरों को नहीं हो पाता। इसीलिए अच्छे-अच्छे साधक और संतों को भी दूसरे लोग नहीं समझ पाते, अतएव उनके लिए वे गलत धारणा बनाये रखते हैं। कितने सज्जन लोग भी संतों एवं साधकों को नहीं समझ पाते। वस्तुतः यह आग स्वसंवेद्य है। यह जिसके हृदय में लगती है, वही जानता है। जैसे आग लगने पर वहां की सारी चीजें जल जाती हैं, वैसे जिसके हृदय-सागर में ज्ञान की आग लग जाती है उसके हृदय के सारे विकार जल जाते हैं। काम, क्रोध, लोभादि विकार ही तो जीव के लिए बंधन हैं और जब यही जल जाते हैं, तब बंधन समाप्त हो जाते हैं। जंगल में आग लगती है, समुद्र में नहीं, क्योंकि समुद्र पानी की राशि है। कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। वे यहां भी उलटवांसी कहते हैं, परन्तु अर्थ तो उनका सदैव सीधा होता है और मन पर चोट करने वाला।

हृदय में ज्ञान की आग लगी और सारे विकार जलकर समाप्त हो गये।

जीव का कल्याण हो गया। इसे कोई बाहर का आदमी जाने या न जाने, क्या अन्तर पड़ता है ! बाहर का आदमी जान भी नहीं सकता। उदाहरण साक्षी है। संसार के सिद्ध पुरुषों को कहां संसार के लोगों ने जाना है ! यदि वे उन्हें जान गये होते तो उनकी खिल्ली क्यों उड़ाते। महापुरुषों की कम कीमत आंकने वाले संसार में लोग रहे हैं। लोग अपने दिल को तो ठीक से समझ नहीं पाते, दूसरे के दिल को कैसे समझ पायें ! इसलिए दूसरे के विषय में अपनी कोई धारणा भी नहीं बनाना चाहिए।

जिसके हृदय में ज्ञान की आग लग चुकी है, और उसके सारे विकार जल चुके हैं, उसे इस बात को बाहर के लोगों को बताने की कोई इच्छा भी नहीं होती। क्योंकि इच्छाएं तो सारी जल चुकी होती हैं। मैं मुक्त हूं, यह कहने की उसे क्या आवश्यकता ! इसका रहस्य वह खुद जानता है या जिसने ज्ञानाग्नि लगायी, वह सद्गुरु जानता है। परन्तु सद्गुरु का काम भी समाप्त हो गया रहता है। इस अपने हृदय में लगी ज्ञानाग्नि का पूर्णतया बोध साधक को ही होता है। वह इसका प्रदर्शन नहीं करता। वह सदैव मस्त होता है। उसकी अपनी रस-गागरी से छलके हुए अनुभव-रस से कोई लाभ ले ले तो यह संसार का काम है। वह तो अपने आप में पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं आनन्दकंद होता है। सद्गुरु ने उसके लक्षणों में अन्यत्र कहा है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठि गँठियायो, बार बार वाको क्यों खोले॥
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरा भया तब क्यों तोले॥ 1॥
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले॥
हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले॥ 2॥
तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहेब मिलि गये तिल ओले॥ 3॥

लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरे॥
बलिहारी लावनहार की, छप्पर बाँचे घर जरे॥ 68॥

शब्दार्थ—लाई=लायी हुई, 'लाइ' आग को भी कहते हैं; तात्पर्य में प्रेम एवं ज्ञान की आग अर्थात लगन। लावनहार=सद्गुरु। पर=पंख, खानी-वाणी अर्थात स्थूल-सूक्ष्म माया तथा राग-द्वेष के पंख। बलिहारी=प्रशंसा। छप्पर=छाजन, तात्पर्य में छप्पर=छह के ऊपर—पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठां मन के ऊपर जीव। घर=अहंता-ममता।

भावार्थ—साधक के हृदय में लाकर लगायी हुई ज्ञान की आग सद्गुरु की है, जिसकी आग से साधक के स्थूल-सूक्ष्म माया के आसक्ति रूपी पंख या राग-द्वेष के पंख जल गये और जीव-पक्षी का संसार के विषयों में उड़ना

बंद हो गया। ज्ञानाग्नि लाकर लगाने वाले सद्गुरु की प्रशंसा है। इस ज्ञानाग्नि में छप्पर तो बच जाता है और घर जल जाता है अर्थात जीव का उद्धार हो जाता है और सांसारिक अहंता-ममता का घर जल जाता है॥ 68॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की बात-बात में सुन्दर अलंकार हैं, उलटवांसियां हैं, जो उद्बोधन के साथ हैं और पढ़ने वाले के मन को मोह लेते हैं। इस साखी की पहली पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि सद्गुरु ने आग लगायी और जीव के पंख जल गये। यह संसारी जीव स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्ति के पंख से संसार में उड़ता है। प्राणी-पदार्थों का मोह स्थूल माया की आसक्ति है और मान-सम्मान, ऋद्धि-सिद्धि, परोक्ष देवी-देवादि का मोह सूक्ष्म माया की आसक्ति है। इन्हें ही बीजक की भाषा में खानी-वाणी भी कहते हैं। ये स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्तियां मानो संसारी जीव के वे पंख हैं जिनके सहारे यह संसार के भ्रमजाल में उड़ता रहता है और इससे इसको कभी विश्राम नहीं मिलता। जब सद्गुरु साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगा देते हैं तब जीव के वे पंख जल जाते हैं जिनसे वह भटकता था। अतएव उसका भटकना बंद हो जाता है।

यह जीव जमीन, मकान, रुपये-पैसे, परिवार, समाज आदि प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में पड़कर ही तो भटकता है, परन्तु इनमें से क्या उसके हैं! यह ठीक है कि मनुष्य को जीवनभर इनका व्यवहार लेना पड़ता है, परन्तु एक होता है केवल कर्तव्यदृष्टि से एवं विवेकपूर्वक और दूसरा होता है लोभ-मोहपूर्वक। जहां लोभ-मोहपूर्वक होता है वहीं बंधन होता है। यह स्थूल माया की आसक्ति जीव को भटकाती है। दूसरी आसक्ति है मान-सम्मान की या यह व्यामोह कि हमसे अलग कोई देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा है और जब वह मिल जायेगा तब हम कृतार्थ हो जायेंगे। इसके लिए भी जीव भटकता है। जब साधक को सच्चे एवं पारखी सद्गुरु मिलते हैं और उसे यह लखा देते हैं कि तुमसे अलग न तुम्हारा कोई त्राता है, न उद्धारक है, न आश्रय है, न आनन्दधाम है। तुम ही तुम्हारे त्राता, उद्धारक, आश्रयस्थल एवं आनन्दधाम हो, तब साधक का संसार में उड़ना बंद हो जाता है। वह कहां जाये, क्या लेने जाये! बाहर तो उसका कुछ है नहीं। उसका जो कुछ अपना है वह उसका आत्मस्वरूप है। वह स्वयं ही अपना सर्वस्व है। अपने आप को पा जाने के बाद संसार में उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। अतएव सद्गुरुप्रदत्त ज्ञानाग्नि से जीव को भटकाने वाले राग-द्वेष, स्थूल-सूक्ष्म माया के पंख जल जाते हैं।

"छप्पर बाँचे घर जरे" दूसरी पंक्ति का यह महत्त्वपूर्ण कथन है। किसी भी मकान में आग लगने पर पहले छप्पर ही जलता है; क्योंकि वह घास-

फूस का होता है। परन्तु यहां तो घर जल गया और छप्पर बच गया। यहां भी शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है। यहां छप्पर का अर्थ है छह के ऊपर। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठां मन है। इन छहों के ऊपर सातवां चेतन जीव है। यही 37वीं रमैनी का सातवां सयान है जिसे सद्गुरु ने लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित करने की प्रतिज्ञा की है, और उसके आगे साखी में उसी को बीजक का गुप्त वित्त कहा है।[1] इस प्रकार छप्पर—छह (पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन) के ऊपर जीव है उसका उद्धार हो जाता है, क्योंकि ज्ञान की आग से अहंकार का घर जल जाता है। जीव अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या मान्यताओं का अहंकार कर लेता है। स्वरूपज्ञान उदय होने पर अहंकार का घर जल जाता है। "घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय" सद्गुरु का यह वचन भी इस बात को पुष्ट करता है। जो अहंकार का घर जला देता है उसका स्वरूपस्थिति-घर बच जाता है और जो अहंकार का घर बचाये रखता है उसका स्वरूपस्थिति-घर नष्ट हो जाता है। सारांश यह है कि संसार के देह-गेहादि की अहंता-ममता त्यागे बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु यहां तो सद्गुरु की ज्ञानाग्नि से अहंता-ममता का घर जल गया और जीव कृतार्थ हो गया।

"बलिहारी लावनहार की" इन सब में गुरु की सर्वाधिक प्रशंसा है जिसने ज्ञान की आग लाकर साधक के हृदय में लगायी। अतएव गुरु ही सर्वोपरि वंदनीय है।

जीव की सर्वोच्चता

बुन्द जो परा समुद्र में, सो जानत सब कोय॥
समुद्र समाना बुन्द में, सो जाने बिरला कोय॥ 69॥

शब्दार्थ—बिरला कोय=थोड़े लोग, कोई-कोई।

भावार्थ—बारिश में जो जल की बूंदें समुद्र में पड़ती हैं, उन्हें सब जानते हैं, परन्तु सूर्य की गरमी और वायु के संपर्क से समुद्र का जल वाष्परूप में उड़कर और बादल बनकर बूंद में समाया है इसे कोई बिरला जानता है। जीव ब्रह्म में लीन होता है इसे बहुत लोग कहते हैं, परन्तु ब्रह्म जीव ही में लीन है, अर्थात ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व जीव ही में निहित है, इस तथ्य को कोई बिरला जानता है॥ 69॥

व्याख्या—लोगों की मानसिकता को ऐसा लकवा मार गया है कि वे

---

1. सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥
साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित्त गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीवको, बूझै बिरला कोय॥ बीजक, रमैनी 37॥

घूम-फिरकर जीव को तुच्छ सिद्ध करते हैं और ब्रह्म को बड़ा। जीव स्वयं-प्रत्यक्ष है और ब्रह्म मन की कल्पना। परन्तु मनुष्य की प्रायः आदत है कि वह थाली के लड्डू छोड़कर मनःकल्पना के लड्डू खाना चाहता है। सारे वेद-शास्त्रों, ज्ञान-विज्ञानों तथा ईश्वर-ब्रह्म की भी कल्पना करने वाला जीव ही है। जीव यदि ब्रह्म की कल्पना न करता तो उसकी चर्चा ही कहीं नहीं होती। कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं वे जीव के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।

उक्त साखी के उदाहरण बूंद-समुद्र की घटना दोनों प्रकार से सत्य है। अर्थात बूंदें समुद्र में गिरती हैं तथा समुद्र भाप बनकर बूंद में समाता है। बूंदों का समुद्र में गिरना सब जानते हैं, परन्तु समुद्र का बूंद बनना समझदार लोग जानते हैं। कोई भी उदाहरण एक अंश में लिया जाता है। जीव से अलग ब्रह्म ऐसा कुछ नहीं है कि उसमें जीव लीन हो, परन्तु जीव स्वयं प्रत्यक्ष है जिसके मन में ब्रह्म की कल्पना विद्यमान है। संसार में हल्ला है कि जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है; परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह तो कोई समझदार ही समझेगा कि जीव से अलग ब्रह्म का कोई अस्तित्व नहीं है, जीव ही में ब्रह्मत्व लीन है।

'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जीव में बृहत् अर्थात् महान होने का बीज है। हम जिस ब्रह्मत्व की कल्पना करते हैं, जीव को हटा देने पर उसकी कल्पना ही संभव नहीं है। महान होने की सारी संभावनाएं जीव ही में हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जीव थे; जरथुस्त्र, सुकरात, लाओत्जे, मूसा, ईसा, मुहम्मद जीव थे; शंकर, उदयन, धर्मकीर्ति, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द जीव थे; वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी जीव थे; ज्ञान-विज्ञान के सारे अन्वेषक सब तो जीव थे। जीव के अलावा कौन है जिसने धरती पर आकर कोई ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप प्रदर्शित किया हो! सारे शास्त्र, सारी विद्याओं और सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक जीव है। जीव अपने स्वरूप को न समझकर संसार के विषय-भोगों की इच्छा करके भटकता है और जीव ही अपने स्वरूप को समझकर तथा सारी इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कृतकृत्य हो जाता है।

अतएव जीव ब्रह्म में नहीं लीन होता है, किन्तु ब्रह्मत्व जीव ही में लीन है। सोचने की शुरुआत ब्रह्म की तरफ से मत करो, किन्तु जीव की तरफ से करो। ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व, शिवत्व जीव के गुण हैं। इस संसार में जीव सर्वोच्च सत्ता है। सभी व्यक्तियों के भीतर 'मैं हूं' यह आभास करने वाला जीव ही है। जीव कृतार्थ एवं मुक्त हो जाने पर किसी ब्रह्म में लीन नहीं होता है, क्योंकि जीव से अलग कहीं कोई ब्रह्म नहीं है; किन्तु जीव में ब्रह्मत्व का, शिवत्व का,

श्रेष्ठत्व का, गुरुत्व का अर्थात उसके अपने चेतनस्वरूप का पूर्णतया उद्घाटन होता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है, सब तरफ से मुक्त हो जाता है। इनका अर्थ यही है कि जीव जान लेता है कि मैं स्वयं पूर्णकाम हूं, अखंड, शुद्ध-बुद्ध चेतन हूं, स्वभावतः परम तृप्त हूं और इस प्रकार जानकर तदनुरूप स्वरूपस्थ हो जाता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है। इस स्वरूपस्थिति को ही अपनी-अपनी भाषा में कोई कुछ कह ले। जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है, पर-स्वरूप में नहीं। पर-स्वरूप में किसी की भी स्थायी स्थिति नहीं होती।

जहर जिमी दै रोपिया, अमी सींचे सौ बार॥
कबीर खलक ना तजै, जामें जौन विचार॥ 70॥

शब्दार्थ—जहर=विष, विषय, कल्पना। जिमी=पृथ्वी, अंतःकरण। रोपिया=लगाया। अमी=अमृत, सत्योपदेश। खलक=जीवसमष्टि, लोक-समूह, संसार के लोग।

भावार्थ—यदि जमीन में जहर का पेड़ लगा दिया गया है तो उसे सौ बार भी अमृत से सींचने पर उसका जहर नहीं जा सकता। सद्गुरु कहते हैं कि इसी प्रकार जिसके मन में जो उलटे-सीधे विचार धंस जाते हैं, वे उसे नहीं निकालते, चाहे उन्हें सैकड़ों बार सत्योपदेश दिये जायें॥ 70॥

व्याख्या—लगता है कि पूर्व की 69वीं साखी का भाव मन में लेकर यह साखी कही गयी है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि लोगों के मन में ये विचार धंस गये हैं कि जीव से ब्रह्म अलग है, जीव तुच्छ है, ब्रह्म श्रेष्ठ है आदि। इतना ही क्या, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र-यंत्र, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार, दिशाशूल, ग्रहकोप, लग्न-मुहूर्त और भी नामालूम कितने भ्रम मनुष्यों ने अपने-अपने मन में पाल रखे हैं। इन सबके मिथ्यात्व पर कितना ही समझाओ, किंतु संसार के लोग कहते हैं, क्या पहले के लोग सब भूले थे, बड़े-बड़े पण्डित, ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा सब गलत थे जो यह सब सत्य कहते थे। लोग अपनी आंखों से देखना ही नहीं चाहते। "अंधे अंधा पेलिया, दोऊ कूप पराय" की बातें चरितार्थ करते हैं।

लोगों के मन अत्यन्त दुर्बल हैं। लोग अपने स्वरूप को पहचानकर तथा अपने आप को शुद्ध कर कृतार्थ होना नहीं चाहते; किन्तु अपने से अलग किसी सर्वसमर्थ की कल्पनाकर, उसके सामने रो-गिड़गिड़ाकर तथा घुटने टेककर कल्याण चाहते हैं, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। मैले कपड़े प्रार्थना करके साफ नहीं होंगे, किन्तु धुलकर साफ होंगे। कोई विद्यार्थी प्रार्थना एवं पूजा करके विद्वान, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा आई. ए. एस. नहीं होगा, किन्तु मेहनत से पढ़कर तथा अभ्यास करके होगा। यदि जीव तुच्छ है तो वह

किसी की प्रार्थना करके महान नहीं होगा। लोगों के मन में यह बात धंसी है कि जीव तुच्छ है। वह जब ईश्वर की प्रार्थना करेगा, उसकी भक्ति करेगा तब वह उसकी शरण पाकर महान हो जायेगा। यह भलीभांति समझ लो कि कोई किसी की शरण पाने मात्र से महान नहीं होता; किन्तु व्यक्ति में उन्नति की संभावनाएं रहती हैं तभी किसी का सहयोग पाकर उन संभावनाओं का उद्घाटन हो जाता है। जीव में शिवत्व अंतर्निहित न हो तो वह कभी भी शिव अर्थात कृतार्थ नहीं हो सकता। गुरु भी केवल प्रेरणा दे सकता है। जब व्यक्ति में बल होता है तभी वह उस प्रेरणा का भी सदुपयोग कर सकता है। प्रार्थना मन को कोमल बनाने का तरीका मात्र है। ज्यादा रोने-धोने से कुछ होने-जाने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वरूप को पहचाने, अपने आप को निर्मल करे। उसका अपना आपा शुद्ध चेतन है। वह केवल अपने आप को न पहचान कर सांसारिक वासनाओं के अधीन बना दुखी है। जब वह अपने आपा को पहचान लेगा और सांसारिक वासनाओं को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा, तब पूर्ण हो जायेगा। वह स्वयं ब्रह्म का ब्रह्म एवं परमात्मा का परमात्मा हो जायेगा। वह वही है ही, केवल पहचानना तथा ठहरना है।

मुमुक्षु की पुकार

धौंकी डाही लाकड़ी, वो भी करे पुकार॥
अब जो जाय लोहार घर, डाहै दूजी बार॥ 71॥

शब्दार्थ—धौं=एक प्रकार के पेड़ का नाम, जिसकी लकड़ी धीरे-धीरे जलती है, इसे जलाकर कोयला बनाया जाता है। डाहै=जलाना।

भावार्थ—जली हुई धौं की लकड़ी कोयला बनकर चिल्लाती है कि यदि मैं लोहार के घर गयी तो वह मुझे पुनः जलायेगा। अर्थात जन्म-जन्मान्तरों एवं गर्भवास से पीड़ित मुमुक्षु जीव सद्गुरु की शरण में पुकारता है कि हे सद्गुरु, अब मुझे संसार-सागर से बचा लो, अन्यथा यदि अज्ञानरूपी लोहार के हाथों में पड़ गया तो मैं उसके द्वारा पुनः संसार के तापों में जलाया जाऊंगा॥ 71॥

व्याख्या—धौं नाम के पेड़ की लकड़ी को पहले जलाकर कोयला बनाया जाता है। फिर वह कोयला जब लोहार के घर जाता है तब उसे लोहार पुनः जलाता है। सद्गुरु ने यह सुन्दर एवं सटीक रूपक मुमुक्षु के लिए दिया है। धौं की लकड़ी एक बार जलकर कोयला हो गयी है। अब मानो वह चिल्ला रही हो कि कोई मुझे लोहार के हाथों में जाने से बचा ले। अन्यथा

वह मुझे पुनः जलायेगा। कितना द्रावक रूपक है !

यह जीव अनादिकाल से संसार के तापों में जलता आ रहा है। गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु तथा संसार में शरीर धारण करके नाना कष्ट सहते हुए इसने असीम आंसू बहाये हैं। महात्मा बुद्ध ने कहा है—'भिक्षुओ, चारों समुद्रों में उतना पानी नहीं होगा जितना आंसू तूने अनादिकाल से प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग तथा नाना कष्टों में बहाया है।' संसार में तो थोड़ी तरुणाई आते ही सभी लोग विषय-वासनाओं की ओर अभिमुख होने लगते हैं। इस संसार में कोई-कोई सुज्ञ-संस्कारी जीव संसार के तापों एवं दुखों को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु की शरण में पुकार करते हैं। वे विषयों के ताप से बचकर सत्संग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं आध्यात्मिक साधना की शीतल छाया में विश्रांति चाहते हैं।

जीव अनादिकाल से संसार के दुखों में जलता आया है। अब यदि आज पुनः अज्ञान-लोहार के हाथों में पड़ेगा तो पुनः जलेगा। अज्ञानवश विषयों का बाहरी रूप अत्यन्त आकर्षक लगता है, परन्तु उसके भीतर सांप-बिच्छू, बाघ-सिंह के समान महान दुख भरे हैं। विषय-वासना पीड़ा है, फोड़ा है, दुख है, संताप है। परन्तु इसे ऐसा समझ पाना सबको बड़ा कठिन है। अनेक जन्मों का कोई दिव्य संस्कारी जीव ही विषयों की दुखरूपता को समझकर इनसे बच पायेगा और जीवनपर्यन्त इनसे अलग रहकर कृतार्थ हो जायेगा। विषयवासना ऐसी मोहक राक्षसी है कि व्यक्ति को मोहकर चूस लेती है और अन्त में निकम्मा बनाकर छोड़ देती है। वे धन्य हैं, वन्दनीय हैं तथा पूजनीय हैं जो इन भ्रामक एवं दुखपूर्ण विषयों से विरत होकर अविनाशी स्वरूप की स्थिति में लवलीन हैं।

बन्दीछोर छोड़ावहिं, मेटि मेटि यम फाँस।
धन्य धन्य सो जीव है, तजहिं महा भव गाँस॥

(पंचग्रन्थी, टकसार, साखी 266)

सभी वासनाओं का त्याग ही मोक्ष है

बिरह की ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुँधुवाय॥
दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय॥ 72॥

शब्दार्थ—बिरह=विरह, वियोग, जुदाई, वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ओदी=गीली। सपचै=धीरे-धीरे सुलगना। धुँधुवाय=धू-धू शब्द करना।

भावार्थ—जैसे पानी से भीगी गीली लकड़ी को जलाने पर वह धू-धू

कर सुलगती है, ठीक से जलती नहीं, उसका धू-धू कर सुलगना तभी समाप्त होता है जब वह पूर्णतया जल जाती है, वैसे जो व्यक्ति अपने सुख एवं लक्ष्य को अपने से अलग मानकर उसके वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है वह मन-ही-मन निरंतर सुलगता और रोता रहता है। इस दुख से वह तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं एवं कल्पनाएं जल जाती हैं॥ 72॥

व्याख्या—विरह का अर्थ ही होता है बिछुड़न या बिछड़ने के अनुभव की पीड़ा। जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह समझता है कि मेरा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष मुझसे अलग है। अलग मानकर वह उसको पाने के लिए निरंतर लालायित रहता है। अलग कुछ न होने से उसे बाहर से कुछ नहीं मिलता। परन्तु वह भ्रमजन्य वियोग के अनुभव की पीड़ा से सदैव पीड़ित रहता है। अपने माने हुए बिछुड़े सुख को कोई पांचों विषयों में खोजता है और कोई किसी परमात्मा एवं मुक्ति में। इस प्रकार उधर विषयी मनुष्य विषयों में सुख खोजते-खोजते एवं विषयों को भोगते-भोगते अन्त में दयनीय दशा को प्राप्त होते हैं। उन्हें सुख मिलता नहीं, किन्तु इच्छा, तृष्णा की वृद्धि एवं क्षीणता, रोग आदि का संताप मिलता है और वे अपने जीवन से निराश हो जाते हैं। इधर धर्म के क्षेत्र में पोथी-पाठ, तीर्थ-सेवन, मूर्ति-पूजन, नाम-जप, काया-तप, योग-याग आदि करते हुए लोग बाहर परमात्मा एवं मोक्ष को खोजते-खोजते सारी आयु गवां देते हैं। उन्हें बाहर से कहीं कुछ नहीं मिलता और वे अन्त में जीवन से निराश होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार न तो विषयी जीवों को विषयों में स्थायी सुख मिलता है और न धर्मी लोगों को जप-तपादि से बाहर परमात्मा एवं मोक्ष मिलता है। अतः ये दोनों ही जीवनभर सपचते और धुंधुवाते रहते हैं और व्यर्थ में पीड़ित होते रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय" यह जीव सारे दुखों से तभी बचेगा जब इसके मन की सारी वासनाएं-कल्पनाएं ज्ञानाग्नि से जलकर समाप्त हो जायेंगी। पहले तो मनुष्य को यह समझ लेना होगा कि हमारा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष हमारी अपनी आत्मा से अलग कुछ नहीं है। जब हमारे सुख से, परमात्मा से एवं मोक्ष से हमारा वियोग ही नहीं है तब वियोगजनित पीड़ा होने का प्रसंग ही नहीं है। जब मेरी अपनी आत्मा से अलग मेरा प्राप्तव्य हो तब तो मैं उसकी कल्पना, वासना या इच्छा करूं, और जब अलग मेरा प्राप्तव्य है ही नहीं तो मैं किसकी इच्छा करूं! सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना नहीं है, किन्तु दुखों से बचना है, और जीव दुखों से तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं, इच्छाएं जलकर समाप्त हो जाती हैं "दुख ते तबही बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय।"

जब तक कुछ भी पाने की इच्छा एवं वासना है तब तक दुख है और जब वासनाएं समाप्त हो गयीं तब सारे दुख समाप्त हो जाते हैं। यह दुखों का समाप्त हो जाना ही सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना है। क्योंकि पाना तो कुछ भी नहीं है। पायी हुई वस्तु मायिक तथा विजाति होती है, इसलिए उनका पुनः छूट जाना निश्चित रहता है। इस मिलने तथा छूटने के झमेले में पड़कर ही तो जीव नाना कष्ट झेल रहा है। मिलने के भ्रम में ही तो विरह-वियोग की आग में जीव जलता है। यह सारा उपद्रव स्वरूपज्ञान के अभाव का फल है। अतः हमें अपने पूर्णकाम चेतनस्वरूप को समझकर सारी वासनाओं से मुक्त हो जाना चाहिए तभी हमारी दुख से सर्वथा निवृत्ति हो सकती है।

विरही जीवों की दीनता

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि॥
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठे कराहि कराहि॥ 73॥

शब्दार्थ—औषध=स्वरूप-विचार। कराहि=पीड़ित।

भावार्थ—जिसको विरह का बाण लग गया है, अर्थात जो समझता है कि मेरा लक्ष्य मुझसे अलग है, उसको स्वरूप-विचार की औषधि नहीं लगती। वह तो अपने लक्ष्य को पाने के लिए सुबक-सुबककर रोता है, मूर्च्छित होता है, जागता है और अपने प्रियतम के वियोग की याद में बारम्बार कराह उठता है॥ 73॥

व्याख्या—संसार में यह भ्रम पालने वाले अधिकतम लोग हैं कि परमात्मा से हम बिछुड़ गये हैं। इस वियोग का हम जितनी तीव्रता से अनुभव करेंगे परमात्मा उतनी ही जल्दी हमें दर्शन देगा। जो लोग ऐसे गहरे भ्रम में पड़े हैं उनके सामने यदि स्वरूप-विचार की बातें करो कि तुम्हारा परमात्मा तुमसे अलग नहीं है, तुम्हारा आपा तुमसे बिछुड़ ही नहीं सकता, तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है, तुम्हें केवल सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में लौट आना है, तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चेतन हो, तुम वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, इत्यादि; तो यह औषध उनको नहीं लगती। वे तो परमात्मा को पाने के लिए रोने-पीटने में आनन्द मानते हैं।

लोग रोकर, गाकर तथा नाच-कूदकर ईश्वर को रिझाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। आज भी ईश्वर पाने के ऐसे सनकी हैं जो समझते हैं कि यदि हम ईश्वर के दर्शन के लिए हठपूर्वक पर्वत से कूद पड़ेंगे तो वह नीचे से हमें अपनी गोद में उठा लेगा। और जब वे जोश में कूद पड़ते हैं तब उनके हाथ-

पैर टूट जाने के अलावा कुछ नहीं होता।[1] ऐसा कोई ईश्वर होता तो कम-से-कम ईश्वर के नाम पर लड़ने वालों तथा खून-खराबा करने वालों को तो वह समझा-बुझाकर अब तक ठीक रास्ते पर ला ही दिया होता। यह सर्वसमर्थ ईश्वर व्यभिचार, चोरी, डाका, हत्या, आतंकवाद, मिलावटबाजी, कालाबाजारी, घूसखोरी एवं समस्त क्रूर-कर्मों को समाप्त कर संसार में आनन्द का राज्य कायम कर दिया होता। परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। संसार में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था व्याप्त है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है वह वैसा फल पाता है। उसके कर्मों के नियम ही उसे फल दे देते हैं। बस, संसार के शाश्वत नियमों को ही ईश्वर कह सकते हैं। इसके अलावा कोई ईश्वर नहीं, जो कहीं बैठा कुछ कर रहा हो या किसी के रोने-गाने से वह उसको आकर दर्शन दे तथा उसका कोई कल्याण कर दे। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे, अपने आत्मस्वरूप पहचाने और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आत्माराम में स्थित हो।

सत्य-शोधक सब समय रहते हैं

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार॥
चित्तहु दै समझै नहीं, मोहिं कहत भैल जुगचार॥ 74॥

शब्दार्थ—चित्तहु दै=ध्यान देकर। जुगचार=चारों युग, सब समय।

---

1. एक वैष्णव महात्मा राजस्थान, जिला बारां, तहसील किसनगंज के रामगढ़ पर्वत के बीच माला नाम की जगह में रहते थे। वे विरही भक्त थे, साथ-साथ भागवत-कथा भी कहते थे। वे भागवत में पढ़ते तथा कथा में भी कहते थे कि हृदय में बसने वाला आत्मा ही परमात्मा है, परंतु भागवत वर्णित ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं को भी सत्य मानते थे और उन्हें बड़े रसपूर्वक कहते थे

   उन्होंने एक दिन भक्ति-भावना के जोश में सभा में घोषणा कर दी कि अगली अमुक तिथि को यदि ईश्वर मुझे दर्शन नहीं देगा तो मैं आग में कूदकर जल मरूंगा।

   उन्होंने निश्चित तिथि को दोपहर तक अपने श्रोताओं तथा दर्शनार्थियों को आश्रम से बिदा कर दिया। उनके दो भक्त प्रह्लाद तथा श्रवण कुमार जो अधिक प्रेमी थे, हठपूर्वक आश्रम में रह गये।

   शाम हुई। महात्मा ने पहले से ही इकट्ठी की हुई सूखी लकड़ियों के ढेर में आग लगा दी। इसके बाद उन्होंने उच्च स्वर में पुकारा कि ईश्वर मुझे दर्शन दे, अन्यथा मैं इस आग में जल मरूंगा। उनके दोनों भक्त हाथ जोड़कर उनसे विनय करते रहे कि महाराज ! आप तो रोज यह भी कहते थे कि आत्मा ही परमात्मा है जो हृदय में है, फिर आप किस बाहरी ईश्वर के दर्शन का हठ करते हैं।

   महात्मा ने भक्तों को जोर से डांटा तुम लोग चुप रहो, और पुनः उन्होंने ईश्वर को दर्शन देने के लिए पुकारा, इसके बाद तीसरी बार पुकारा, और जब कोई ईश्वर आते नहीं दिखा तब महात्मा ने आग में छलांग लगा लिया और मिनटों में छटपटा कर जल मरे। यह घटना लगभग सन् 1970 की है।

भावार्थ—कबीर के वचन सत्य के परिचायक हैं, इसलिए हे मानव, तुम उनको हृदय में विचारकर समझो। सद्गुरु कहते हैं कि लोग ध्यान देकर समझते नहीं हैं, मेरे-जैसे उपदेष्टा सभी समय पर संसार को समझाते आ रहे हैं॥ 74॥

व्याख्या—"साँचा शब्द कबीर का" इसे ऊपरी तौर पर देखने से यह कबीर साहेब की गर्वोक्ति लगती है। परन्तु संसार में कभी-कभी ऐसे पूर्ण पुरुष होते रहते हैं जो अपनी बातों को संसार के सामने अधिकारपूर्वक कह सकते हैं। कबीर साहेब ऐसे ही संतशिरोमणि एवं पूर्ण पुरुथ थे जिनकी दृष्टि में सत्य और असत्य अलग-अलग साफ झलकते थे। इसलिए वे कह सकते थे कि मेरे शब्द, मेरे वचन सत्य के परिचायक हैं। परन्तु कबीर साहेब ने ऐसा कहकर यह नहीं कहा है कि मेरी बातें बिना विचार किये मान लो। वे कहते हैं "हृदया देखु विचार" यह उनका चैलेंज है कि मैं सत्य कहता हूं, इसलिए मेरी बातें अपने हृदय में विचारकर देखो। देखो सत्य है कि नहीं। यदि सत्य है तो मानो, अन्यथा छोड़ो। सद्गुरु ने इसी प्रकरण की 247वीं साखी में कहा है "सुनिये सबकी, निबरिये अपनी" सबकी बातें सुनो, परन्तु अपने विवेक से उनका निर्णय करो। असत्य को छोड़ो तथा सत्य को ग्रहण करो।

जिसका कोई कल्पित ईश्वर नहीं था, जिसका कोई अवतार या पैगम्बर नहीं था, जिसका कोई ईश्वरीय शास्त्र नहीं था तथा जिसका कोई मजहब नहीं था, वह निरपेक्ष कबीर अपनी कौन-सी बात संसार से जोर देकर मनवाना चाहेगा ! उसे क्या पड़ी है जोर-जबर्दस्ती करने की ! हां, उसने सारी भ्रांतियों को काटकर और धर्म एवं अध्यात्म पर छाये हुए सारे जालों को फाड़कर केवल सार-सत्य ग्रहण किया था और उस सार-सत्य को समाज के सामने साधिकार प्रदर्शित किया था और संसार के लोगों को ललकारा था कि तुम लोग भी मेरे सत्य-परिचायक वचनों का विचार करो, हार्दिक विचार करो, यदि सत्य लगता है तो उन्हें ग्रहणकर तुम लोग भी भ्रांतियों से मुक्त हो जाओ।

सद्गुरु कहते हैं "चित्तहु दै समझै नहीं" लोग चित्त देकर नहीं समझते। खरे निर्णयों पर ध्यान देकर उन्हें समझना नहीं चाहते, प्रत्युत अंधविश्वास की बातों में ही लीन रहते हैं। अन्ध-परम्परा एवं अन्धविश्वास की बातों में समझने की मेहनत नहीं रहती। वहां तो केवल मान लेने की बातें रहती हैं। "अन्धेनैव नियमाना यथान्धाः" उक्ति अनुसार वहां तो तो अन्धा अन्धे को चलाता है। वहां आंखों से देखकर चलना नहीं रहता, किन्तु अन्धों की भीड़ एक दूसरे को ठेलते हुए या दूसरे की पूंछ पकड़कर चलती है। भावनावादी लोग ध्यान देकर समझने का परिश्रम नहीं करना चाहते। क्योंकि खरी बातों

पर ध्यान देने से केवल भावना में मानी गयी बातें उड़ने लगती हैं और यह बात भावनावादियों को असह्य होती है। वे प्रकाश नहीं चाहते; क्योंकि प्रकाश में उनका अन्धकार समाप्त होने लगता है। ऐसे मताग्रही, पूर्वग्रही एवं परम्परा में चिपके हुए लोगों को सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

"मोहिं कहत भैल जुग चार" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे सत्य की बात कहते हुए चारों युग बीत गये। जो कबीर साहेब को अवतार मानते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनीन्द्र, करुणामय और कबीर नाम धराकर संसार में ज्ञान का प्रचार करने आते हैं, और वे जब आवश्यकता प्रतीत होती है तब संसार में आ जाते हैं, उनके लिए यहां अर्थ करना बड़ा सरल है। इस साखी से उन्हें अपनी मान्यता को फैलाने में सरलता मिलती है। परन्तु कबीर जैसे खरे पुरुष जिन्होंने सारे ढकोसलों एवं अवतारवाद का परदाफ़ाश किया है, स्वयं को अवतार बतायें यह संभव ही नहीं। वस्तुतः "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। 'मोहिं' केवल कबीर साहेब के व्यक्तित्व का वाचक नहीं है किन्तु समस्त सत्यद्रष्टा गुरुजनों के लिए है और 'जुग चार' का अर्थ कल्पित सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का वाचक नहीं है, किन्तु समय की व्यापकता का वाचक है। अतएव "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अर्थ होगा कि मेरे-जैसे लोगों ने सब समय सत्य बातें संसार के लोगों के सामने कहीं हैं। सत्य के द्रष्टा समय-समय पर होते आये हैं। परन्तु संसार के लोगों में से कम लोगों ने उनकी बातों पर ध्यान दिया है, अन्धविश्वास की बातों में ज्यादा लोग पड़े रहे।

इस पूरी साखी में सद्गुरु सत्य पर जोर डालते हैं। वे अगली साखी भी इसी क्रम में कहते हैं—

जीवन का सच्चा व्यापार

जो तू साँचा बाणिया, साँची हाट लगाव॥
अन्दर झारू देइके, कूरा दूरि बहाव॥ 75॥

शब्दार्थ—हाट=बाजार, सत्संग। अन्दर=अन्तःकरण।

भावार्थ—यदि तू सच्चे ज्ञान का व्यापारी है तो सत्संगरूप सच्चा बाजार लगा। विवेक-विचाररूपी बुहारी से अंतःकरण को बुहारकर भ्रांति एवं विकाररूपी कचड़े को दूर फेंक दे॥ 75॥

व्याख्या—मनुष्य को सच्चा व्यापारी होना चाहिए। व्यापार का अच्छा तरीका यह है कि सुबह पहले दुकान को झाड़ू से बुहारकर सारे कूड़े-कचड़े को दूर फेंक दे। उसके बाद दुकान में सच्चा माल लगाकर उसे उचित दाम

पर बेचे। तुम स्वयं किसी से धोखा नहीं खाना चाहते हो, इसलिए तुम भी किसी को धोखा न दो। किसी वस्तु में मिलावट न करो। माल अच्छा रखो। यदि दोयम-माल है तो उसे ग्राहक को बता दो कि दोयम-माल है और उसी प्रकार उसका कम दाम लगाओ। किसी प्रकार से किसी ग्राहक को धोखा न दो। ग्राहकों को देवी-देवता समझो। उन्हें सत्कारपूर्वक उचित दाम पर माल दो। जहां तुम्हें माल खरीदना हो, वहां तुम भी सच्चा माल खरीदो।

तुम्हारा यह जीवन भी एक व्यापार है और कहना चाहिए कि यही सच्चा व्यापार है। यदि कोई दस हजार रुपये लेकर व्यापार शुरू करता है और दो महीने में उसके पास आठ ही हजार रह जायें, चार महीने में छह हजार, आठ महीने में चार हजार, इस प्रकार मुनाफा तो उसे कुछ मिले न, बल्कि जमा धन भी खोता जाये और अन्त में सब रुपये समाप्त हो जायें, तो यह व्यापार सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार मनुष्य जितना प्रसन्न बचपन में रहता है, जवानी में नहीं, जवानी में जितना प्रसन्न रहता है उतना परिपक्वास्था में नहीं और बुढ़ापा तक तो उसकी प्रसन्नता पर दीवाला पिट जाता है। बाहर के व्यापार में तो बहुत लोग सफल देखे जाते हैं, परन्तु जीवन के व्यापार में अधिकतम लोगों का दीवाला पिटना ही देखा जाता है। व्यापार तब सफल माना जायेगा कि जितने रुपये लेकर व्यापार शुरू किया गया है दिन-प्रतिदिन उस धन में बढ़ोत्तरी होती जाये। इसी प्रकार जीवन-व्यापार उसी का सफल है जिसके जीवन में दिन-प्रतिदिन मानसिक प्रसन्नता, खुशी, आनन्द, निर्भयता आदि बढ़ते जायें। यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने जीवन में सच्चे माल की खरीद-बेची करने वाला हो।

सच्चे ज्ञान तथा अच्छे कर्मों का संग्रह ही जीवन का सच्चा व्यापार है। सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, जो तर्कयुत, युक्तियुत और विवेकसम्मत है तथा जिसमें कारण-कार्य-व्यवस्था के हस्ताक्षर हैं। अन्ततः सभी ज्ञानों का अंत स्वरूपज्ञान है। जिसने अपने आपा की पहचान नहीं की उसका बाहरी सारा ज्ञान थोथा है। दूसरा है अच्छे कर्मों का संग्रह। अपने इन्द्रिय तथा मन का संयम और दूसरे प्राणियों के साथ सहानुभूति का बरताव, यही अच्छे कर्म हैं। सच्चे ज्ञान से बौद्धिक संतोष मिलता है और अच्छे कर्मों से दिल को संतोष मिलता है। जिसके दिमाग तथा दिल दोनों संतुष्ट हैं उसी का जीवन-व्यापार सच्चा है।

सद्गुरु इसके लिए बताते हैं कि विवेक-विचार के झाड़ू लेकर अन्तःकरण के कूड़े-कचड़े सदैव बुहारते रहो। सुबह आंगन या घर बुहारने के बाद शाम को पुनः बुहारना पड़ता है। तुम जब अपने घर तथा आंगन बुहारते हो तब उनमें कुछ-न-कुछ कचड़ा निकलता है। इसी प्रकार अपने

अन्तःकरण पर ध्यान रखो। इसमें कुछ-न-कुछ मनोविकार के कचड़े आते रहने की संभावना रहती है। अतएव जीवन के सच्चे व्यापारी का यह परम कर्तव्य है कि वह विवेक-विचार के झाड़ू लेकर सब समय अपने अन्तःकरण को बुहारता रहे और उसके कचड़े को दूर फेंकता रहे। हवा से तथा रात-दिन के व्यवहार से घर-आंगन में कचड़े आते रहते हैं। इसी प्रकार अपने मन की कमजोरियों से तथा बाहरी प्राणी-पदार्थों के सम्बन्ध से अन्तःकरण में विकार आने की सम्भावना रहती है। अतएव साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। अधिक प्राणी-पदार्थों के व्यवहार से बचना चाहिए, और जितने प्राणी-पदार्थों का व्यवहार लेना पड़े उनमें सावधान रहना चाहिए।

जैसे व्यापार में कई गलत माल के व्यापार होते हैं, वैसे धार्मिक क्षेत्र में कितने गुरु-चेले ज्ञान-भक्ति के नाम पर अन्धविश्वास, चमत्कार, मिथ्या महिमा का ही आश्रय पकड़े हुए जीवन बिताते हैं। वे कर्मों का ज्यादा न सुधारकर पूजा-पाठ, जप-स्नान, तीर्थ-व्रतादि तक ही सीमित रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हें जीवन में सच्चा सुख, सच्ची शांति चाहिए तो तुम सच्चे अध्यात्म-पथ के व्यापारी बनो, सदैव मन को साफ रखो और सच्चे ज्ञान तथा पवित्र आचरण में निष्ठ रहो।

बुराइयों से बचने के लिए पांडित्य नहीं, सरल हृदय चाहिए

कोठी तो है काठ की, ढिग ढिग दीन्हीं आग॥
पण्डित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग॥ 76॥

शब्दार्थ—कोठी=मकान, शरीर, संसार। काठ=लकड़ी, जड़। आग=विषय-वासना, काम-क्रोध-लोभादि। झोली=राख। साकट=निगुरा, अशिक्षित।

भावार्थ—लकड़ी का मकान हो, उसमें जगह-जगह आग सुलगा दी गयी हो और उसमें जोरों से आग लग गयी हो। उसमें पंडित तथा अशिक्षित दोनों रहते हों। तुम्हें आश्चर्य होगा कि पंडित तो जलकर राख हो गये और अशिक्षित भागकर बच गये। यह शरीर तथा संसार काठ की कोठी है। इसमें विषय-वासना एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी आग जगह-जगह लगी है। पंडित, विद्वान एवं शिक्षित कहलाने वाले लोग अपने ज्ञान के मद में पड़कर इस आग में जलकर मरते हैं और सरल-हृदय अशिक्षित लोग इससे भागकर बच जाते हैं॥ 76॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपने सारे विचार प्रायः रूपकों एवं अलंकारों में कहते हैं। यहां शरीर तथा संसार के लिए काठ की कोठी का रूपक है तथा

कामादि विकारों के लिए आग का रूपक है। यह साखी की पहली पंक्ति का विषय है। काठ की कोठी में जगह-जगह आग का जलाना खतरे से खाली नहीं है। इस जड़-शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय के साथ विषयों के संस्कार हैं। मन विषय-वासनाओं से संस्कारित ही है। कहना चाहिए कि मनुष्य के रोम-रोम में विषय-वासनाएं भीनी हैं। बाहर भी जगह-जगह विषय-वासनाओं को उत्तेजना देने वाले शब्द, दृश्य आदि का बाजार गरम है। जीव ऐसे शरीर एवं संसार में रह रहा है, जहां सर्वत्र विषयों का बाजार लगा है। लोग काम, क्रोध, मोहादि की आग में जल रहे हैं।

"पंडित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में पण्डित भी हैं और अशिक्षित भी हैं, किन्तु पंडित तथा विद्वान लोग प्रायः अपने वाचिक एवं बौद्धिक ज्ञान की लफ्फड़बाजी में पड़कर वासनाओं तथा बुराइयों में जलकर मरते हैं और अशिक्षितों में कई सरल हृदय होने से संतों के विचार सुन तथा धारणकर बुराइयों की आग से भागकर बच जाते हैं।

सभी विद्वान तथा पंडित विपथगामी हों और सभी अशिक्षित सुपथगामी हों यह नियम नहीं है। सद्गुरु ने संसार की बहुतायत ऐसी दशा देखकर यह बात कही है। ज्यादातर पंडित और विद्वान लोग जीवनभर चिकनी-चुपड़ी बातें ही बनाते रह जाते हैं। वे अपने ज्ञान का प्रयोग प्रायः दूसरों को प्रभावित करने के लिए करते हैं या अपने दोषों को ढांकने के लिए। वे मसालची की तरह दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं प्रायः अंधकार में रहते हैं। घोट-छानकर तथा बोतल चढ़ाकर आज-कल विद्वान लोग अच्छी-अच्छी कविताएं लिखते हैं, मंच पर कविता पाठ करते हैं, अच्छे-अच्छे लेख लिखते हैं तथा सभा में स्पीच देते हैं। वे विचार देने में, वक्तव्य देने में बहुत माहिर होते हैं, परन्तु उन्हें सदाचरण से कोई मतलब नहीं होता। परन्तु प्रायः अशिक्षित तथा सीधे-साधे लोग थोड़े ज्ञान को पकड़कर उसका आचरण करने लग जाते हैं और वे अपने जीवन का कल्याण कर लेते हैं।

इस साखी का सार यह है कि इन विषय-वासनाओं एवं बुराइयों की आग से कोई केवल पांडित्य-प्रदर्शन द्वारा नहीं बच सकता। इसके लिए सरल हृदय होना चाहिए। गुरु-संतों के सामने अपने पांडित्य का प्रदर्शन छोड़कर भोला-भाला बन जाना चाहिए, तभी जीवन में कुछ प्राप्त हो सकता है। केवल बुद्धिमानी दिखाने एवं वाक्यबरबरता से मन और इन्द्रियां स्ववश नहीं होते। इसके लिए भक्त, साधक और सरल हृदय बनकर साधना करना पड़ता है।

यथार्थ सद्गुरु बिरले हैं

सावन केरा सेहरा, बुन्द परा असमान ॥

सारी दुनियाँ वैष्णव भई, गुरु नहिं लागा कान॥ 77॥

शब्दार्थ—जैसे सावन महीने में वर्षा की झड़ी लग जाती है और आकाश से मेघमालाओं द्वारा घनाकर जलबूंदें पृथ्वी पर गिरती हैं, वैसे संसार में गुरुओं के अपार दल हो गये हैं और उन्होंने वर्षा-बुन्दवत गुरु-मन्त्रों की झड़ी लगा दी है। इसमें संसार के प्रायः सारे लोग भक्त तो हो गये हैं, परन्तु सच्चे गुरु इनके कानों में सत्योपदेश नहीं दिये, अर्थात इन्हें सच्चे गुरु नहीं मिले॥ 77॥

व्याख्या—श्रावण की रिमझिम बारिश में सारा भू-क्षेत्र पानी से तरबतर हो जाता है। इसी प्रकार विविध गुरुओं के उपदेशों से संसार के लोग दीक्षित हो जाते हैं। किसी गुरु द्वारा मन्त्र दीक्षा पाकर दीक्षित हो जाना, वैष्णव एवं भक्त हो जाना एक अलग बात है, किन्तु सच्चे गुरु की शरण पाकर उनके सत्योपदेशों से सारी भ्रांतियों का कट जाना बिलकुल अलग बात है। कबीर देव कहते हैं कि सारी दुनिया के लोग भक्त तो हो गये, परन्तु क्या उन सबको सच्चे गुरु मिले हैं! "गुरुवा तो सस्ते भये, कौड़ी अर्थ पचास। अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।"[1] ऐसे गुरुओं से शिष्यों का कोई कल्याण नहीं होने वाला है। "गुरु तो ऐसा चाहिए, ज्यों सिकलीगर होय। जन्म जन्म का मूरचा, गुरु पल में डारे खोय॥"[2]

यथार्थ सद्गुरु वह है जो जड़-चेतन की वास्तविकता का ज्ञाता है, विषय-विकारों से मुक्त और स्वरूपज्ञान की स्थिति में रमने वाला है। वह स्वयं निर्बंध है और शिष्यों को निर्बंधता का रास्ता बताता है। जिसके जीवन से, वाणी से, संगत से, यहां तक कि याद से आध्यात्मिकता का प्रकाश मिले, वह सद्गुरु है। सद्गुरु वह व्यक्तित्व है जिससे आध्यात्मिकता का रस निरन्तर टपकता है। यह भी सच है कि हमारे में भी यह क्षमता होना चाहिए कि हम उसे पहचान सकें। किन्तु यह तथ्य है कि यदि ऐसा पूर्ण सद्गुरु मिल जाये और शिष्य में पात्रत्व है, उसे आध्यात्मिक भूख है तो यह निश्चित है कि वह कृतार्थ हो जायेगा। सूरज चकमक में आग उत्पन्न करता है, इसी प्रकार यथार्थ सद्गुरु का ज्ञान सत्पात्र में फलित होता है।

उठो जागो

ढिग बूड़ा उतरा नहीं, याहि अँदेशा मोहिं॥
सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं॥ 78॥

शब्दार्थ—ढिग=पास में। अँदेशा=अंदेशा, सोच, चिंता, शक, खतरा। सलिल=पानी।

---

1. पंचग्रंथी, मानुष विचार, मसला 4।
2. पंचग्रंथी, मानुष विचार, साखी 29।

भावार्थ—कल्याण के अत्यंत सन्निकट नर-शरीर ही में जीव डूब गया, अथवा अपने पास अन्तःकरण के ही संशय-समुद्र में डूब गया और पुनः उतराया नहीं। मुझे यही सोच है कि मोह की जल-धारा में तुम्हें कैसे नींद आ गयी !॥ 78 ॥

व्याख्या—इस साखी में 'ढिग' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। कोई मनुष्य दूर-दराज जाकर किसी नदी में डूब जाये तो अलग बात है। परन्तु रहने के निवास के पास में ही डूब जाये जहां सब प्रकार बचने के साधन हैं तो यह चिंता का विषय हो जाता है। यह जीव पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि खानियों में रहकर यदि पशुत्व एवं मूढ़तापूर्ण कर्मों में लीन रहता है तो यह स्वाभाविक लगता है; क्योंकि वहां विवेक नहीं है। परन्तु विवेक-साधनसंपन्न मानव-शरीर में आकर यदि जीव पशुत्व कर्मों में डूबकर अपने आप को खोता है तो यह विवेकियों के लिए चिंता का विषय है। यह मानव-शरीर कल्याण के निकट है। यहां जीव के उद्धार के लिए सत्संग, सद्ग्रन्थ, सद्विचारादि सब प्रकार के साधन हैं। किन्तु आश्चर्य है कि जीव इतनी योग्यता पाकर भी आत्म-कल्याण का काम न कर भव-बंधनों का काम करता है। जहां से वह तर सकता है, वहीं डूब रहा है।

'ढिग' का अभिप्राय अन्तःकरण भी है। जीव के सर्वाधिक निकट उसका अन्तःकरण है, उसके बाद इन्द्रियां, शरीर, फिर संसार के अन्य क्षेत्र हैं। अतः जीव का सबसे पास उसका अन्तःकरण एवं दिल है। जीव हर समय अपने अन्तःकरण के संशय-समुद्र एवं वासना-सागर में डूबता रहता है। तरने की जगह अन्तःकरण एवं दिल ही है। जब मनुष्य अपने मन के सागर से ऊपर उठ जाता है तभी वह कृतार्थ होता है। परन्तु खेद है कि वह मन के वासना-सागर में ही सदैव डूबा रहता है।

'ढिग बूड़ा' को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति नदी का बड़ा पाट तैरते-तैरते घाट के पास आ गया हो, और वहीं डूब जाये, वैसे कोई भक्त, साधक या साधु हो, वह लम्बे समय से साधना करते हुए अपनी बहुत-सी कमजोरियों को दूर करता हुआ कल्याण के निकट पहुंच गया हो और इसके बाद वह कुसंग-प्रेमी बनकर अपना पतन कर ले, तो यह सोचनीय स्थिति है।

मान लो कोई डूब गया तो डूब गया, परन्तु समय रहते हुए यदि "उतरा नहीं" तो "याहि अँदेशा मोहिं" होना स्वाभाविक है। फिसलनभरी नदी में पैर का फिसल जाना कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु उससे निकलने का प्रयास ही नहीं करना गलत है। नदी में तो गिरकर असमर्थता भी हो सकती है कि आदमी न निकल सके। परन्तु जीवन की फिसलन में ऐसी बात नहीं है। माना कि

जीवन फिसलन से भरा है; परन्तु मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह अपने आप को सभी फिसलनों से एकदम बचा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि चिंता का एक विषय तो यह है कि कल्याण के निकट आकर पुनः संसार-सागर में डूब जाना, और चिन्ता का दूसरा विषय है कि डूब गये तो डूब गये, परन्तु निकलने के लिए पुनः प्रयास ही न करना। किसी ने कितना अच्छा कहा है—"गिरते हैं शहसवार[1] ही, मैदाने जंग में। वे तिफ्ल[2] क्या गिरेंगे, जो घुटनों के बल चलें॥" अर्थात युद्ध क्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही समय पर गिर भी सकता है। वे बालक क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल पर चलते हैं। जो चलता है वह गिर भी सकता है किन्तु जो बैठा है वह क्या गिरेगा ! यदि कहीं कुछ गड़बड़ हो रहा है तो इसका अर्थ है कि वहां कुछ घटना घट रही है, वहां कुछ गतिविधि है, कुछ हलचल है। मुरदा क्या अपराध करेगा, अपराध जिंदा आदमी से ही हो सकता है, और वही कुछ मंगल का काम भी कर सकता है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सबसे ज्यादा अंदेशा और चिंता तो इस बात की है कि आदमी एक बार डूबकर फिर उतराया नहीं। उससे एक बार या कई बार भी गलती हो गयी तो हो गयी। उसे पुनः अपने आप को गलतियों से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

पानी में डूबा हुआ आदमी पुनः उतराया नहीं, तो कबीर साहेब ने वहां जाकर उससे प्रश्न किया "सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं?" अरे, क्या पानी की धारा में तुझे मोह की नींद आ गयी है? क्या तूने डूबना ही आनन्द मान लिया है? हमारी दशा यही है। हमने मोह की धारा में नींद लेना ही अच्छा मान लिया है। एक बार थोड़ा फिसल गये, तो आदमी सोचता है कि अब तो फिसल ही गये हो, अब तो जीवनभर कीचड़ में ही पड़े रहना है। अब उठना नहीं है कीचड़ में से।

लोगों की यह दुर्बलता देखकर कबीर साहेब को चिंता है। ऐसी चिंता भी होती है उसे ही जो ज्यादा संवेदनशील हो, सब समझता हो और करुणाशील हो। उन्हें लोगों के पतन पर करुणा है। परन्तु उनकी चिंता का उपयोग हमें करना चाहिए। हमें फिसलकर कीचड़ में पड़े नहीं रहना चाहिए। हमें कीचड़ में ही नींद नहीं लेना चाहिए। हमें जागना चाहिए।

कथनी से अधिक करनी तथा रहनी की आवश्यकता है

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय॥

---

1. 'शहसवार' का अर्थ है कुशल घुड़सवार।
2. 'तिफ्ल' कहते हैं बालक को।

सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय॥ 79॥

शब्दार्थ—साखी=दोहा छंद, साक्षी चेतन। चाल=आचरण, रहनी। सलिल=पानी, वासना। पाँव=धैर्य।

भावार्थ—लोग साखी-शब्द या ज्ञान के वचन कहते हैं अथवा मैं साक्षी स्वरूप चेतन हूं, यह कहते हैं, परन्तु इनके भाव हृदय में ग्रहण नहीं करते और इन भावों के अनुसार आचरण नहीं करते। नदी में पानी की जोरदार धारा बहती है, फिर वहां पैर कहां ठहरे, अर्थात अन्तःकरण में वासनाओं का जोर है फिर उसमें धैर्य कहां रहे !॥ 79॥

व्याख्या—साखी दोहा छंद है जिसकी दोनों पंक्तियों में शुरू-शुरू में तेरह-तेरह तथा अन्त-अन्त में ग्यारह-ग्यारह मात्राएं होती हैं। इसे लोगों ने दोहा कहा है और कबीर साहेब ने साखी कही है। साखी का अर्थ गवाह भी होता है जो किसी विवाद का प्रत्यक्षदर्शी होता है। उसी की कही हुई बातों का प्रमाण मानकर विवाद सुलझाया जाता है। साखी का तीसरा आध्यात्मिक अर्थ है साक्षी चेतन। सबके भीतर मैं के रूप में साक्षी चेतन निवास करता है। मैं साक्षी-देखनेवाला-द्रष्टा हूं।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग साखी, शब्द एवं ज्ञान के वचन तो कहते हैं, परन्तु उनके भाव हृदय में ग्रहण करना बड़ा कठिन मानते हैं फिर उन्हें आचरण में लाना और कठिन मानते हैं। तो ऐसी कमजोरी रखकर कोई ज्ञान की चर्चा मात्र से क्या कल्याण कर सकता है ! कबीर साहेब संसार में लम्बे समय तक रहे हैं। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की उम्र में अपना शरीर छोड़ा है। अतः इतनी लम्बी अवधि में उन्होंने अपने अनुयायियों में से ही अनेकों को देखा होगा कि साखी-शब्द तो खूब रट रहे हैं, परन्तु न उनके भाव को समझना चाहते हैं और न उनके अनुसार रहनी में चलना चाहते हैं। सब समय ऐसे लोग रहे हैं और आज भी हैं जो साखी-शब्दों, दोहा-चौपाइयों, मन्त्र-श्लोकों, इतिहास-पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के वचनों के धनी हैं। वे बहुत जानते हैं, बहुत बोलते हैं और निचोड़कर सार कह देते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में आचरण नहीं करते। तथागत बुद्ध ने ऐसे लोगों को दूसरों की गायें गिनने वाला बताया है, जिनसे उन्हें दूध एक कुल्ला भी नहीं मिलता है। कोई वचनों से लाख-करोड़ रुपये गिनता रहे और हाथ में एक कौड़ी भी न हो तो क्या लाभ !

साखी का आध्यात्मिक अर्थ साक्षी चेतन है। यदि कोई यह कहे कि मैं साक्षी चेतन हूं, परन्तु वह विषय-वासनाओं में बहता हो तो उसका यह प्रदर्शन मात्र हुआ। साक्षी-भाव के ग्रहण का अर्थ होता है तटस्थ एवं उदासीन होकर देखना, बहना नहीं। जैसे कोई नदी के तट पर बैठा हुआ आदमी नदी

की धारा को एवं उसकी तरंग-मालाओं को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं, वैसे ज्ञानी-पुरुष साक्षी-भाव से संसार को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं। साक्षी एवं गवाह की विशेषता है निष्पक्ष होना। इसी प्रकार साक्षीभाव की विशेषता है अनासक्त होना। जब तक शरीर है तब तक तो यह हो नहीं सकता कि वह कुछ देखे-सुने ही नहीं। देखना, सुनना, जानना देहधारी का स्वभाव है। ज्ञानी जीवनभर साक्षी-भाव वाला होता है। वह देखता और जानता है, परन्तु कहीं पर भी आसक्त नहीं होता। यह साक्षी-भाव जीवन की सर्वोच्च रहनी है।

कोई व्यक्ति पुस्तकों एवं संतों के प्रवचनों से जानकर कहने लग जाये कि मैं साक्षी मात्र चेतन हूं, परन्तु इसके साथ वह नाना व्यसनों तथा काम, क्रोधादि में बहता हो तो यह वचनमात्र का साक्षी-कथन न उसके हृदय को सन्तोष दे सकेगा और न दूसरे के हृदय को। "साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय" सद्गुरु की यह बहुत बड़ी मार है वाचिक ज्ञानियों पर। ऐसे जबर्दस्त चांटे से भी यदि हम नहीं चेतेंगे तो कब चेतेंगे !

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" नदी में बहुत जोरों की धारा बहती हो तो उसमें पैर कहां ठहर सकते हैं ! मनुष्य का हृदय भयंकर नदी है। उसमें इच्छा-वासनाओं एवं भोग-इच्छाओं की प्रबल धारा बहती है। इसलिए आदमी धैर्य नहीं रख पाता और बारम्बार उसमें बह जाता है। फिर तो साखी-शब्द एवं ज्ञान की बातें केवल वचनों में धरी रह जाती हैं। बहुत-सी वाणियों के याद होने तथा उनके अर्थ जान लेने मात्र से कोई मन की धारा से नहीं बच सकता। इसके लिए तो ज्ञान की थोड़ी बात भी हो, उसकी बारंबार मन में भावना करने से तथा उसके अनुसार जीवन में आचरण करने से साधक मन की धारा से बच सकता है। यदि साधक अपनी कमजोरियों के लिए ग्लानि न करे, उन्हें जीतने के लिए प्रतिज्ञा तथा मन में अविचल धारणा न बनाये, कुसंग से दूर रहकर तथा सत्संग का बल लेकर ज्ञान का अभ्यास न करे, तो कंठ की हुई वाणी कुछ नहीं कर सकती।

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" इस वचन से किसी साधक को साहसहीन नहीं होना चाहिए। आखिर आदमी प्राप्त-ज्ञान के अनुसार आचरण क्यों नहीं बना पाता? इसमें एक ही कारण है, भोगों की आसक्ति। यह तथ्य है तो इसकी ओर इशारा न करना, खतरे से सावधान न करना ठीक नहीं है। परन्तु यह समझना चाहिए कि मन में विषय-वासनाओं का जोर केवल अज्ञान से है, असावधानी से है। जो प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय में विवेक जाग्रत करेगा, गलत संकल्पों से सावधान रहकर साक्षी-भाव से रहेगा, उसके लिए विषय-वासनाएं कुछ नहीं हैं। विषय-वासनाएं स्मरण मात्र

हैं। उनका स्मरण न करने से चित्त शुद्ध एवं ज्ञान-वैराग्य में सबल हो जाता है। अतएव साधक को प्राप्त ज्ञान के अनुसार आचरण करना चाहिए। उसे साक्षी-भाव से रहना चाहिए और मन को विषय-चिन्तन से हटाकर रचनात्मक कार्य एवं स्वरूपज्ञान में लगाना चाहिए।

कहन्ता तो बहुते मिला, गहन्ता मिला न कोय॥
सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय॥ 80॥

शब्दार्थ—कहन्ता=कहने वाला। गहन्ता=ग्रहण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञान का कथन करने वाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसका भाव एवं आचरण ग्रहण करने वाले बहुत कम मिलते हैं। जो ज्ञान का भाव एवं आचरण नहीं ग्रहण करता, उसे भटकने दो, उसके पीछे मत लगो॥ 80॥

व्याख्या—ज्ञान की कथा करने वाले, प्रवचन देकर दूसरों को सुनाने वाले तथा अच्छी-अच्छी सीख देकर दूसरों को समझाने वाले लोग बहुत मिलते हैं; परन्तु उन्हीं सब बातों का स्वयं आचरण धारण करने वाले लोग कम मिलते हैं। यहां सद्गुरु ने कहा है "गहन्ता मिला न कोय"। इस कथन को ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि आचरण करने वाला उन्हें कोई मिला ही नहीं। परन्तु सार अर्थ यह नहीं है। जैसे किसी ने किसी को चार-छह बार किसी विषय में समझाया और उसने उस सीख पर ध्यान नहीं दिया, तो समझाने वाले ने समय आने पर किसी से कहा कि भैया, उन्हें तो मैंने हजार बार समझाया, परन्तु उन्होंने मेरी बातें नहीं मानीं। वस्तुतः समझाने वाले ने चार-छह बार ही समझाया; परन्तु उसे हजार बार कहकर उसने एक मुहावरे का प्रयोग कर दिया जो व्यंग्य लेकर होता है। उसी प्रकार यहां "गहन्ता मिला न कोय" एक व्यंग्यात्मक मुहावरा बन गया है। इसका सार अर्थ यही है कि आचरण करने वाले कम लोग मिलते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय"। जो आचरण नहीं धारण करता, जो केवल कथक्कड़ी है, ऐसे लोगों को भटकने दो। ऐसे लोगों के पीछे न लगो। जो केवल वचनों का धनी है, यदि उसके प्रलोभन में पड़ोगे कि वह तुम्हारा उद्धार कर देगा, तो समझ लो कि वह तुम्हें डुबायेगा। चाहे व्यवहार का क्षेत्र हो चाहे परमार्थ का, जो आचरणरहित केवल बातूनी है वह धोखा देने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। व्यावहारिक क्षेत्र में जो तुम्हें लंबी-लंबी दिलासाएं देता है, समझ लो कि उसे तुम्हारा कोई सहयोग नहीं करना है। जो सहयोग करना चाहता है, वह लंबी दिलासाएं नहीं दे सकता। उसे अपनी बातों को आचरण में उतारना है इसलिए वह बहुत सम्भालकर बोलेगा और जिसे कुछ नहीं करना है वह वचनों से तुम्हें सब कुछ देने के लिए तैयार हो जायेगा। यही बात परमार्थ क्षेत्र में है। जो रहनी-

रहित है वह फट-फट बोलता रहता है और जो रहनी संपन्न है वह विचारपूर्वक बोलता है, और जो कुछ बोलता है वह गंभीरतापूर्ण रहता है। इसलिए सद्गुरु ने 70वीं रमैनी में कहा है—"कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार लै बोलै॥"

आचरणरहित ज्ञान कागज के फूल के समान हैं जो देखने में सुन्दर हैं, परन्तु उनमें फूल का कोई गुण नहीं है। महाभारत में राजा युधिष्ठिर मानो कबीर साहेब की ही भाषा में बोलते हुए कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो आचरणसंपन्न है वही पंडित है।" मूल वचन इस प्रकार है—

पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

(महाभारत, वनपर्व, 313/110)

गुरुजनों से वार्ता कैसे करें

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय॥
दोय मुख का बोलना, घना तमाचा खाय॥ 81॥

शब्दार्थ—निरुवारिये=निर्णय कीजिये, सुलझाइए। घना=बहुत कठिन। तमाचा=चपत।

भावार्थ—सत्संग में एक-एक बात का निर्णय करो। जिसका निर्णय हो जाये उसका यथायोग्य ग्रहण या त्याग करो। जो दो-मुखी बातें करता है, वह कठोर चपत खाता है॥ 81॥

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सत्संग में इसलिए पहुंचते हैं कि हम संत-मंडली के मुख्य संत को हरा दें और समाज में अपना वर्चस्व कायम कर दें। वे कोई प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर हो नहीं पायेगा, उसी में एक-दो प्रश्न और कर देंगे। मुख्य विषय के विपरीत बात उठा देंगे। वे कुछ दाहिने चलेंगे तो कुछ बायें। कबीर साहेब को भी ऐसे लोग अनेक बार मिले होंगे। मानो उन्होंने किसी ऐसे ही दो-मुंहे आदमी को लक्ष्य लेकर उक्त साखी कही हो। कोई ऐसा व्यक्ति आया हो जो केवल अपनी विजय के चक्कर में पड़कर प्रश्न-पर-प्रश्न और विरोधी प्रश्न करता गया हो, तो मानो सद्गुरु ने कहा हो, देखो भाई, एक-एक बात को सुलझाओ। दो-मुंही बातें मत करो। दो-मुंही बातें करोगे तो चांटे खाओगे। क्या कबीर साहेब किसी को चांटे मारते थे! वस्तुतः जो ऐसी प्रवृत्ति का आदमी होता है उसे स्वयं में चांटे मिल जाते हैं। कारण-कार्य-व्यवस्था का सर्वत्र जाल फैला है। जो व्यक्ति अपना मन इतना चंचल और खराब रखेगा कि संतों के पास जाकर उनसे विनम्रता,

निश्छलता एवं सेवापूर्वक कुछ प्राप्त करने की जगह पर उनको हराने के चक्कर में रहेगा, उसका व्यक्तित्व अपने आप गिर जायेगा।

जिज्ञासु को चाहिए कि वह किन्हीं संत के पास जाये तो विनम्रतापूर्वक उनका अभिवादन करे। इसके बाद वहां की मर्यादा के अनुसार तथा वहां के लोगों के निर्देशानुसार शिष्टतापूर्वक आसन ग्रहण करे। कहीं जाकर यथासंभव पीछे और नीचे बैठने का प्रयत्न रखे। संत पुरुष जो कुछ उपदेश दें उन्हें श्रवणकर जो काम की वस्तु हो उसे ग्रहण करे। यदि उनसे प्रश्न करना है तो उनकी आज्ञा लेकर विनय-भाव से निश्छलतापूर्वक प्रश्न करे। एक प्रश्न के सुलझ जाने पर यदि अवसर हो तो अन्य प्रश्न करे। प्रश्नोत्तर में हठ, पक्षपात, वाक्यप्रदर्शन एवं विवाद न कर सभ्यतापूर्वक बातों को समझे और समझाये। जितनी बातें समझ में आ जावें उनमें से जो ग्रहण करने योग्य हों उन्हें ग्रहण करे और जो त्यागने योग्य हों उनका त्याग करे। जहां परस्पर मतभेद हो ऐसी बातों को न छेड़े। यदि परस्पर प्रेम एवं विश्वसनीयता हो तो मतभेद की बातों पर भी चर्चा की जा सकती है। परंतु यदि उस विषय में दोनों व्यक्ति अपने-अपने विचारों में दृढ़ हैं तो उन पर बात करने का कोई फल नहीं है। जो सिद्धांतत: मतभेद हैं उन पर चर्चा करने से कभी कोई हल नहीं होता। यदि सावधान न रहे तो केवल कटुता बढ़ती है। सैद्धांतिक मतभेद को लेकर जब कहीं दो पक्ष के लोग बातें करते हैं, तब प्राय: यही होता है कि दूसरे की बातों पर ध्यान न देकर केवल अपनी बातें कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में श्रम दोनों तरफ से होता है और लाभ किसी का नहीं होता। इसलिए दार्शनिक सिद्धान्तों के मतभेद को लेकर बात उठाने की आवश्यकता ही नहीं है। यह तो जब एक गुरुस्थानीय हो और दूसरा जिज्ञासु तब दार्शनिक बातों को समझने-समझाने की बात उठती है। दो परिपक्व विचारों वाले लोगों को इस दिशा में मौन रहना ही परस्पर मैत्री के बने रहने का कारण हो सकता है। दो व्यक्तियों के मिलन का फल होना चाहिए कि दोनों दोनों से कुछ सत्प्रेरणा लें। यदि वे परस्पर सत्प्रेरणा न ले सकें तो मिलना निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो जाता है।

वाणी पर संयम करो

जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार॥
पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार॥ 82॥

शब्दार्थ—बन्द दे=संयम करो। निरुवार=त्याग करो। पारखी=सत्य-असत्य के परीक्षक, निष्पक्ष द्रष्टा। गुरुमुख=निर्णय वचन।

भावार्थ—अनावश्यक बोलना छोड़कर वाणी पर संयम करो, सारासार के निष्पक्ष पारखी संतों की संगत करो और निर्णय वचनों पर विचार करो॥

82 ॥

व्याख्या—इस साखी में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं, (1) बहुत बोलना त्यागकर वाणी का संयम करना, (2) पारखी की संगत करना तथा (3) गुरुमुख वचनों पर विचार करना।

(1) "जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।" इसकी महती आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं कि वाणी को बन्द कर दो और बहुत बोलना छोड़ दो। जो व्यक्ति बहुत बोलता है उसका व्यक्तित्व हलका हो जाता है। ज्यादा बोलने वाला झूठ ही नहीं बोलता, किन्तु निरर्थक, अश्लील, कटु, मजाक, मर्मांतक व्यंग्य एवं दूसरों को पीड़ा देने वाले अन्य प्रकार के भी वचन बोलता है। ज्यादा बोलने से कुछ ऐसी बातें समय से निकल आती हैं जिनसे बेवजह झगड़ा खड़ा हो जाता है। बहुत बोलने वालों से लोग न मित्रता करना चाहते हैं और न व्यवहार रखना चाहते हैं। कितने लोगों का मुंह इतना चरचराया रहता है कि वे किसी से मिलते ही बोलना शुरू करते हैं और कहां बन्द करना चाहिए यह नहीं जानते। ऐसे लोग अगले आदमी का दिमाग चाट लेते हैं। ऐसे लोग संतों से मिलने पर भी अपनी ही हांकते जाते हैं। वे जब तक उनके पास बैठे रहेंगे बे-सिर-पैर की बातें करते रहेंगे और जब उठकर चलेंगे तब संत जी से कहेंगे कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया। वास्तव में उन्हें कोई श्रोता नहीं मिला होगा, इसलिए वे संत को ही बैठे-ठाले देखकर वहीं झख मारने आ गये, और झख मार लिये, दिल का गुब्बार कुछ समय के लिए निकल गया तो उन्हें आनन्द आ गया।

कान दो तथा आंखें दो हैं, परन्तु मुख एक ही है, अतः उनसे चार बातें सुन तथा देखकर एक बात बोलना उचित है। कम बोलने से बहुत-से उपद्रव अपने आप समाप्त हो जाते हैं। वाक्य-संयम बिना किये मन में शांति आ ही नहीं सकती। कम बोलने से भीतर शांति आती है और बाहर से व्यक्तित्व गंभीर हो जाता है। उसकी बातों का वजन होता है। अतएव व्यवहार तथा परमार्थ दोनों दिशाओं में प्रगति के लिए वाक्य-संयम की महती आवश्यकता है।

(2) "पारखी से संग करु" महत्त्वपूर्ण विषय है। जो गुण और दोषों की परीक्षा कर सके वह पारखी है। इसी प्रकार जो जड़ और चेतन, बंध और मोक्ष, शुभ और अशुभ की परीक्षा कर सके वह पारखी है। पारखी वही हो सकता है जो शास्त्र, परम्परा, गुरु, अपनी अवधारणा, किसी का भी पक्षपात न रखता हो। सब तरफ से निष्पक्ष व्यक्ति ही सच्चा पारखी हो सकता है। पूर्वग्रह, दुराग्रह, हठ, पक्षपात करने वाला कभी पारखी नहीं हो सकता। भौतिक क्षेत्र में जैसे वैज्ञानिक उदार होता है और उसके प्रयोग में जो आता है

उसे स्वीकारता है, वैसे पारखी उदार होता है, अतएव जो उसकी स्वतन्त्र परीक्षा में आता है उसे वह स्वीकार करता है। विनयभावपूर्वक सब जगह सार लेने वाला पारखी होता है।

ऊपर पारखी का बौद्धिकरूप बताया गया। पारखी का साधनात्मक रूप भी बड़ा उच्च होता है। पारखी ज्ञान ही से सबकी परख करता है, अतएव उसका अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाना ही पारख-समाधि है। जो सबको परख-परखकर छोड़ता रहता है और अपने आप शांत रहता है वह पारखी है। विषयों का त्याग, व्यवहार में दया, शील, सत्य, क्षमा, धैर्य, विवेकादि का आचरण करते हुए जो स्व-स्वरूप में रमता है, वह पारखी है। सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आपा, अपने चेतनस्वरूप-पारखस्वरूप में स्थित होना पारखी का लक्षण है। ऐसे पारखी की संगत करना चाहिए, तभी हमारे भीतर में रहा हुआ पारख-गुण उद्घाटित होगा।

(3) "गुरुमुख शब्द विचार" केवल किसी गुरु-नामधारी के मुख से निकलने से कोई बात गुरुमुख नहीं हो जाती। निर्णयवचन ही गुरुमुख है। शास्त्रों में पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष एवं रोचक, भयानक और यथार्थ वचन होते हैं। इसी प्रकार बीजक में जीवमुख, मायामुख, ब्रह्ममुख तथ गुरुमुख अथवा काल, संधि, झाईं और सार के वचन हैं। उत्तरपक्ष, यथार्थ, गुरुमुख तथा सार सब एक बात है। जो तर्कयुक्त, विवेकसम्मत तथा विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, वही निर्णय गुरुमुख वचन है। पूर्णपारखी गुरु जो कह दे, वह गुरुमुख वचन हो सकता है; परन्तु उसकी कसौटी भी अंततः निर्णय, विवेक एवं परख ही है। सद्गुरु कहते हैं कि गुरुमुख शब्दों का विचार करो। जो निर्णय के वचन हैं, तर्कयुक्त एवं विवेकसम्मत वचन हैं उन्हीं का चिन्तन-मनन करने से कल्याण है, शेष वचन तो परखकर त्याग करने के लिए हैं।

इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु ने बताया कि बहुत बोलना छोड़कर वाक्य-संयम करो, पारखी की संगत करो, तथा गुरुमुख वचनों का चिन्तन करो।

जाके जिभ्या बन्द नहिं, हृदया नाहीं साँच॥
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ॥ 83॥

शब्दार्थ—घाले=छोड़े। बटिया=मार्ग। माँझ=में।

भावार्थ—जिसकी वाणी में संयम नहीं है और हृदय में सचाई नहीं है, उसका साथ मत करो। वह बीच रास्ते में ही तुम्हें छोड़ देगा। अर्थात तुम्हें लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकता॥ 83॥

व्याख्या—इस साखी में उसकी संगत करने से रोका गया है जिसकी वाणी में संयम तथा हृदय में सचाई नहीं है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें

इसकी कोई खबर नहीं होती कि कब क्या बोलना चाहिए ! उनका मुंह बिना विचार किये सब समय चलता रहता है। वे कब क्या बोल दें इसका कोई भरोसा नहीं है। ऐसे लोग स्वयं तो उलझे होते हैं दूसरों को भी उलझन में डालते हैं। वस्तुतः हृदय में सचाई न होने से ही वाणी में असंयम आता है। वाणी और इन्द्रियों में जहां तक अव्यवस्था है उसका मूल है मन की अव्यवस्था। ऐसे कितने लोग होते हैं जिन्हें सांच-झूठ से कोई फरक नहीं पड़ता, केवल उनका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। उन्हें जिसमें अपने माने हुए स्वार्थ की सिद्धि दिखती है, वह काम करते हैं चाहे उसमें उन्हें झूठ बोलना पड़े चाहे सांच। ऐसे लोग अपने माता, पिता, गुरु तथा पूज्यों को भी धोखा दे सकते हैं, दूसरों के लिए तो कहना ही क्या ! जिसे झूठ बोलने में संकोच नहीं है, वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता। इसलिए सद्गुरु ने इसी प्रकरण में 334वीं साखी में कहा है "साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।" जिसका मन एक बार भी सत्य से फिसलकर नीचे आ जाता है और झूठ का आश्रय ले लेता है, उसे धीरे-धीरे झूठ बोलने में निर्भयता हो जाती है। झूठ बोलकर आदमी अपने आप को धोखा देता है और दूसरों को भी धोखा देता है। झूठ बोलने वालों से लोगों का विश्वास उठ जाता है। जंगल में गाय चराते हुए एक ग्वाले ने हल्ला किया कि दौड़ो-दौड़ो मेरी गाय को सिंह ले जा रहा है। आस-पास के किसान दौड़ते हुए आये। ग्वाला हंसने लगा और कहा कि मैं अंदाज रहा था कि आप लोग समय पड़ने पर आयेंगे कि नहीं। वैसे यहां कोई सिंह नहीं आया है। किसान लोग अपने-अपने खेतों में लौट गये। उस ग्वाले ने दूसरे दिन पुनः सिंह आने का हल्ला किया। फिर किसान लोग आये और उसने हंसकर अंदाजने की बात कही। तीसरे दिन सचमुच सिंह आ गया और एक गाय को लेकर जाने लगा। ग्वाले ने पुनः हल्ला किया। परन्तु उसके असत्य भाषण की आदत समझकर कोई उसकी सहायता के लिए नहीं आया। अतः आदमी यदि असत्य बोलने का आदती हो जाता है तो लोग उसकी बातों का विश्वास करना छोड़ देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में सचाई नहीं है तथा वाणी में संयम नहीं है उसका साथ मत करो।

जगत के कितने तरन-तारन गुरुनामधारी होते हैं जिनके हृदय में झुठाई का ही साम्राज्य होता है। एक प्रसिद्ध गुरुनामधारी कुछ दिनों में सभाओं तथा समाचार-पत्रों के माध्यम से अपने विषय में किसी एक या दो चमत्कारों का प्रचार करवाते थे और चमत्कार का मतलब ही है शुद्ध झूठ। आज बीसवीं शताब्दी के आखिर में भारत में कई दर्जन गुरुनामधारी तथाकथित ईश्वर के अवतार बने बैठे हैं। वे स्वयं अपनी लेखनी और वाणी से तथा अपने शिष्यों से अपने विषय में चमत्कारी पुरुष तथा अवतार सिद्ध करने तथा करवाने के

चक्कर में पड़े रहते हैं। वे अपने विषय में सृष्टि-क्रम के विरुद्ध, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्था के विरुद्ध बातें करते और करवाते हैं। धूर्त लोग इसका प्रचार करते हैं कि चमत्कार अध्यात्म की शक्ति है और मूर्ख लोग इसे स्वीकार करते हैं। जनता के दिमाग पर चमत्कार का परदा डालकर उससे कुछ भी मनवाया जा सकता है। धार्मिक कहे जाने वाले ग्रन्थों में चमत्कार के वर्णनों की भरमार होने से जनता धर्म के नाम पर और मूढ़ बना दी गयी है। सारे चमत्कार धूर्तों और मूर्खों के बीच की बातें हैं।

इस प्रकार जिन गुरुनामधारियों के हृदय में चमत्कार तथा मिथ्या महिमा के नाम पर झुठाई भरी हुई है और जिनकी वाणी, लेखनी तथा अनुयायियों द्वारा उन्हीं मिथ्या बातों का प्रचार किया जा रहा है, जिज्ञासु को चाहिए कि ऐसे लोगों से सावधान रहे, दूर रहे। ऐसे लोग अपनी आत्मा को ही छल चुके हैं। वे दूसरे का क्या कल्याण करेंगे।

जिसके हृदय में धर्म और ईश्वर के नाम पर नाना मिथ्या भ्रांतियां पलती हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो अपने जीवन के लक्ष्य, मोक्ष एवं परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग बताता है, जो वासना त्याग से मोक्ष न मानकर नाना टंट-घंट से ही कृतार्थ होने की बात करता है; सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों से सावधान रहो। वाक्यसंयमी, सत्यवादी, सत्यबोधनिष्ठ मित्र एवं संत-गुरु की संगत करो। वहीं कल्याण है।

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ बीजक, साखी 309॥

प्राणी तो जिभ्या डिगा, छिन छिन बोल कुबोल॥
मन के घाले भरमत फिरे, कालहिं देत हिंडोल॥ 84॥

शब्दार्थ—डिगा=विचलित। कालहिं=कल्पनाएं। हिंडोल=झूला, चक्कर।

भावार्थ—मनुष्य ने तो अपनी वाणी को चंचल कर रखा है और वह क्षण-क्षण गलत बातें बोलता है। वह मन के चक्कर में भटकता फिरता है। उसे कल्पनाएं नाना भ्रांतियों एवं राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि के झूले में झुला रही हैं॥ 84॥

व्याख्या—सद्गुरु इस साखी में पुनः वाणी और मन की चंचलता पर प्रकाश डालते हुए उसके परिणाम की ओर इशारा करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य ने अपने आप को इतना गिरा लिया है कि उसकी वाणी हर समय विचलित रहती है। वह क्षण-क्षण में कुबोल बोलता है। असत्य, कटु, गाली, भद्दे, अश्लील, असभ्य तथा अमंगल बोली को कुबोल कहा जाता है। कितने लोग बात-बात में गाली देते हैं। परिवार वालों को, नौकरों को, पशु-पक्षियों

को, यहां तक कि हवा-बयार, पेड़-पौधों, थाली-लोटा एवं समस्त जड़-चेतन को गालियां सुनाते रहते हैं। गाली तो कोई स्वीकारता नहीं। गाली तो गाली देने वाले को ही पड़ती है। परन्तु प्रमादी आदमी को इसका कहां ख्याल है ! कितने लोगों को तो सुबह से शाम तक अर्थात वे जब तक जागते रहते हैं टट्टी-पेशाब त्यागने की इन्द्रियों के नाम ही याद रहते हैं। वे उन्हीं नामों से अपनी वाणियों को हर समय सुशोभित करते रहते हैं। कितने लोग हर समय अश्लील शब्दों से मजाक करते रहने में ही अपनी शूर-वीरता समझते हैं। कितने लोग ऐसे जोर-जोर से चिल्लाते हैं कि बैठा हुआ कौआ भी भयभीत होकर भाग जाये। कितने घरों की बातचीत बराबर दूसरों के घरों में सुनायी पड़ती है। ये सब कुबोल हैं। ऐसा व्यवहार करने वाले का व्यक्तित्व गिर जाता है।

मनुष्य का मन चंचल है। वह क्षण-क्षण कहां भटक जाता है कोई ठिकाना नहीं। इसी मन की चंचलता में पड़ा व्यक्ति भटकता रहता है। यह मन का भटकाव ही वाणी के भटकाव में कारण है। मन की चंचलता से आदमी निरन्तर चक्कर काट रहा है। "मन के घाले भरमत फिरे" बड़ा मार्मिक वचन है। संसार के सारे मनुष्य मन के भ्रम में पड़े हुए भटक रहे हैं। "कालहिं देत हिंडोल" मन काल के झूले में मनुष्य को झुलाता है। काल है कल्पनाएं। हर्ष-शोक, राग-द्वेष कल्पनाएं हैं। इन कल्पनाओं के हिंडोले हैं जिनमें व्यक्ति रात-दिन झूलता है। मन की मानी हुई अनुकूलता को पाकर हर्ष, प्रतिकूलता तो पाकर शोक, अपना मानकर राग तथा विरोधी मानकर द्वेष—यह सब मन का ही तो प्रपंच है। इन्हीं हिंडोले में पड़ा जीव निरन्तर झूला झूलता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को संयत करे और वाणी को वश में करे। सत्य, मिष्ट, संयत एवं कम बोलने से व्यक्तित्व उभरता है। उसकी बातों का समाज में वजन होता है। वह लोकप्रिय होता है। घर में, परिवार में, अपने लोगों में उतने ही स्वर में बातें करना चाहिए कि जिसे वे लोग आराम से सुन लें जिन्हें हम सुनाना चाहते हैं। बातों में कटुता, अश्शील एवं नोंक-झोंक न हों। व्यवहार में परस्पर ऊंच-नीच हो जाने पर उन बातों को मन में बनाये न रखे, अन्यथा उन भावनाओं को लेकर बातें भी इस तरह निकलेंगी जिससे व्यवहार खराब हो जायेगा। एक साथ रहने से व्यवहार में कभी ऊंचा-नीचा हो जाना सहज है। परन्तु इन बातों को लेकर परस्पर कसक, ताना एवं नोंक-झोंक की बातें नहीं होना चाहिए। मनुष्य केवल वाणी का सुधार कर ले तो उसका बहुत व्यवहार सुधर जाये। वाणी सुधार के लिए मन को वश में करना ही पड़ेगा।

मन से गलत बातों को निकाल दो

हिलगी भाल शरीर में, तीर रहा है टूट॥
चुम्बक बिना न नीकरे, कोटि पाहन गये छूट॥ 85॥

शब्दार्थ—हिलगी=घुस गयी। भाल=तीर का फल, नोक। चुम्बक=एक पत्थर जो लोहा को अपनी ओर खींचता है।

भावार्थ—शरीर में तीर घुसकर और उसका नोक टूटकर शरीर के अन्दर रह गया। वह चुम्बक-पत्थर के बिना नहीं निकल सकता। अन्य करोड़ों पत्थर उसे नहीं निकाल सकते। इसी प्रकार मनुष्य के मन में वचन के बाण घुसकर उसमें जम गये हैं। बिना विवेक-ज्ञान के वे नहीं निकल सकते। करोड़ों थोथे ज्ञान उनके लिए बेकार हैं॥ 85॥

व्याख्या—तीर के फल एवं नोक टूटकर जब शरीर में रह जाते हैं तब चुम्बक-पत्थर उसके निकट ले जाने से वे उसकी तरफ खिंचकर निकल आते हैं। अन्य पत्थरों में यह सामर्थ्य नहीं है। इस साखी में बाण तथा चुम्बक के दो सटीक उदाहरण देकर मुख्य दो बातों पर प्रकाश डाला गया है। एक तो मनुष्य के मन में वचन-बाण जब धंस जाते हैं तब उनका निकलना मुश्किल हो जाता है। दूसरा यदि वे निकलते हैं तो साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से। हम वचन-बाणों को दो हिस्सों में बांटते हैं, एक नित्य के व्यवहार में लगे वचन-बाण तथा दूसरा आध्यात्मिक और धार्मिक भ्रांतियों के वचन-बाण।

हर मनुष्य को प्राणियों और पदार्थों का व्यवहार करना पड़ता है। पदार्थ निर्जीव होते हैं, इसलिए उनका व्यवहार करने में अधिक विघ्न नहीं होता। प्राणियों का व्यवहार कठिन है। यहां प्राणियों का अर्थ मनुष्य-प्राणियों से है। हम पशु-पक्षियों को पालते हैं। उनके भोजन, पानी तथा निवास का ठीक प्रबन्ध कर दें तो उनके संबंध में अन्य कोई खास झमेला नहीं है। किन्तु मनुष्यों का व्यवहार बहुत कठिन है। एक छोटा बच्चा होता है। यदि उसका मन असंतुष्ट हो गया तो वह रोता रहेगा। उसको समझाना थोड़े समय के लिए एक समस्या हो जाती है। फिर सयानों की बातें ही न्यारी हैं। इस प्रकरण में आरम्भ की साखियों में बताया गया है कि मनुष्य के पास दो महान शक्तियां है मन और वाणी। ये दोनों बड़े संवेदनशील हैं, बड़े उपयोगी हैं। ये मनुष्य की उन्नति के आधारस्तंभ हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग हुआ तो ये दोनों ही खतरनाक बन जाते हैं। इसलिए संतों ने बारंबार मन और वाणी को वश में करने पर जोर डाला है। मनुष्य का मन थोड़े-थोड़े में बदलता है और जैसे मन बदलता है वैसे उसकी वाणी बदलती है। जहां चार बरतन रहते हैं वहां

उनमें टकराकर आवाज हो जाना स्वाभाविक है। समझदार का काम है उन्हें सहेज कर रखना। परिवार तथा समाज में जहां अनेक लोग हैं परस्पर के व्यवहार में कभी-न-कभी उंच-नीच हो सकता है। अच्छी समझ न होने से व्यवहार के थोड़ा व्यतिक्रम होने से उनके मन में भी अन्तर आ जाता है, और मन में अन्तर आने से उनकी वाणी में भी अन्तर आ सकता है। जब व्यक्ति किसी की मार्मिक वाणी सुनता है तो गहरा विवेक न होने से वह उसके मन की गहराई में बैठ जाती है। वह उसे समय-समय पर याद करता है और कहने वाले के लिए अपने मन में द्वेष बनाये रखता है। तीर के नोक टूटकर शरीर में रह जाने के समान उसके मन में वे मार्मिक वचन रुक जाते हैं। जैसे शरीर में रहे हुए बाण के नोक शरीर में कसक एवं पीड़ा उत्पन्न करते हैं वैसे उस आदमी के मन में मार्मिक वचन रह-रहकर पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। इसलिए कबीर साहेब ने इसी प्रकरण की 301वीं साखी में कहा है "मधुर बचन है औषधी, कटुक वचन है तीर। श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर॥" किसी अन्य ने कहा है "बचन बाण मत मारिये, बरु सिर लेहु उतार। सज्जन दुख अपने सहैं, औरों को उपकार॥" हर मनुष्य किसी-न-किसी के वचन-बाण से बिंधता रहता है और उसके कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें उसे वाक्-बाणों से काफी पीड़ित होना पड़ता है। वे वाक्-बाण उसे बहुत दिनों तक याद हो-होकर पीड़ित करते रहते हैं। मनुष्य को जितना वाणियों से आहत एवं घायल देखा जाता है उतना तीर-तलवार से नहीं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से निकलने वाले नहीं हैं। इसके लिए चुम्बकीय ज्ञान चाहिए। देखा जाता है कि अच्छे-अच्छे लोग वाक्-बाण से पीड़ित होकर अस्त-व्यस्त रहते हैं। वे वर्षों पुरानी किसी की कही हुई मार्मिक बातें याद कर असंतुष्ट हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से निकलेंगी। वस्तुतः गहरा विवेक ही चुम्बकीय ज्ञान है। जब हमारी परख-शक्ति प्रबल होती है, तब हम अपने ऊपर घटने वाली सारी बातों का समाधान कर लेते हैं। हम यहां इसके विषय में थोड़ा समाधान सोचें।

पहली बात, जिसे हमने अपने लिए बहुत मार्मिक वचन मान लिया है, हो सकता है उसे कहने वाले ने इतनी गहराई से न लिया हो और इसके मूल में उसका मन इतना खराब न हो जितना हम उसके लिए सोचते हैं। दूसरी बात, हो सकता है उसने इसे कहने के बाद अपनी भूल का अनुभव किया हो, इसके लिए उसके मन में काफी ग्लानि हो और अब उसका मन शुद्ध हो तथा उसके मन में हमारे प्रति अच्छी धारणा हो गयी हो। तीसरी बात, किसी की उत्तेजना में कही हुई बात को यदि हम अपने मन में स्थान देते हैं तो इससे

हमारी ही नासमझी सिद्ध होती है। चौथी बात, हमें अपने आप को इतना बड़ा नहीं मान लेना चाहिए कि हमें कोई कुछ कहे ही नहीं। पांचवीं बात, हमें अपने पुत्र, शिष्य एवं पद में अन्य छोटे लोगों से भी अपने लिए लम्बी आशा नहीं रखना चाहिए। वे अपने कर्तव्य जानें, हमें केवल अपने कर्तव्यों पर ध्यान देना चाहिए। छठीं बात, सारे शब्द हवा के झोंकें हैं। हमें दूसरों की बातों पर न ध्यान देकर अपने आप का निरीक्षण करना चाहिए। सातवीं बात, हमें हर हालत में अपने मन को शांत रखना है। इन स्वप्नवत बातों में उलझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इन-जैसी अन्य युक्तियों को सोचकर मन में गहरा विवेक पैदा करना चाहिए और अपने मन से सभी ऐसी बातों को निकाल देना चाहिए जिनसे दुख हो। चुम्बकीय-ज्ञान विवेकज्ञान है, रहनी का ज्ञान है। अनेक प्रकार की बातें ही तो मन में धंसकर उलझनों का कारण बनती हैं। उनको मन से निकालने के लिए केवल विवेकज्ञान एवं चित्त की निरख-परख ही है।

दूसरी बातें होती हैं आध्यात्मिक एवं धार्मिक भ्रांतियों की। भूत-प्रेत, जादू-मंत्र, तंत्र, देवी-देवता, परोक्ष कर्ता-धर्ता, चमत्कार एवं नाना अंधविश्वासों की; जो धर्मग्रन्थों एवं नाना मतों के गुरुओं द्वारा युग-युगों से फैलायी गयी हैं। ये सारी बातें मनुष्य के दिल में धंसकर बैठ गयी हैं। ये साधारण ज्ञान से निकलने वाली नहीं हैं। इनको निकालने के लिए चुम्बकीय-ज्ञान चाहिए। पारखज्ञान के बिना इनका निकलना असंभव है। अतएव हमें पारखी संतों-भक्तों का सत्संग करते हुए हर बात में नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए।

आरामतलबी साधना-पथ का नाशक

आगे सीढ़ी साँकरी, पीछे चकनाचूर॥
परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर॥ 86॥

शब्दार्थ—परदा=अविद्यारूपी आवरण। सुन्दरी=विषयासक्त। धका=किनारा, तट, कल्याणपथ।

भावार्थ—कोई बहुत ऊंची जगह पर चढ़ गया हो, परंतु वहां से और भी ऊंची जगह पर चढ़ना हो और ऊंचे पर जाने के लिए आगे सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी हो। नीचे जितना पार कर आया हो वह भी बहुत गहरा हो। ऐसी अवस्था में धैर्यहीन यात्री की स्थिति बड़ी कायरतापूर्वक हो जाती है। वह ऊपर देखता है तो सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी है, उस पर चढ़ने की हिमम्त नहीं हो रही है और पीछे देखता है तो बहुत गहरा है, उसे देखकर मन चकनाचूर हो जाता है। अतः वह कायरतापूर्वक बैठ जाता है। इसी प्रकार

कोई परदे के भीतर रहने वाली सुकुमारी सुन्दरी नारी हो, वह नावका पर समुद्र की यात्रा कर रही हो, बीच में झंझावात आने से उसे धूप और हवा सहन न होती हो, इसीलिए वह बीच ही में से अपनी यात्रा स्थगित कर किनारे से दूर मझधार में ही लंगर डालकर बैठ गयी हो, तो उसकी दशा भी दयनीय हो जाती है।

विषयासक्त, सुखाध्यासी एवं आरामतलब लोगों की यही दशा है। कुछ शुद्ध संस्कार होने से मनुष्य कल्याण-पथ में चल पड़ा। परन्तु उसे कुछ चलकर आगे का मार्ग कठिन दिखा और पीछे संसार में विषयासक्तिजनित दुख देखता है, तो उसका मन चकनाचूर हो जाता है। इस प्रकार वह परदातर की सुन्दरी बनकर अर्थात आसक्ति को जीवन-प्राण मानकर बीच धारा में ही पड़ा रह गया, कल्याण-तट पर नहीं लगा॥ 86॥

व्याख्या—ऐसे कुछ लोग होते हैं जिनके मन में कुछ शुद्ध संस्कार होते हैं और अध्यात्म की ऊंची चोटी पर चढ़ने का उत्साह होता है। वे कुछ चल पड़ते हैं। चलने के बाद उन्हें कठिन लगता है। ऊपर चढ़ना उन्हें संकरी सीढ़ी पर चढ़ने से भी दुर्गम लगता है और जब वे संसार की तरफ देखते हैं तब उसके दुख से भी उनका मन पीड़ित होता है। वे अपने आप को ऊपर चढ़ने में असमर्थ पाते हैं, परन्तु सांसारिकता के भावी परिणाम को देखते हुए विषयासक्तिजनित दुख से भी उनका मन भयाक्रांत होता है। किन्तु ऐसे कायर-कुपूत लोग क्या कर सकते हैं ! परदातर की सुन्दरी बनकर कोई क्या करेगा ! तथाकथित बड़े घराने की नारियां परदे के भीतर रहती हैं। यदि उनको प्यास लगी हो और कोई पानी लाकर देने वाला न हो तो वे परदे से निकलकर स्वयं पानी लेने नहीं जातीं। प्यासी घर में बैठी रहेंगी, परन्तु परदे से निकलकर पानी नहीं लेना चाहेंगी। इस प्रकार परदा-प्रथा के कुप्रचलन के घेरे में पड़ी जहां नारियां निष्क्रिय बनी हैं, वहां मानो समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है। अतएव नारियों को भी चाहिए कि वे परदे से निकलकर अपने विकास के हर क्षेत्र में हाथ बटाएं।

जो साधक परदातर की सुन्दरी बनते हैं वे व्यवहार की उन्नति भी नहीं कर सकते, परमार्थ की तो बात ही दूर है। कितने लोग देखादेखी घर छोड़कर साधु बनने चलते हैं; परन्तु संतों में जाकर वे सेवा का काम करने से कतराते हैं। हर जगह कर्मों से ही जीवन सुन्दर बनता है। यदि कोई झाड़ू न लगाये तो घर-द्वार गंदा रहेगा। दातौन तथा मंजन करने से दांत साफ रहते हैं। शरीर और कपड़े धोने से उनमें स्वच्छता रहती है। लीपने-पोतने, धोने-मांजने से घर तथा बरतन साफ रहते हैं। काम करने से रोटी पेट में जाती है। कर्मठ व्यक्ति ही भव का भूषण है। निकम्मा आदमी परिवार एवं समाज का कोढ़

है। परन्तु कुछ लोग निकम्मापन को मोक्ष-साधना समझते हैं। निकम्मे लोग खाने-पीने, वस्त्र-आसन, पूजा-सम्मान लेने में आगे रहते हैं, परन्तु सेवा करने में सदैव पीछे। जो व्यक्ति स्वादासक्त है, जीभ का चटोर है, स्वार्थ में चंट, अभिमानी तथा आलसी है वह साधना क्या खाक करेगा! वह तो गृहस्थी में रहकर भी उन्नतिहीन रहेगा।

साधक के अंग सेवा करने के लिए फड़कते रहना चाहिए। भोजन, वस्त्र, आसन, आवास आदि स्वार्थ में पीछे रहना चाहिए। इन्हें प्रलोभनरहित केवल गुजर के लिए लेना चाहिए। भोगों का कड़ाई से त्याग करना चाहिए और जीवन में कठिनाई सहने का अभ्यास करना चाहिए। जो एक सैनिक की तरह सतर्क, श्रमशील, स्वावलंबी नहीं होगा, वह साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। साधक को अत्यन्त निर्मान होना चाहिए। जो संतों की चरण-रज नहीं बन सकता वह साधक नहीं बन सकता। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में साधकों के लिए कहा है, "अब तो ऐसा होय रहे, पांव तले की धूलि।" तथा "नन्हा होय के पीव" कोई नन्हा शिशु होकर ही माता का दूध पी सकता है। जवान होकर नहीं। यदि जीवन में कुछ पाना है तो दासातन तथा सेवा करने की महती आवश्यकता है।

इस साखी का सार यही है कि कुछ साधक भले सांसारिकता में अपना पतन देखते हैं, परन्तु वे आगे साधना में बढ़ने की हिम्मत भी नहीं रखते; क्योंकि वे इन्द्रिय-सुख के कीड़े तथा आरामतलब हैं। साधक को इन कमजोरियों से हटकर त्याग, वैराग्य, सेवा, श्रम, भक्ति एवं साधना में जुट जाना चाहिए।

हम अपने आप में, भूलवश पराये बने हैं

संसारी समय बिचारी, कोइ ग्रेही कोइ जोग॥
औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग॥ 87॥

शब्दार्थ—संसारी=दुनियादारी में डूबे लोग। मारे=व्यर्थ। बिराने लोग= पराये लोग, जिसका अपना आपा भूलवश पराया-सा हो गया हो।

भावार्थ—संसार के लोगों पर जब समय की मार पड़ती है अर्थात जब उन्हें कोई ज्यादा कष्ट होता है, तब वे विचार में पड़ जाते हैं, और सोचने लगते हैं कि हम चाहते हैं सुख, परंतु मिलता है दुख। तो निश्चित ही हमें सुख और दुख देने वाला कोई दूसरा है। अतएव ऐसा सोचकर उनमें से कोई तो गृहस्थी में रहकर ही कीर्तन-भजन, अर्चन-वन्दन एवं नवधा-भक्ति आदि करने लगता है, और कोई घर छोड़कर योगी-संन्यासी होकर तप-ध्यान आदि द्वारा उसे खोजने लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि तेरे सुनहले अवसर व्यर्थ

समाप्त हो रहे हैं, तू अपने घर में रहते हुए भी पराये बने हुए के समान अपने उच्चतम चेतनस्वरूप से बे-भान बना है। हे मानव! सावधान हो जा!॥ 87॥

व्याख्या—आदमी अपनी विवशताओं के मूल में अपने कर्मों के फल तथा विश्वसत्ता के नियमों को नहीं देखता, किन्तु भावुकतापूर्वक कोप और कृपा के गुणों से बने हुए किसी सर्वसमर्थ देव को देखता है, जो उसके ख्याल से सबसे ऊपर बैठा उसे झांक रहा है। वह अपने कर्मों एवं प्रकृति के नियमों को न समझकर अपने सुख-दुख दाता के रूप में एक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना कर लेता है। तब फिर वह यह सोचता है कि उसे पूजा, प्रार्थना तथा ध्यान-आराधना से खुश किया जा सके तो वह मेरे ऊपर कोप करना छोड़ देगा और मुझे राहत देने लगेगा; और जब मेरी भक्ति से पूर्ण संतुष्ट हो जायेगा तब मुझे मोक्ष दे देगा, अपने आनन्दधाम में बुला लेगा आदि।

कहना न होगा कि ऐसा कोई देव नहीं है जिसकी पूजा-प्रार्थना करके हम उसके द्वारा निर्विघ्न सुख-शांति की गारंटी पा सकें। हमें दुखों से मुक्त होने के लिए तात्त्विक विवेक प्राप्त करना चाहिए। सच्ची समझ से ही दुख मिट सकते हैं। इसके लिए दो बातों को समझ लेना चाहिए। पहली बात अपने कर्मों के परिणाम तथा दूसरी बात प्रकृति के नियम। हम पहली बात को लें। हमने जो कुछ कर्म किये हैं वे चाहे पहले जन्म के हों या इस जन्म के, उनके फल भोगने पड़ेंगे। वे टल नहीं सकते। हजार ईश्वर मिलकर कर्म-फल-भोग मिटा नहीं सकते। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण सबको अपने कर्म-फल-भोग भोगने पड़े। भावुक लोग कहते हैं कि ईश्वर राम तथा कृष्ण बनकर धरती पर आया था; परन्तु आप रामायण पढ़कर जानते हैं कि अपने कर्म-फल-भोग के चक्कर में राम बेचारे जीवनभर रोते रहे। कृष्ण को रोने की आदत नहीं थी, परन्तु अपने कर्म-फल-भोग उनको भी भोगने पड़े। पहले उन्नति तथा अन्त में अवनति के दिन उन्हें भी देखने पड़े। जो कुछ जीव ने कर रखा है उसे उसके फल पाने हैं। अतः उसे अपने कर्मों का सुधार करना चाहिए।

दूसरी बात है विश्व के एवं प्रकृति के शाश्वत नियम। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। शरीर जड़ तत्त्वों के कणों के जोड़ से बना है, तो उसमें परिवर्तन एवं बिखराव होगा ही। जब शरीर एक दिन जन्मा है तो एक दिन मरेगा ही। परिवार तथा समाज के लोग एवं मित्रजन एक-एक दिन मिले हैं तो उनका एक-एक दिन बिछुड़ जाना स्वाभाविक है। प्रकृति का नियम ही है परिवर्तन, तो उसे रोककर स्थायी कौन कर सकता है! तथाकथित ईश्वर भी नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में संसार के प्राणी-पदार्थों पर अपनी स्ववशता बनाये

रखने का व्यामोह छोड़ देना चाहिए। चाहे आदमी गृहस्थी में रहे और चाहे साधु-संन्यासी बन जाये, उसे केवल पूजा-प्रार्थना एवं ध्यान में किसी ईश्वर को खोजने से ज्यादा लाभ मिलने वाला नहीं है। इन सबसे एक सात्त्विक मनोरंजन एवं प्रसन्नता मिल सकती है, किन्तु स्थायी दुखों का अन्त नहीं हो सकता।

सद्गुरु ने इस साखी की दूसरी पंक्ति में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं "औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग।" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के सुनहले अवसर कल्पित देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना एवं कर्मकांड के पचड़े में ही बीतते जा रहे हैं। मनुष्य अपनी अवधारणा से बनाये हुए किसी बाहरी ईश्वर की खोज में अपने रत्न समय को खो रहा है। इसके आगे कबीर देव इस साखी की सर्वाधिक मार्मिक बातें कहते हैं—"तैं चेत बिराने लोग"। बिराने लोग का अर्थ है पराये लोग, बेगाना आदमी। जैसे कोई अपने घर में रहते हुए भी अपनी गलती से पराये की तरह रहता हो, और परिवार वाले उसका स्वागत न करते हों; वैसे यह जीव अपने आप में मूलतः अजर, अमर, अखंड, पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं कल्याणस्वरूप है, परन्तु अपने स्वरूप की भूल से पराया बना है। अपना आपा ही अपने लिए पराया बन गया। जैसे कोई बादशाह अपने शत्रु द्वारा अपने ही राजभवन में कैद कर दिया गया हो, वैसे यह जीव अपने आप दुखरहित एवं परम शांत होते हुए भूलवश अत्यन्त दुखी बन गया है। अथवा यह अपने साधन-धाम मानव शरीर में रहते हुए भी भूलवश बंधनों में उलझ गया है। शरीर, मन, प्राणी, पदार्थ आदि जो हमारे कल्याण के साधन बन सकते थे, वे ही हमारे भूलवश हमारे लिए बंधन के कारण बन गये हैं। हम भूलवश स्वयं अपने आप के शत्रु बन गये।

सद्गुरु कहते हैं कि हे बेगाना जीव ! चेत, हे अपने आपा के महत्त्व को न समझने वाला जीव ! सावधान हो जा ! तू अपने आप के कल्याण का कर्ता और विधाता है ! तू स्वयं पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है !

संशय-सागर से पार होओ

संशय सब जग खण्डिया, संशय खण्डे न कोय॥
संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥ 88॥

शब्दार्थ—संशय=अनिश्चय, संदेह। खण्डिया=नष्ट किया।

भावार्थ—संदेह और अनिश्चय ने संसार के सारे मनुष्यों के मन को उलझा दिया है; किन्तु संदेह एवं अनिश्चय का नाश किसी ने नहीं किया। इनका नाश वही करता है, जो शब्दों का विवेकी होता है॥ 88॥

व्याख्या—संशय, सन्देह, अनिश्चय मनुष्य के मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में

मनुष्य संशयग्रसित रहता है। हम पहले आधिभौतिक (प्राणी) क्षेत्र की बातें लें। पत्नी यदि किसी दूसरे पुरुष से हंसकर बातें कर ले तो पति के मन में संशय होने लगता है कि इसका मन पर-पुरुष में तो नहीं विचलित है ! यदि पति थोड़ी देर रात में घर लौटा और कारणवश यह घटना कई दिनों तक हुई तो पत्नी का मन अपने पति के लिए शंकालु हो जाता है कि यह कहीं परायी-स्त्री में तो नहीं लग रहा है ! माता-पिता अपने युवक लड़के पर सन्देह करने लगते हैं कि यह अपनी पत्नी के अधीन तो नहीं होता जा रहा है। बुढ़ापा में हमारी सेवा करेगा भी कि नहीं ! लड़के माता-पिता के प्रति संदेह करने लगते हैं कि इन्होंने अपना धन हमसे छिपाकर तो नहीं रखा है ! भाई पर सन्देह होने लगता है कि यह हमें बेवकूफ बनाता होगा। मित्र पर, पड़ोसी पर सन्देह होता है। दुकानदार पर हमें सन्देह होता ही है कि यह हमें ठग रहा होगा। आदमी मिथ्या स्वार्थ की पूर्ति के लिए इतना चालाक हो गया है कि उसका अपना ही छली मन हर जगह प्रतिबिम्बित होता रहता है। ऐसा भी अवसर आता है कि हमें लोग छलते हैं, परन्तु अधिक तो हमारे मन की कमजोरी होती है और हम कौए की तरह सब पर सन्देह करते रहते हैं। जिसका मन जितना ही अनैतिक होता है उसका मन उतना ही सब पर सन्देह करने वाला होता है। यह सन्देह ऐसा घुन है कि अन्दर-अन्दर चालकर व्यवहार को खराब कर देता है। कितने ही परिवार तथा समाज आपसी सन्देह एवं संशय के कारण एक-दूसरे पर अविश्वास करके अपना पतन कर लेते हैं। परस्पर विश्वास उन्नति का कारण है और अविश्वास पतन का। हेनरी फोर्ड ने लिखा है—"साथ-साथ मिलना प्रारंभ है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है और साथ-साथ काम करना सफलता है।" परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब एक दूसरे के प्रति विश्वास हो। विवेकवान संशय दूर करके अपने मन को स्वस्थ रखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपरिचितों से भी सावधान नहीं होता। वह सावधानी की जगह पर सावधान रहता है; परन्तु उसके मन में सन्देह के घुन नहीं होते। इसलिए उसके परिवार या समाज का आपसी व्यवहार विश्वसनीय, मधुर एवं दृढ़ होता है। विवेकी मनुष्य आपसी व्यवहार में कभी थोड़ा ऊंचा-नीचा हो जाने पर एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, किन्तु वे समझते हैं कि यह मनुष्य की स्वभावजनित भूल है। विवेकी मनुष्य आपस में प्रेम एवं विश्वास को दृढ़ रखते हैं।

कई बार मनुष्य संशय करता है कि अमुक लोग हमें गिराना चाहते हैं; परन्तु जांच करने पर ऐसी बात नहीं रहती। कई बार आदमी सोचता है कि मैं अमुक जगह जाऊंगा तो अमुक-अमुक लोग मेरा विरोध करेंगे। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे उसका आदर करते हैं। परिवार में, समाज में, पड़ोस में या जहां तक संशय एवं सन्देह का रोग है, सब इसी प्रकार ज्यादातर

भ्रमजनित है। यदि लोगों को थोड़ा-मोड़ा विरोध होता भी है तो मिलने पर वह समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इसलिए विवेकवान का कर्तव्य है कि वह अपने मन को सन्देहरहित स्वस्थ रखे।

दूसरा आधिदैविक संशय होता है। पृथ्वी, चांद, सूरज, नक्षत्र आदि को किसने बनाया होगा; वर्षा, शीत, गरमी, छह ऋतुओं का परिवर्तन कैसे होता है; यह सृष्टि कौन चलाता है, इत्यादि संशय एवं अनिश्चय हैं। विवेकवान समझता है कि पृथ्वी, सूरज, चन्द्रमा तथा असंख्य तारे जड़-प्रकृति के खेल हैं। ये सब जड़-प्रकृति की स्वाभाविक रचना है। जड़तत्त्वों में अपने अन्तर्निहित गुण, धर्म, क्रियादि हैं। उन्हीं से जड़ात्मक सृष्टि स्वयमेव चलती है। वर्षा, गरमी, शीत, भूचाल, ज्वालामुखी, वनस्पति आदि सब का होना-जाना जड़-प्रकृति के गुण-धर्मों से अपने आप है। इधर असंख्य जीव अपने कर्म-संस्कारों के अधीन शरीर धरते-छोड़ते तथा कर्म-फल-भोग भोगते हैं। मनुष्य वासनाओं का त्यागकर इसी जीवन में कृतार्थ भी हो जाता है। मनुष्य के ऊपर कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, कर्ता-धर्ता नहीं है जो उसका किसी प्रकार हानि-लाभ कर सके। इस प्रकार विवेकवान इन सबके विषय में निस्सन्देह होता है।

तीसरा आध्यात्मिक संशय होता है। मनुष्य सोचता है कि मैं किसी का अंश हूं या स्वतः अविनाशी हूं! मुझे कोई भगवान या शैतान लाभ-हानि पहुंचाने वाला है कि हमारे शुभाशुभकर्म ही हैं! हम भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान के पथ पर चलकर इसी जीवन में कल्याण प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं! ऐसे-ऐसे अनेक अनिश्चय, संशय एवं सन्देह होते हैं। विवेकवान समझता है कि हमारी अपनी आत्मा न किसी का अंश है न अंशी, न व्याप्य है न व्यापक, किन्तु सबका साक्षी शुद्ध स्वरूप अविनाशी चेतन है। हमारे अपने अज्ञान तथा ज्ञान ही बंधन-मोक्ष के कारण हैं। हम इसी जीवन में अपने आप का कल्याण कर सकते हैं। इस प्रकार विवेकवान अपने कल्याण के लिए स्वयं को किसी देवी-देवता पर निर्भर नहीं करता। वह समझता है कि हमारा कल्याण हमारे सन्मार्ग का फल है। उसमें सहयोगी विवेकवान संत-सद्गुरु हैं। सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि जो शब्दों का विवेकी होता है, वह निस्सन्देह बोधवान होता है। लोग शब्दों के जाल में उलझे हैं। जिसने शब्दों की परीक्षा कर ली है और जो जड़-चेतन की वास्तविकता के अनुसार ही शब्दों को मान्यता या अमान्यता देता है, वह शब्दों के जाल में नहीं भटकता। "आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते कि कोई आप्त या योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनों

को स्वीकार करते हैं जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[1] भामतीकार वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं—"हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[2]

"संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय।" जो शब्दों का विवेकी होता है वह संशय का खण्डन करता है। विवेकी पुरुष कहे हुए शब्दों से सत्ता को नहीं तौलता है, किन्तु सत्ता से शब्दों को तौलता है। कहीं किसी ने शब्द कहे हैं या लिखे हैं इसलिए संसार उसके अनुसार नहीं होता, किन्तु संसार जैसा है उसके अनुसार ही कहे हुए या लिखे हुए शब्द मान्य हो सकते हैं। राजा सगर की पत्नी को एक साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये ऐसा पुराणों में लिखा है इसलिए ऐसा हुआ होगा, ऐसा विवेकी नहीं मानता, किन्तु संसार में ऐसा नहीं होता, इसलिए यह पुराण का शब्द ही गलत है। भरत चित्रकूट के तीर्थों के दर्शन में नंगे पैर चलते हैं, इसलिए पृथ्वी ने अपने आप को कोमल बना लिया, ऐसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है इसलिए यह बात सत्य नहीं हो सकती, बल्कि संसार में ऐसा नहीं होता चाहे जितना बड़ा ज्ञानी या भक्त पैदल चलता हो, जहां की पृथ्वी जैसी है वैसी ही रहती है, इसलिए गोस्वामी जी का यह कथन उनकी केवल भावुकता है। किसी के लिख या कह देने से जड़-चेतनात्मक सत्ता वैसी हो नहीं जाती; किन्तु जड़-चेतन की जैसी सत्ता है, जैसे उनके गुण-धर्म हैं वैसे लिखने तथा कहने से वे शब्द प्रामाणिक माने जाते हैं। यदि विश्वसत्ता तथा उनके नियमों के विरुद्ध शब्द हैं तो वे चाहे किसी शास्त्र के या महापुरुष के हों, विवेकियों के लिए मान्य नहीं हो सकते।

बातें समझने के बाद मानो

बोलन है बहु भाँति का, तेरे नैनन किछउ न सूझ॥
कहहिं कबीर बिचारि के, तैं घट घट बानी बूझ॥ 89॥

शब्दार्थ—बोलन=वाणी, बातें, शब्द। घट-घट=हर दिल, प्रत्येक अन्तःकरण।

भावार्थ—संसार में बातें बहुत प्रकार की होती हैं। तेरे भीतर के नेत्रों से तो कुछ सूझता नहीं है, तू सभी बातों को आंख मूंदकर मान लेता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू सबकी जुबानों से निकली हुई बातों को परखकर समझने का प्रयत्न कर॥ 89॥

---

1. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा।
   युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽनैश्च भवद्विधै॥ अनिरुद्धवृत्ति, 1/26॥
2. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ भामती॥

व्याख्या—कबीर साहेब वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले सन्त पुरुष हैं। वे शास्त्र-प्रमाण एवं आप्त-वचन के नाम पर शब्दों को आंख मूंदकर मानने को अस्वीकार करते है। पुराकाल में महर्षि कपिल ने शब्दों की छान-बीन करके मानने तथा न मानने की राय दी थी। आंख मूंदकर शब्द मान लेना चाहिए इसके वे घोर विरोधी थे। महर्षि कणाद तथा महात्मा बुद्ध ने शब्द को प्रमाण कोटि में रखा ही नहीं। इसलिए शब्द प्रमाण से अपने सिद्धांत को जिलाने वाले वेदांती इनसे नाखुश थे। बीच-बीच में तो जाने-अनजाने में सबके मुख तथा लेखनी से यह बात निकल जाती है कि नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए। कबीर तो मानो क्रांति के सुगठित व्यक्तित्व ही थे। वे उक्त साखी में बहुत बड़ी क्रांति की बात कह देते हैं।

वे कहते हैं—"बोलन है बहु भाँति का" अर्थात संसार में बोलना, बात, वाणी, शब्द, लेख बहुत प्रकार के हैं। अच्छे-अच्छे प्रसिद्ध ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, कवि-लेखकों एवं पीर-पैगम्बरों के नाम पर ऐसी-ऐसी बातें लिखी मिलती हैं जिनका विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु उन बातों को धार्मिकों द्वारा आप्त-वचन एवं शास्त्र-वचन के नाम पर जनता के गले उतारने का प्रयत्न किया जाता है और जो उन पर विचार करना चाहता है उसे नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र होने का करार दिया जाता है। किन्तु कोई बात इसलिए सत नहीं हो सकती है कि वह किसी बड़े नाम के पुरुष या बड़े नाम के शास्त्र से जुड़ी है। वह तब सत हो सकती है जब वह विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुकूल हो। किसी शास्त्र में लिखे होने के नाते उन शब्दों के अनुसार विश्वसत्ता एवं प्रकृति के नियम नहीं हो जाते, किन्तु विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुसार यदि शब्द हैं तो प्रामाणिक होते हैं, अन्यथा वे मनगढ़ंत हैं। कहीं लिखा है कि हनुमान जी सूरज को निगल गये तो इस लेख के नाते यह प्रकृति में घटना नहीं बन सकती। सूरज पृथ्वी से तेरह लाख गुना बड़ा दहकता हुआ आग का पिंड है। उसे किसी व्यक्ति द्वारा निगल जाने की बात बाल-विनोद के अलावा कुछ नहीं है। हनुमान जी शत योजन अर्थात करीब बारह सौ किलोमीटर समुद्र का पाट कूद गये और उसके बाद केवल पांच दिनों में समुद्र पर सौ योजन लम्बा तथा दस योजन चौड़ा अर्थात लगभग बारह सौ किलोमीटर लम्बा तथा एक सौ बीस किलोमीटर चौड़ा पत्थर का पुल बन गया।[1] यह

---

1. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 22, श्लोक 68 से 76।

सब काव्य के अद्‌भुत-रस के अलावा कुछ नहीं है। कबीर साहेब ने मुरदे को जिला दिया, जगन्नाथ में समुद्र को रोक दिया, टूटी चौकी तथा पत्थर के जांत को अपनी आज्ञा मात्र से चला दिया, भैंसे से वेद-मंत्र का पाठ करवा दिया, आदि-जैसी बातें सोलहों आने झूठी हैं और कबीर साहेब के खरे ज्ञान के विपरीत हैं। आज राम, कृष्ण, हनुमान, कबीर, ईसा आदि महापुरुष आ जायें तो वे अपने-अपने अनुयायियों को उनके झूठे प्रचार पर उन्हें खूब फटकारेंगे। अधिकतम धर्म वाले महिमा के नाम पर झूठ बोलने में डरते ही नहीं। वे एक तरफ कहते हैं कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं और दूसरी तरफ वे गला फाड़-फाड़कर झूठ बोलते तथा लिखते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं "तेरे नैनन किछउ न सूझ" हे मानव ! तेरे नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं देता। क्योंकि तू तथाकथित धार्मिकों द्वारा अंध श्रद्धा का उपदेश देकर अंधा बना दिया गया है। धर्मगुरुओं ने तेरी आंखों में अज्ञान की पट्टी बांध दी है। उन्होंने तुझे पशु बनाकर मूक होकर चलने की आज्ञा दी है और अब तू चूं भी नहीं कर सकता है। परन्तु तू समझ ले कि इस तरह विवेकहीन होकर न तुम्हें बौद्धिक संतोष मिलेगा न आत्मिक।

"कहहिं कबीर विचारि के, तैं घट-घट बानी बूझ।" सद्‌गुरु विचारकर कहते हैं कि तुम लोग सबकी बातों को समझने की चेष्टा करो, आंखें मूंदकर मानने की नहीं। हे सत्य के इच्छुको, तुम लोग सबकी बातों पर परख की कसौटी लगाओ। तर्कपूर्ण, युक्तियुत एवं विश्वसत्ता तथा प्रकृति के शाश्वत नियमों से मेल खाने वाले वचनों को ही मानो। बिना सिर-पैर की तथा अनर्गल बातों को दूर से ही त्याग दो।

सद्‌गुरु यह नहीं कहते कि तुम किसी की बातें न मानो या सबकी बातों की अवहेलना कर दो। वे तो कहते हैं "तैं घट-घट बानी बूझ" अर्थात सबके घट से निकली वाणियों को बूझने की चेष्टा करो। उन्हें अच्छी तरह समझ लो कि उनकी वास्तविकता क्या है ! इसके बाद जो त्यागने योग्य है त्याग दो और जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करो।

हम इस साखी का भाव सामान्य व्यवहार के अर्थों में भी ले सकते हैं। "बोलन है बहु भाँति का" संसार के लोगों की बातें अनेक प्रकार से कही जाती हैं। जब तुमसे कोई आदमी मिले और वह अपनी बातें कहे, तब तुम उसकी बातों को समझने की चेष्टा करो। किसी सही आदमी को धोखेबाज समझकर तुम कहीं उसकी अवहेलना न कर दो, और कहीं किसी धोखेबाज आदमी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपने आप को ठगा न दो। ऐसा कई बार होता है कि हम असली आदमी पर भी शंका कर लेते हैं, उसके

साथ न्याय नहीं कर पाते और कई बार एकदम धोखेबाज की मोहक बातों में फंसकर अपने आप को ठगा देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम घट-घट से निकली बातों को समझने की चेष्टा करना। सावधान रहना। कहीं ठगाना नहीं।

मन से ऊपर उठकर, स्वरूप में स्थित होओ

मूल गहे ते काम है, मैं मत भरम भुलाव॥
मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव॥ 90॥

शब्दार्थ—मूल=वस्तुतत्त्व, निजस्वरूप। सायर=समुद्र। मनसा=इच्छा। लहरि=तरंग।

भावार्थ—निजस्वरूप का बोध एवं स्थिति ग्रहण करने से ही कल्याण है। हे मानव! तू नाना वाणियों एवं मान्यताओं के भ्रम में पड़कर अपने स्वरूप को मत भूल। मन समुद्र है और उसकी इच्छाएं तरंगें हैं, उनमें बहकर कहीं मत जा!॥ 90॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में सम्पूर्ण अध्यात्म का सार कह दिया है। किसी भी विषय में एक सिद्धांत होता है और दूसरा व्यवहार, जिसको आज की भाषा में क्रमशः थ्योरी तथा प्रैक्टिकल कहा जाता है। इस साखी के 'मूल' शब्द में सिद्धांत की व्यंजना है और "मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" में व्यवहार की व्यंजना है। कबीर देव कहते हैं—"मूल गहे ते काम है"। मूल है मनुष्य का अपना 'आपा' निजस्वरूप। मनुष्य का निजस्वरूप है चेतन। 'मैं हूं' ऐसा स्वीकार करने वाला जड़ नहीं होता, किन्तु चेतन होता है। मैं का लक्षण है ज्ञान। मैं ज्ञानस्वरूप हूं; बस, इस स्थिति में रहना ही अपने मूल स्वरूप में रहना है। किन्तु संसार में भ्रामक शब्दों का जोर है और स्वरूपज्ञान के शब्दों की अत्यन्त कमी, इसलिए मनुष्य भ्रांतियों की धारा में निरन्तर बहता रहता है। सद्गुरु कहते हैं—"तैं मत भरम भुलाव" जीव भ्रमित होकर ही अपने आप को भूलता है अथवा स्वयं स्वरूप की भूल के कारण ही बाहरी बातों में भ्रमित होता है। संसार में तो ऐसी वाणियों का अधिकतम जोर है कि जीव तुच्छ है, अंश है, प्रतिबिम्ब एवं आभास है, जीव कर ही क्या सकता है, वह तो प्रभु के अधीन है, जीव तो कठपुतली है, प्रभु सूत्रधार है, वह जैसा नचावे वैसा जीव नाचे। धर्म के अधिकतम ग्रंथों में मनुष्य के आपा को इतना कुचल दिया गया है कि उसके मन में यह भ्रम बैठ गया है कि हम स्वभावतः तुच्छ हैं। मनुष्य ने यह भ्रम कर लिया है कि हमें डुबाने तथा तारने वाला हमसे अलग कोई बैठा है। इस भ्रांति में पड़कर मनुष्य के मन में बर्फ का गोला जम गया है कि हम अपने आप का उद्धार

करने में समर्थ नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं—"तैं मत भरम भुलाव"। तू वाणी-जाल की भ्रांतियों में पड़कर अपने महत्त्व को मत भूल। तू महान समर्थ है। तू ईश्वर का ईश्वर है, परमात्मा का परमात्मा है और ब्रह्म का ब्रह्म है। ईश्वर, परमात्मा और ब्रह्म शब्द का उच्चारण तूने ही किया है। तूने अपने स्वरूप को भूलकर अपना मालिक अलग मान रखा है। तू अपने आप को तुच्छ मानने का भ्रम न कर। तू अपने आप को, अपने सत्य स्वरूप को, अपनी आत्मा को समझने का प्रयत्न कर। तू ज्ञानस्वरूप, अपने आप के उद्धार करने में पूर्ण समर्थ तथा स्वतः परमतृप्त स्वरूप है। तेरे लिए तू काफी है। तू अपनी सत्ता और महत्ता को समझ!

"मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" मन समुद्र है, इच्छाएं तरंगें हैं। इनमें बहकर कहीं मत जाओ। बस, यही तो साधना है। आप जानते हैं कि समुद्र कितना विशाल होता है और उसमें कैसी असंख्य उत्ताल तरंगें होती हैं! किन्तु लाखों साधारण-से-साधारण आदमी भी उसको जहाज द्वारा पार करते हैं। परन्तु इच्छा-तरंगों से भरे हुए मन-समुद्र को पार करने वाले कम लोग होते हैं। बाहर का समुद्र सब देखते हैं। उसकी उठती हुई तरंगें एवं ज्वार-भाटे सब देखते हैं, परन्तु मन का समुद्र बाहरी आंखों से देखने की चीज नहीं है। सबका अपना-अपना मन स्व-संवेद्य है। अर्थात हर व्यक्ति अपना मन स्वयं ही जान सकता है। इस मनरूपी समुद्र में न कोई गहराई है, न चौड़ाई है, न पानी है, न तरंगें हैं; परन्तु दूसरी दृष्टि से देखिए तो इसकी गहराई, चौड़ाई एवं विस्तार, इसका वासनारूपी पानी तथा इच्छारूपी ज्वार-भाटे इतने प्रबल हैं कि हर आदमी इन्हीं में रात-दिन बहकर भटक रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि मन-समुद्र तथा इच्छा-तरंगों में बहकर कहीं मत जाना। भजन तथा साधना की यह कसौटी है कि साधक मन की तरंगों में न बहे।

जो संसार के भ्रम तथा भुलावे में नहीं पड़ेगा, जो अपने मूल स्वरूप को ग्रहण कर लेगा। अर्थात जो अपने चेतन-स्वरूप की सत्ता और महत्ता को समझकर अपने आप ही में निमग्न हो जायेगा, वह निश्चित ही मन-मनसा से पार हो जायेगा। श्री भर्तृहरि जी ने भी बहुत सुन्दर ढंग से कहा है—"आशा नाम की एक नदी है, जिसमें अनेक मनोरथों का जल भरा हुआ है, इसमें तृष्णा की तरंगें हैं, राग के ग्राह तथा द्वेष के विषैले पक्षी हैं। यह नदी धैर्यरूपी पेड़ को निरन्तर उखाड़ती है। इसमें मोह के भंवर हैं और चिंता के तट हैं। इसको पवित्र मन वाले योगी पुरुष पार कर जाते हैं।"[1]

---

1. आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।

विषयी जीवन का अंत निराशा है

भँवर बिलम्बे बाग में, बहु फूलन की बास॥
ऐसे जीव बिलम्बे विषय में, अन्तहु चले निरास॥ 91॥

शब्दार्थ—भँवर=भ्रमर, जीव। बिलम्बे=बिलमे, भूले, आसक्त हुए।

भावार्थ—जैसे भौंरे बाग में बहुत फूलों की सुगंधी में भूल जाते हैं, वैसे जीव संसार के विषयों में आसक्त होकर अपने आप को भूल जाते हैं और अंत में उन्हें निराश होकर इस संसार से चले जाना पड़ता है॥ 91॥

व्याख्या—बागों में बहुत प्रकार के फूल होते हैं। भौंरे उनमें आकर उनका रस लेते हैं। वे उनमें इतना लीन हो जाते हैं कि कितने उनमें अपने प्राण भी गवां बैठते हैं। इसी प्रकार मनुष्य संसार के विविध विषयों में आसक्त होकर उनमें उलझ जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। इनमें ये जीव निरन्तर लीन रहते हैं। इनकी आसक्ति के कारण इन्हें अपने स्वरूप का स्मरण तक नहीं होता कि मैं कौन हूं, कहां आया हूं, कहां डूब गया हूं।

जवानी की चटक-चांदनी चार दिनों के लिए आती है। संसार के नर तथा नारी इसी क्षणिक चमक-दमक में भूल जाते हैं। आदमी बन्दर के समान अत्यन्त चंचल और विषयी हो जाता है। कितने युवक-युवती तो काम-भोग को इतना जीवन-प्राण मान लेते हैं कि थोड़े दिनों में वे अपने आप को परास्त कर देते हैं, और अनेक रोगों से ग्रसित होकर अल्पायु में ही काल के गाल में चले जाते हैं। कितने लोग इतने उन्मादी नहीं होते, परन्तु तो भी वे विषय-सेवन ही जीवन-लाभ मानते हैं। अज्ञानवश उन्हें जवानी, परिवार, धन, प्रभुत्व सब चिरंतन और सत्य दिखते हैं। वे रात-दिन इन्हीं में आसक्त रहते हैं। इनसे एक क्षण भी अपने मन को हटाकर अपने अविनाशी स्वरूप के शोध-बोध एवं साधु-संगत में नहीं लगाते। निरन्तर विषयों में क्षीण होते-होते उनके दिन बीत जाते हैं। थोड़े दिनों में जवानी की चमक चली जाती है। शरीर के ओज एवं गरमी क्षीण हो जाते हैं। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। जिन बच्चों के लिए मनोरम स्वप्न देखते थे, जिनसे लम्बी-लम्बी आशाएं करते थे, वे जवान हो-होकर तथा अपने बीवी-बच्चों, काम-धंधों एवं स्वार्थ में फंसकर नीरस हो जाते हैं। उनसे अपने मन की उम्मीदें क्षीण होने लगती हैं। जिन प्राणी-पदार्थों से महा आनन्द-रस की आशा थी, वे सब धोखा लगने लगते हैं। आदमी "अन्तहु चले निराश" अन्त

मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नंदन्ति योगीश्वराः॥ वैराग्य शतक, 42॥

में संसार से निराश होकर चल देता है।

यह मानव जीवन शूकर-कूकर, बन्दर तथा गौबरौले-कीड़े के समान मलिन भोगों में उलझे रहने के लिए नहीं है। यह विवेकसंपन्न भूमिका है। यहां जीव को अपने अविनाशी स्वरूप का शोधन करना चाहिए। इसे क्षणि भोगों में नहीं उलझाना चाहिए जिसका फल अन्त में निराशा है। हमें अविनाशी स्वरूपबोध में स्थित होना चाहिए जिसका परिणाम अनंत सुख एवं शांति है।

भंवरजाल तथा बगुजाल से सावधान

भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत॥
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥ 92॥

शब्दार्थ—भंवरजाल=सांसारिक झंझट, खानी जाल, मोटी माया। बगुजाल=वाणी जाल, भ्रममान्यताओं का जाल, झीनी माया। अचेत= असावधान, विवेकहीन।

भावार्थ—मोटी माया तथा झीनी माया के दो बहुत बड़े जाल हैं, इनमें बहुत-से लोग फंस जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा॥ 92॥

व्याख्या—नदी के गहरे पानी में कहीं-कहीं भंवर होता है। भंवर का अर्थ है पानी का गोलाई में चक्कर काटना। इस चक्कर में जो प्राणी पड़ जाते हैं, वे उससे शीघ्र निकल नहीं पाते, अधिक तो डूब जाते हैं। काम-भोग तथा इसके लिए घर-गृहस्थी का शृंगार एवं सांसारिक झंझट और इनका मोह भंवरजाल है। यही मोटी माया है। यही खानीजाल है। जैसे पानी के भंवर में पड़ा हुआ मनुष्य घूम-घूमकर उसी में डूबता है, वैसे सांसारिक मोह-माया के भंवर में पड़ा हुआ जीव घूम-घूमकर उसी में डूबता है। कितने गृहस्थ लोग प्रायः कहते हैं कि क्या करें साहेब, संसार के भंवरजाल में ऐसा पड़ा हूं कि उसमें से निकल नहीं पाता हूं। प्राणी-पदार्थों का मोह ही भंवरजाल है। पानी के भंवर से बहुत लोग निकल जाते हैं, परन्तु मोह के भंवर से कोई बिरला ही निकलता है।

दूसरा बगुजाल है। बगला सफेद होता है। वह जलाशय के पास अर्धखुले नेत्र करके बैठता है, और कभी-कभी एक पैर उठाकर केवल एक पैर के बल पर ही बैठता है। मालूम होता है कि कोई बहुत बड़े सिद्धयोगी हैं और एक पैर के बल पर खड़े होकर ध्यान में मग्न हैं। परन्तु उसकी यह सारी गतिविधियां मछली पकड़ने के लिए होती हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में बहुत ऐसे गुरुनामधारी हैं जो अपना अनेक चमत्कारी रूप दिखाकर एवं नाना

प्रकार ढोंग-ढकोसले करके भावना-प्रधान जनता को अपने जाल में फंसाते हैं और उनमें शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्ग के लोग फंसते हैं। इसको कहते हैं वाणीजाल एवं झीनीमाया। कोई ईश्वर के दर्शन करा रहा है, कोई चुटकी बजाते मोक्ष दे रहा है, कोई किसी की तथाकथित कुण्डलिनी जाग्रत करा रहा है, कोई ऋद्धि-सिद्धि दे रहा है, कोई पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि दे रहा है। कोई तांत्रिक बना है, कोई सिद्धयोगी, कोई अवतार, कोई पैगंबर। संसार के लोग लोभी हैं। इसलिए ठग लोग उन्हें लाभ का झांसा देकर ठग रहे हैं। वे अपना बगुजाल नये-नये प्रकार से तैयार कर तथा संसार में फैलाकर लोगों को फंसाते रहते हैं।

उपर्युक्त भंवरजाल तथा बगुजाल में वे लोग फंसते हैं जो अचेत हैं और संसार में ज्यादा अचेत ही हैं। कितने लोग हैं जो माया-मोह तथा भ्रामक गुरुओं के फंदे से अपने आप को बचा सकते हैं ! सद्गुरु ने इन भवजालों से बचने का रास्ता बताया है—विवेक। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक"। विवेक मन की वह शक्ति है जिससे चेतन-जड़, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति, स्व-पर के भेद का पता लगता है और उनकी पहचान होती है। विवेक से ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, हित-अहित की परख होती है। विवेक हृदय का प्रकाश है जिससे जहां जो कुछ है वैसा समझ में आने लगता है। फिर माया के सारे जाल टूटने लगते हैं।

सद्गुरु माया-जाल से बचने के लिए अपनी आत्मा से अलग किसी अदृश्य-शक्ति की प्रार्थना-वन्दना करना नहीं बताते। वे जीव को परमुखापेक्षी बनने की राय न देकर उसे स्वावलंबी होने का निर्देश करते हैं। हे मानव ! तू विवेकवान संत-गुरुजनों की संगत कर ! अपने हृदय में विवेक का प्रकाश जला और सारे भव-बन्धनों से मुक्ति ले ! भंवरजाल तथा बगुजाल से बचकर सदैव अपने विवेक में जागता रह ! कभी अचेत न होना ! सावधानी ही साधना है !

हरि के लिए मन का भटकाव

तीन लोक टीड़ी भया, उड़ा जो मन के साथ ॥
हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ ॥ 93 ॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी मनुष्य। टीड़ी=टिड्डी, पंखवाले लाल रंग के कीड़े जो फसल को हानि पहुंचाते हैं। हरिजन=हरि-भक्त। काल=मनःकल्पना।

भावार्थ—जैसे टिड्डी कीड़े हवा के साथ उड़कर यत्र-तत्र नष्ट हो जाते हैं, वैसे त्रिगुणी मनुष्य मन की कल्पनाओं के साथ उड़कर जहां-तहां पतित हो

जाते हैं। हरि-भक्त हरि का रहस्य न समझकर मन की कल्पनाओं के फंदे में फंस गये॥ 93॥

व्याख्या—टिड्डी पंखवाले लाल रंग के कीड़े होते हैं। ये प्रायः पर्वतों में होते हैं। ये कभी-कभार वहां से उड़कर हवा के रुख के अनुसार किसी दिशा में बह चलते हैं। ये एक साथ लाखों-करोड़ों की तादाद में चलते हैं जिससे दूर से आकाश लाल-लाल दिखने लगता है। ये जहां पेड़े-पौधे एवं फसलों पर गिरते हैं उन्हें चरकर साफ कर देते हैं। इसलिए ये जिधर चलते हैं उधर की जनता सावधान हो जाती है और बाजा बजाकर उन्हें खदेड़ती है और फसल आदि में इनके आ गिरने पर डंडे, झाड़ू एवं झांखर से इन्हें मारकर समाप्त करती है।

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे टिड्डी कीड़े हवा के झोंके में उड़कर नष्ट होते हैं, वैसे संसार के लोग अपने मन की कल्पनाओं के झोंके में उड़कर यत्र-तत्र नष्ट होते हैं। इस साखी में टिड्डी का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि मनुष्य अपने मन की कल्पनाओं में बहता है। मनुष्य अनेक इच्छाएं करके अभावग्रस्त रहता है। क्योंकि आदमी के मन में जितनी इच्छाएं उठ खड़ी होती हैं उन सबकी पूर्ति होना असंभव है। ऐसी दशा में निरंतर अभाव एवं असंतोष का अनुभव करने के अलावा कोई चारा ही नहीं है। इन्हीं अभावों की पूर्ति के लिए आदमी अपनी आत्मा के अलावा किसी दैवी शक्ति की कल्पना करता है। अपनी आत्मा एवं अपने स्वरूप की पहचान न करना, जगत की परिवर्तनशीलता को न समझना, अपने लिए कर्मफल-भोग की अनिवार्यता न जानना—इन सब कारणों से आदमी का मन इतना कमजोर होता है कि वह पदे-पदे देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा मानता रहता है। इसी बीच प्रारब्धवशात उसे कोई सांसारिक लाभ हो जाता है तो वह समझता है कि यह अमुक देवी तथा देवता की कृपा का फल है या ईश्वर ने हमारे ऊपर कृपा कर दी है। कुछ लोग कहते हैं कि भाई, विरक्तों की बात छोड़ दीजिए, गृहस्थों को ऐसी धारणा रखनी ही पड़ती है। परन्तु चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, यह धारणा किसी के लिए कल्याणप्रद नहीं है। यह धारणा तो मनुष्य के मन को केवल कमजोर बनाती है। इससे किसी का वास्तविक लाभ नहीं है। इससे तो केवल हानि है।

मनुष्य का अपना आपा अर्थात जीव अमर है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। शरीर नाशवान है। इसको मरने से कोई बचा नहीं सकता। जब तक जीवन की अवधि है तब तक शरीर कोई छीन नहीं सकता और अवधि समाप्त होने पर इसे कोई मरने से रोक नहीं सकता। जीव ने पहले या आज जो कुछ कर्म किये हैं उनके फल-भोग उसे भोगने हैं। उनसे भी उसे कोई

बचा नहीं सकता। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्णादि सब ने अपने कर्म-फल-भोग भोगे हैं। फिर कायर होकर देवी-देवता पुकारने से केवल अपने समय और शक्ति को बरबाद करने के अलावा क्या है !

जड़ और चेतन की सत्ता का वास्तविक बोध न होने से कमजोर मन वालों ने अपनी आत्मा से अलग हरि एवं ईश्वर की कल्पना की और उसकी महिमा में धीरे-धीरे अपार वाणियां बन गयीं। इन वाणियों को सुन-सुनकर मनुष्यों का मन आकाश में उड़ने लगा। धर्मग्रन्थों में हरि के ऐसे आकर्षक रूप निरूपित किये गये कि भक्ति द्वारा उस तक पहुंचने पर परमानन्द प्राप्त होने के सपने दिखने लगे। स्वर्ग की कल्पना, स्वर्ग में दिव्य भोगों की कल्पना, वहां बैठे व्यक्ति-ईश्वर से मिलकर अनन्तकाल तक के लिए अनन्त आनन्द प्राप्ति की कल्पना, इन सारी कल्पनाओं ने हरिजनों को टिड्डी-दल की तरह उड़ाया और ये अपने मन की कल्पना में उड़ने लगे। परन्तु "हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।" हरिजन लोग यह नहीं समझ सके कि यह मन की कल्पना दिवास्वप्न है। मनुष्य की आत्मा से अलग ऐसा कोई हरि नहीं है जिसका कहीं धाम या लोक हो और वह मिलता हो। यह सब तो केवल मन की कल्पना है। जब तक जीव इन कल्पनाओं के हाथों में पड़ा रहेगा तब तक यह भटकता रहेगा। ये कल्पनाएं ही काल हैं, पीड़ा देने वाली हैं। जब जीव सारी कल्पनाएं छोड़ देता है तब वह स्वयं में पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, वह जितनी कल्पनाएं एवं संसार की इच्छाएं छोड़ता जायेगा उतना संतुष्ट होता जायेगा। मनुष्य की अपनी आत्मा ही हरि है, परमात्मा है, परब्रह्म है। अपने चेतनस्वरूप का विस्मरण कर, अपने आपा की स्थिति छोड़कर तो हम केवल मन की कल्पनाओं में ही उड़ने लगते हैं। अतएव अपने स्वरूप से अलग हरि खोजने वालों के लिए सद्गुरु कबीर का यह करारा व्यंग्य है—"हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।"

मन की लहरें विवेक से शांत होती हैं

नाना रंग तरंग है, मन मकरन्द असूझ॥
कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ॥ 94॥

शब्दार्थ—रंग तरंग=भावनाओं की लहरें। मकरन्द=फूलों का रस, मधु, फूलों का केसर, भ्रमर-कीड़ा। असूझ=अंधा। अकिल कला=अक्ल का गुण, विवेक बुद्धि, परख।

भावार्थ—कल्पनाओं एवं भावनाओं की नाना लहरें हैं। मन भंवरा उनमें पड़कर अंधा बना रहता है। कबीर साहेब मनुष्यों की भीड़ में सबको उच्चस्वर में सुनाकर कह रहे हैं—हे मनुष्यो ! तुम इनसे पार होने के लिए विवेकी गुरु के

पास विवेकज्ञान एवं परखरूपी साधन जानने का प्रयास करो॥ 94॥

व्याख्या—"नाना रंग तरंग है" मन की अनेक भावनाओं की लहरें हैं। जीभ से स्वाद चखने की लहरें, आंखों से अनुकूल रूप देखने की लहरें, नाक से गंध सूंघने की लहरें, कानों से अनुकूल शब्द सुनने की लहरें, त्वचा से कोमल तथा अनुकूल स्पर्श करने की लहरें, मन से संकल्प-विकल्प की लहरें; पत्नी, संतान, धन, ऐश्वर्य, सम्मान, प्रतिष्ठादि प्राप्त करके उनमें विलसने की लहरें। मनुष्य के मन में हर क्षण अनगिनत लहरें उठती रहती हैं। इन सबके मूल में है मन और इन्द्रियों के संपर्क में आने वाले विषयों के संयोग में उत्पन्न सुख-भ्रम। विषय-सुख-भ्रम की भावनाओं की लहरें-पर-लहरें आती हैं और मनुष्य का मन-भंवरा सदैव इन्हीं में अंधा बना रहता है। "मन मकरन्द असूझ"। मकरन्द के अर्थ पुष्परस, मधु तथा पुष्प-केसर होते हैं और मकरन्द का अर्थ भ्रमर एवं भौंरा-कीड़ा भी होता है। इसलिए मन विषय-रस में अंधा बना रहता है या मन-भंवरा विषय-रस में अंधा बना रहता है, दोनों तरह से अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। सार अर्थ यही है कि मन विषयों की भावनाओं में डूबकर मूढ़ हो जाता है।

केवल स्थूल विषयों में मन मूढ़ बना रहता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु लोक-लोकान्तर, देवी-देवता तथा कमलों के समान हाथ, पैर, मुख, आंख, छाती, गाल वाले ईश्वर को भी देखने एवं पाने के लिए मनुष्य का मन मतवाला बना रहता है। इस प्रकार मनुष्य का मन सांसारिक विषयों तथा धार्मिक काल्पनिक भावनाओं की लहरों में भी मतवाला बना रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ" कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि तुम अक्ल का गुण प्राप्त करो। निष्पक्ष गुरु-संतों के बीच में जाकर यह समझो कि अकिल-कला क्या है! अकिल-कला से ही इन तरंगों में बहने से बच पाओगे। अकिल-कला, सद्बुद्धि, विवेकज्ञान एवं परख ये सब करीब-करीब एकार्थबोधक हैं। मनुष्य विवेकज्ञान द्वारा ही मन की तरंगों से अपने आप को बचा पायेगा।

मनुष्य के निज स्वरूप चेतन से अलग जो कुछ है या तो दृश्य जड़ तत्त्वों का पसारा है या मनःकल्पनाओं का पसारा, और ये दोनों मन द्वारा ही जीव के सामने होते हैं। अतएव जीव का जगत से संबंध जोड़ने वाला केवल मन ही है। यही मन तरंगवान बनकर लहरों-पर-लहर लाकर जीव के सामने संसार उपस्थित करता है। जब मनुष्य को विवेक-ज्ञान उदय होता है कि मैं शुद्ध चेतन हूं और मन तथा मन से प्रतीतमान सारा संसार मुझसे सर्वथा पृथक है, तब वह मन सहित सारे दृश्यों को छोड़कर मात्र अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है। मन की तरंग शांत हो जाने पर उसके लिए संसार शांत हो जाता

है। मन से ही विषयों की कल्पना होती है तथा मन से ही देवी-देवादि की। अकिल-कला—विवेक-ज्ञान द्वारा जब मन शांत हो जाता है, तब नाना रंग-तरंगें समाप्त हो जाती हैं और जीव असंग स्वरूपस्थ हो जाता है।

मन की चंचलता को जीतो

बाजीगर का बाँदरा, ऐसा जीव मन के साथ॥
नाना नाच नचाय के, ले राखे अपने हाथ॥ 95॥

शब्दार्थ—बाजीगर=जादू का खेल दिखाने वाला।

भावार्थ—जैसे बाजीगर बन्दर को नचाता है और उससे नाना खेल कराकर उसे अपने हाथों में रखता है, वैसे ही मन जीव को नाना नाचों में नचाता है और सदैव अपने वश में रखता है॥ 95॥

व्याख्या—जीव स्वतंत्र चेतन है और मन एक आभास मात्र है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि सत्य चेतन जीव असत्य मन के हाथों बिक गया है। बाजीगर बन्दर को डोरी में बांधकर रखता है और उसे अपनी इच्छा के अनुसार नचाता है। खेद है कि वैसे ही मन जीव को आसक्ति की डोरी में बांधकर उसे अपने वश में रखता है और अपने इच्छानुसार नचाता है। आप देखते नहीं, अच्छे-अच्छे सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोग बीड़ी-सिगरेट, चरस-तम्बाकू आदि खाने-पीने की आदत बना लेते हैं और उनकी आसक्ति में बंधकर सदैव अपने मन की गुलामी करते हैं! वे समझते भी हैं कि ये सब गलत हैं, स्वास्थ्य और शांति के शत्रु हैं; परन्तु अपने मन को नहीं रोक पाते। इसी प्रकार शराब, मांस, काम-भोग तथा नाना प्रकार के विषयों में आदत बनाकर उनकी आसक्ति में बंधा जीव मन के हाथ बिका रहता है और जीवनभर नाचता रहता है।

जैसे एक सम्राट नशा कर लेने से अपने आप को भिखारी मानकर दुखी हो, वैसे जीव स्वरूपतः सम्राट होकर भी अपने स्वरूप के अज्ञान से मन के वश दुखी है। ये विषय की इच्छाएं ही तो जीव को संसार में नाना नाच नचाती हैं। यदि जीव विषयों की इच्छा छोड़ दे, तो उसे कौन विवश कर सकता है! जीव का शुद्ध स्वरूप विषयों से रहित है। उसे अपने आप को पहचानना चाहिए। जो तंबाकू नहीं खाता, बीड़ी-सिगरेट नहीं पीता, वह इनके लिए कहां नाचता है! इसलिए मन के वश में पड़कर नाचने का अर्थ है विषयों की आसक्ति के वश होकर नाचना। बंधन है विषयासक्ति और मोक्ष है सभी आसक्तियों से मुक्त हो जाना।

मन नचाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मन कोई सबल जानवर है और वह हमें पकड़कर नचाता है। मन तो एक काम-काज का साधन है।

परन्तु जब मन में संसार के नाना विषयों की आसक्ति बनी रहती है और हम उन-उन विषयों में खिंच-खिंचकर भटकते हैं, तो कहा जाता है कि मन हमें नचाता है। यदि हम विवेकपूर्वक जीवन जीयें और विषयों की आसक्ति छोड़ दें, अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह लेते हुए शेष अन्य विषयों के उपभोग भी छोड़ दें, तो इस प्रकार विषयों के भोग तथा आसक्ति छोड़ देने पर हमारा मन अनासक्त, शुद्ध एवं संयत हो जाता है। फिर तो वही मन हमारे लिए शांति का कारण बन जाता है। विषयों में आसक्त मन जीव को भटकाता है और अनासक्त मन शांति का अनुभव कराता है।

ई मन चंचल ई मन चोर, ई मन शुद्ध ठगहार॥
मन मन करते सुर-नर मुनि जहँड़े, मन के लक्ष दुवार॥ 96॥

शब्दार्थ—शुद्ध=केवल, खालिस। जहँड़े=नष्ट हुए। लक्ष=लाख की संख्या, लक्ष्य-स्मरण। दुवार=दरवाजा।

भावार्थ—यह मन चंचल है, यह मन चोर है और यह मन केवल ठगहार है। मन पर विचार और चर्चा करते-करते देवता, मनुष्य और मुनि लोग भी मन ही की धारा में बह गये; क्योंकि मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं॥ 96॥

व्याख्या—मन की चंचलता सर्वविदित है। संसार के सभी लोग तो मन से परेशान हैं। जहां जाओ, जितने लोग मिलते हैं सब यही कहते हैं कि मन अशांत है, मन वश में नहीं हो रहा है। संसार की वे सारी चीजें हैं जो जीवन के लिए चाहिए; परन्तु मन ही नहीं शांत होता। मनुष्य को नींद क्यों नहीं आती है, क्योंकि मन परेशान है। पूजा में बैठे हैं, ध्यान में बैठे हैं, कथा-कीर्तन में बैठे हैं, परन्तु मन कहां-कहां घूम रहा है, यह अन्दर वाला ही जान सकता है, ऊपर वाला नहीं जान सकता। पवित्र स्थान में बैठे-बैठे मन क्षण ही में कितनी गंदी-गंदी जगहों में जा सकता है यह सर्वसामान्य का अपना-अपना अनुभव है। यह मन पल मात्र में कश्मीर से कन्याकुमारी तथा भारत से अमेरिका ही नहीं, किन्तु जहां तक उसकी कल्पना में आ जाये आकाश-पाताल नाप लेता है। मन का भटकाव ही तो जीव का भवजाल में पड़ा रहना है।

यह मन चोर है। जिन-जिन विषयों में आसक्ति बनी है, उन-उन में मन चुपके से चल देता है। मन अपना दांव खेलने में चतुर है। सबसे छिपाकर इच्छित भोगों में पहुंच जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि इतना ही नहीं, मन शुद्ध ठगहार है। यहां शुद्ध शब्द ठगहार का विशेषण है। अर्थात यह मन खालिस ठगहार है। ठगहार आदमी लोगों को अच्छे माल का झांसा देकर बुरा माल बेच देता है। ठगहार सोना का कड़ा दिखाकर ग्राहक से भरपूर दाम ले लेता

है, परन्तु जब ग्राहक कड़ा लेकर घर जाता है और सुनार से उसकी परख कराता है तब वह पीतल ठहरता है। यह मन भी जीव के साथ यही करता है। धर्म का लोभ दिखाकर अधर्म में लगाता है। जीव कहता है विषय-मार्ग में नहीं चलूंगा, मैं तो ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के मार्ग में चलूंगा। मन कहता है कोई बात नहीं, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही चलूंगा। इस प्रकार मन ऊपर-ऊपर जीव को धर्म का झांसा देकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के स्मरण करते-करते विषय के चिन्तन में ले जाकर पहुंचा देता है। मन जीव को ठगना खूब जानता है। वह जीव के परमार्थ-मार्ग में मिल-मिलकर स्वार्थ में उसे घसीटता रहता है। देखते नहीं हो, कितने धर्म, भक्ति और ज्ञान-वैराग्य का जामा पहने हुए लोग थोड़े दिनों में अपने मार्ग से भटककर कहां-कहां विचरने लगते हैं।

"मन मन करते सुर नर मुनि जहँड़े" बड़ा मार्मिक वचन है। सुर देवता हैं, नर मनुष्य हैं और मुनि मननशील तपस्वी हैं। देवताओं की दशा तो सदैव दयनीय रही है। पुराकाल में देवता भारत के उत्तराखण्ड में बसने वाली एक जाति थी जो धन-सम्पन्न थी। उनमें नर तथा नारी वैवाहिक बंधन में नहीं रहते थे। वे यौनाचार में अत्यंत उच्छृंखल थे। देवपति इन्द्र का चरित्र जगजाहिर है जिसने पुलोम नाम के दानव तथा उसके संभावित दामाद की हत्या कर उसकी पुत्री शची को छीन लिया और उसे अपनी पत्नी बना लिया तथा जगह-जगह अपने आचरण की शिथिलता का व्यवहार करता रहा। देवता के बाद मनुष्यों की दशा तो सामने है जो विषयों के कीट बने घिनौने-से-घिनौने काम करने पर उतारू हो जाते हैं। तीसरे हैं, मुनिजन, जिनमें अनेक लोग मन के चक्कर में पड़कर अपने तप तथा ध्यान को तिलांजलि देकर काम, क्रोध तथा लोभ की धारा में बहते रहे। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि मन पर विचार और चर्चा करते-करते ये देवता, मनुष्य तथा मुनिजन भी मन की धारा में ही बहते रहे।

"मन के लक्ष दुवार" मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं। किस रास्ते से मन कब भाग जाता है साधारण मनुष्य इसका पता भी नहीं पाता है। यह शुभ रास्ते में होते हुए भी अशुभ में चला जाता है। मन का चक्कर बहुत घुमावदार है।

इस साखी में 'शुद्ध ठगहार' तथा 'लक्ष दुवार' के दूसरे अर्थ भी किये जा सकते हैं। 'ठगहार' का 'शुद्ध' शब्द विशेषण न मानकर यदि उसका अलग से अर्थ किया जाये तो अभिप्राय होगा कि मन शुद्ध भी है और ठगहार भी है। मन के दो पहलू हैं एक शुद्ध तथा दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध मन ठगहार है और

वही बन्धन का कारण है। शुद्ध मन सरल है तथा मोक्ष का कारण है।

'मन के लक्ष दुवार' में दूसरा अर्थ होगा कि मन के निकल भागने का दरवाजा लक्ष्य एवं स्मरण ही है अर्थात मन के निकल भागने का केवल एक दरवाजा है और वह लक्ष्य, स्मरण एवं ख्याल है। इसलिए यदि साधक अपने स्मरण पर सावधान रहे तो मन गलत रास्ते में जाने की गुंजाइश ही नहीं पायेगा। जैसे किसी के दरवाजे पर डाकू आ गये हों, किन्तु घर का मालिक घर के भीतर दरवाजे पर तलवार लेकर बैठा है। घर में घुसने का मात्र वही एक दरवाजा है। अतः जो डाकू दरवाजे में सिर डालता है, घर का मालिक उसका सिर काट देता है। दूसरा दरवाजा ही नहीं है कि डाकू घुस जायें, वैसे मन को भागने का एक ही दरवाजा है स्मरण; और साधक सावधान होकर यदि स्मरण पर निरन्तर बैठा है तो मन कहां जा सकता है! जो साधक हर क्षण अपने स्मरणों का साक्षी बना रहता है, वह मन के प्रपंच से मुक्त हो जाता है।

यह तो पिछली साखी की व्याख्या में ही निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है कि वह जीव को विवश कर सके। वस्तुतः जीव ही अपने स्वरूप को भूलकर नाना विषयों में आसक्त हो जाता है, इसलिए उन सब में मन भटकता है। जिसको स्वरूप का ज्ञान हुआ और विषयों की आसक्ति समाप्त हुई, वह बड़ी सरलता से मन का साक्षी होकर शांति को प्राप्त होता है। भूल दशा में जो मन क्षण मात्र के लिए स्थिर नहीं होता, वही ज्ञान-दशा में इतना शांत हो जाता है कि उससे देह-व्यवहार का काम लेने के लिए उसे जगाना पड़ता है, तब वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

राम-वियोगी को खरा सत्य कहकर दुखाओ मत

बिरह भुवंगम तन डँसो, मन्त्र न माने कोय॥
राम बियोगी न जिये, जिये तो बाउर होय॥ 97॥
राम बियोगी बिकल तन, इन्ह दुखवो मति कोय॥
छूवत ही मरि जायँगे, तालाबेली होय॥ 98॥
बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव॥
साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥ 99॥

शब्दार्थ—विरह=वियोग, जुदाई, बिछुड़न में अनुभूत होने वाला अनुराग। भुवंगम=सर्प। बाउर=पागल। तालाबेली=व्याकुलता, तिलमिलाहट। पैठि के=घुसकर।

भावार्थ—जिसको राम-वियोग के सांप ने डस लिया है, उसे किसी प्रकार के उपदेशरूप मंत्र नहीं लगते। राम-वियोगी जीवित नहीं रह सकता, यदि कदाचित जीवित रह जाये, तो पागल हो जाता है॥ 97॥ जो लोग राम

को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें यह कहकर मत दुखाओ कि तुम्हारी आत्मा से अलग कहीं कोई राम नहीं है। क्योंकि वे इतनी बातें सुनते ही तिलमिलाकर अत्यंत पीड़ित हो जायेंगे॥ 98॥ ईश्वर-वियोगजनित सर्प ने उनके हृदय में घुसकर घाव बना दिया है। परन्तु वे साधक विरह-सर्प से अपने अंग नहीं बचाते, वह जैसा चाहे उन्हें खा ले॥ 99॥

व्याख्या—वैसे ईश्वर-ईश्वर कहने वाले अधिकतम लोग हैं, उनकी बात छोड़िये। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे ईश्वर-वियोग से अत्यन्त बेचैन होते हैं। उन्होंने यह मान रखा है कि मेरी आत्मा से अलग ईश्वर है, मैं उससे बिछुड़ गया हूं, वह अलग है तथा मैं अलग हूं। इस भ्रमजनित अलगाव की अनुभूति उन्हें तीव्रतम रूप से होती है। मानो विरह के सांप ने उन्हें काट खाया हो। विरह का अर्थ ही होता है वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ऐसे लोगों को कोई मन्त्र नहीं लगता है। ऐसे लोगों को यदि आप यह समझाओ कि नहीं, आपसे अलग ईश्वर नहीं है, आपकी आत्मा ही सर्वोच्च है, आपका चेतनस्वरूप ही परम सत्ता है, तो यह सब बातें उनके गले उतरने की नहीं होंगी। वे इस बात को समझ ही नहीं सकते। ऐसे राम-वियोगी लोग जीते रहना भी पसंद नहीं करते। वे सोचते हैं कि जिस शरीर से प्रभु के दर्शन नहीं हुए, वह शरीर रखकर क्या होगा ! अतएव वे अपना शरीर तक त्याग देते हैं। यदि वे जीवित भी रहते हैं तो पागल होकर जीते हैं। उन्मत्त की तरह चेष्टा करते हैं। वे सदैव वनों एवं बादलों की श्यामता में, समुद्र की लहरों में, आकाश की अनंतता में तथा प्रकृति की क्रियाओं में उसे खोजते हैं। यद्यपि उनका यह सब केवल पागलपन ही रहता है; तथापि वे अपने इस पागलपन को सच्ची ईश्वर-निष्ठा मानते हैं। संसार के लोग भी उनको उच्चकोटि के भक्त एवं संत मानते हैं। उनके इस उन्माद से उनके सांसारिक विषय छूट जाते हैं। इसलिए उनका जीवन स्वच्छ हो जाता है। इसमें दो राय नहीं है। परन्तु ईश्वर को अलग खोजने का अज्ञान उनको जीवनभर केवल भटकाता है।

इस प्रकार विरह-व्यथा में व्याकुल भावुक साधकों से किसी को सीधे यह नहीं कहना चाहिए कि तुम जिसे खोज रहे हो वह केवल तुम्हारे मन की सनक है, वह कोई वस्तु नहीं है, कोई सत्ता नहीं है, वह केवल भावुकों का किया हुआ प्रलाप है इत्यादि, क्योंकि ऐसी खरी बातें सुनकर वे तिलमिला उठेंगे। ऐसे शब्द कह देना मानो उनको मृत्युदण्ड दे देना है। इसलिए विवेकियों को चाहिए कि वे उन्हें सत्य कहकर दुख न दें। "इन्ह दुखवो मति कोय" यह गुरुदेव का उनसे करुणापूर्वक आग्रह है जो सत्य के उपदेष्टा हैं। जो किसी भावना को लेकर अपने जीवन को सदाचारपूर्ण तथा दैवीसंपदायुक्त

बिता रहा है, वह सन्मार्ग में तो लगा ही है। आचरण तो उसके पवित्र ही हैं। भले ही वह बहुत बड़े भ्रम में है। सबके सामने सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। सारा सत्य एक साथ कह देने से ऐसे लोग समझ तो पाते नहीं, उलटे खिन्न हो जाते हैं। इसलिए "जेहि कर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिलै पुनि सोई॥"[1] अर्थात जिसका मन जिसमें बंधा हो उसकी थोड़ी प्रशंसा कर उनसे व्यवहार करना चाहिए। जब धीरे-धीरे उनका प्रेम हो जाये, तथा पात्रता देखकर उन्हें सत्य बताना चाहिए। वह भी उतना ही, जितना वे प्रसन्नता से सहन कर सकें।

संभवतः सन् 1966 ई. की बात है। श्री विशाल साहेब बाराबंकी जिले के ब्राह्मणपुरवा ग्राम में निवास कर रहे थे। इन पंक्तियों का लेखक उनके दर्शनार्थ गया था। एक शाम एक अनपढ़ गंवई बुड्ढा श्री विशाल साहेब से मिलने आया। वह विशालदेव का पूर्व परिचित था। वह विशालदेव से कहने लगा—"साहेब, मैं कई दिनों से आपके दर्शनार्थ आना चाहता था, परन्तु मैं जैसे तैयार होकर आपके पास आने के लिए चलता था, वैसे 'वह' मेरे पैर पकड़ लेता था।" यहां उसका 'वह' प्रेत था। वह मानता था कि प्रेत मुझे आने नहीं देता था।

श्री विशाल साहेब ने उससे कहा—"यदि तुम बिलकुल आने के लिए ठान ही लेते, तो 'वह' तुम्हारे पैर छोड़ देता।"

जब बुड्ढा अपने घर चला गया, तब मैंने गुरुवर विशालदेव से कहा—"साहेब, आपने उसे यह क्यों नहीं बताया कि 'वह' अर्थात भूत-प्रेत कुछ नहीं है। वह केवल तुम्हारा भ्रम है।" विशालदेव ने कहा—"यदि मैं साफ-साफ भूत-प्रेत का खंडन कर देता, तो वह दुखी तथा नाराज हो जाता और तुरन्त चला जाता और फिर वह कभी लौटकर नहीं मिलता। क्योंकि मैंने उसकी मानसिकता का अन्दाज लगा लिया था। यदि वह बराबर आयेगा और उसकी कुछ पात्रता कभी देखूंगा तो उसे समझाऊंगा। अन्यथा वह जैसा है वैसा रहेगा, संतों का प्रेम तो नहीं छोड़ेगा!" भूत-प्रेत मानने वालों के मन का भी इतना संभाल विशालदेव करते थे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य बातें कहने में हिचकना चाहिए। बिना सत्य कहे लोगों को बोध कैसे होगा! एकदम झकझोरकर भी सत्य बातें कहना पड़ता है। परन्तु व्यक्तिगत किसी अत्यन्त भावुक एवं अपात्र व्यक्ति को सीधे उसकी भावना के विरोध में कहना, न अपने लिए कल्याणकर है और न उसके लिए। हम इसलिए तो सत्य कहना चाहते हैं कि अगला आदमी समझ

---

1. श्री रामरहस साहेब, पंचग्रंथी, गुरुबोध।

जाये। परन्तु वह समझने के बदले दुखी हो गया तथा उपदेष्टा के लिए ही द्वेष बना लिया, तो सत्य कहकर किसी का भी क्या फायदा हुआ !

व्यक्तिगत किसी आगंतुक जिज्ञासु से चर्चा का विषय अलग होता है, सभा में कहने का विषय कुछ अलग होता है। कितनी बातें ऐसी हैं जो सभा में तो कही जा सकती हैं, परन्तु वे सब ज्यों-का-त्यों पुस्तकों में नहीं लिखी जा सकतीं और कितनी ऐसी बातें हैं जो पुस्तकों में लिखी जा सकती हैं, परन्तु वैसी-की-वैसी ही सभा में नहीं कही जा सकतीं।

किसी सत्पात्र जिज्ञासु को व्यक्तिगत रूप में खूब खरा उपदेश किया जा सकता है, परन्तु उतना ही खरा सार्वजनिक सभा में कहना हितकर नहीं होता। कहीं किसी भावुक आगंतुक को व्यक्तिगत रूप में ज्यादा खरा निर्णय नहीं सुनाया जा सकता है, परन्तु सभा में सार्वजनिक होने से तथा उसमें अधिक सत्पात्र हैं तो खरी बातें कहीं जा सकती हैं। ज्यादातर सभा में हर प्रकार की मानसिकता वाले व्यक्ति होने से वहां ऐसी ही बातें कहना उचित रहता है जिससे वहां के सभी श्रोताओं को कुछ-न-कुछ लाभ मिल सके। कहीं-कहीं सभा में बहुत कुछ मीठा बनाकर कहा जा सकता है जबकि पुस्तकों में वैसा नहीं लिखा जा सकता। पुस्तकों में खरी एवं स्पष्ट बातें इसलिए लिखा जाना आवश्यक रहता है जिससे दूर-निकट तथा देश-विदेश के लोग पढ़कर निर्भ्रांत ज्ञान प्राप्त कर सकें।

वक्ता वही सफल होता है जो देश, काल तथा पात्रता का ज्ञान रखकर अपना वक्तव्य देता है। वक्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि जिसके कल्याण के लिए हम कुछ कह रहे हैं उसे कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य हो। हमारे सत्य के जोश में अगले आदमी को यदि लाभ न होकर दुख हो तो हमारा परिश्रम बेकार हुआ। यह भी सत्य है कि कभी-कभी खरी तथा सत्य बातें सुनकर हमारे दिल को ठेस लगती है और हम अपनी धारणा एवं भावना के प्रति शंकालु हो जाते हैं और सत्य की खोज के लिए मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं पहले ऐसा हुआ था जब सुना कि "खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई। हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।"[1] अर्थात नृसिंह का खम्भा फोड़कर निकलने-जैसी बहुत-सी कथाएं काल्पनिक हैं तब दिल को ठेस लगी और यह हुआ कि क्या पुराने सब ऋषि-मुनि-पंडित बेवकूफ थे जिन्होंने यह सब माने और लिखे हैं ! क्या केवल कबीर साहेब तथा कबीरपंथी ही सत्य समझते हैं ! भगवान के विषय में ऐसी शंका करने वाले नास्तिक हैं !

---

1. बीजक, शब्द 8।

परन्तु कबीर साहेब एवं पारखी संतों की बातें पढ़ते-सुनते मन में ऐसा लगने लगा कि इनकी बातें बुद्धिपूर्वक हैं। मैं ही तो भ्रम में नहीं हूं! अपनी मान्यता के प्रति संदेह होने लगा। सत्य की खोज शुरू हुई और दो ही महीने में रास्ता साफ हो गया।

यह सब लिखने का अर्थ यह है कि बिना साफ निर्णय किये जिज्ञासु को सत्य का बोध नहीं होगा, परन्तु देश, काल, पात्रता देखकर ही उपदेश किया जा सकता है तथा किसी को राय दी जा सकती है। उपदेश, चर्चा, राय, बात बहुत संवेदनशील विषय हैं। इन सबका बहुत सावधानी से ही प्रयोग करना योग्य है।

"बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव" उनके मन में इस भावना का मानो घाव बना हुआ है कि परमात्मा मुझसे अलग है। वे इस भावना से अपना उबार भी नहीं चाहते हैं; क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। अतएव ऐसे लोगों का बिना दिल दुखाये, इनसे व्यवहार करो। इनके मनोनुकूल बातें कहकर पहले इनमें प्रेम उत्पन्न करो। जब इनमें सत्य खोजने के लिए प्रेम जग जाये, तब इन्हें धीरे-धीरे सत्य समझाने की चेष्टा करो। यदि इनके मन में सत्य-खोज की चेष्टा न जगे, तो केवल प्रेम का व्यवहार ही काफी है।

"साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥" वे विरही साधु ईश्वर-वियोग जनित पीड़ा को ही सुख समझते हैं। विरह-वेदना में चाहे जितना दुख हो वे उसमें दृढ़ रहते हैं।

धर्म-भक्ति के नाम पर पशु मत बनो

करक करेजे गड़ि रही, बचन बृक्ष की फाँस॥
निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस॥ 100॥

शब्दार्थ—करक=रुक-रुककर होने वाली पीड़ा, कांटे। फाँस=पाश, फंदा; बांस आदि का कड़ा रेशा या पतली तीली जो कांटे की तरह चुभ जाये, किरिच, मन में चुभने एवं खटकने वाली बात। काहू=कोई, भावुक, विवेकरहित। गाँस=तीर का फल, रुकावट, गांठ, फंदा।

भावार्थ—वाणीरूपी पेड़ के कांटे मनुष्यों के कलेजे में चुभ गये हैं। वे रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। वे किसी के निकालने पर भी नहीं निकलते। वे भावुकों के दिलों में चुभकर रुके हुए हैं॥ 100॥

व्याख्या—बांस आदि पेड़ों के नुकीले रेशे जब मनुष्य के किसी अंग में गड़कर अन्दर-ही-अन्दर टूट जाते हैं तब उनका निकलना कठिन हो जाता है। वे अन्दर रहकर घाव बनाते हैं तथा रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। इन

चुभने वाले रेशों को फांस कहते हैं तथा उनसे होने वाली पीड़ा को करक कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि वचनों के भी पेड़ होते हैं जिनके कंटीले रेशे मनुष्य के हृदय के भीतर चुभ गये हैं और ऐसे चुभे हैं कि टूटकर अन्दर ही रह गये हैं। वे अन्दर ही घाव बना दिये हैं। उनका निकलना सरल नहीं है। सद्गुरु कहते हैं—"रही सो काहू गाँस"। काहू में भावुकों एवं विवेकरहितों के लिए व्यंजना है। जो केवल भावुक है तथा विवेक को अलग रखकर बातें करता है उसी के मन में जैसी-तैसी वाणियों के कांटे धंसे रहते हैं और नहीं निकलते। विवेकवान उन्हें निकाल फेंकता है।

यहां वचनों के कांटे के अर्थ आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों में लगते हैं। प्रसंगानुसार मुख्य अर्थ आध्यात्मिक वचनों के विषय में ही है। भूत, प्रेत, देवी, देवतादि समस्त चमत्कारिक अवधारणाओं के विषय में मनुष्यों ने धर्मग्रन्थों से जितने वचन पढ़ तथा सुन रखे हैं वे उनके हृदय में पूर्णतया चुभ गये हैं। मनुष्य धर्म के नाम पर तथ्यपूर्ण वचनों के साथ-साथ सैकड़ों बे-सिर-पैर की बातों को भी परम प्रमाण मानकर उन्हें छाती-पेटे लगाये रखता है। सबसे ज्यादा व्यामोह प्रभु-वचन एवं आप्त-वचनों का है। आदमी धर्म और भक्ति के नाम पर इतना अंधा बन जाता है कि उनके नाम पर धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उन पर विचार करना ही नहीं चाहता। मालूम होता है कि धर्मभक्ति का सचाई से कोई रिश्ता ही नहीं है। चमत्कार, अंधविश्वास एवं पोंगापंथी बातों पर कसौटी लगायी जाये, उन्हें परखने की बात की जाये, तो लोग "पाप होय गौ घात समाना" कहकर कानों में उंगली लगा लेते हैं और भाग खड़े होते हैं या लड़ने लगते हैं। तब यह बात चरितार्थ होती है "निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस।"

दूसरे व्यावहारिक क्षेत्र के वचन हैं। किसी ने किसी को कुछ कह दिया है और उसके मन में वह बात चुभ गयी है तो निकालने पर भी नहीं निकलती है। यह सब अविवेक का फल है। जिसके मन में विवेक है, परख है, उसके ऊपर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। न वह धर्म और भक्ति के नाम पर अपनी बुद्धि को बेच देता है और न किसी के वचन-बाण से व्यथित होता है। किसी के भला-बुरा कह देने से हम क्यों पीड़ित हों! किसी की बातों से यदि हम क्षुब्ध होते रहें तो इसका अर्थ है कि हम पशु हैं और हमें कोई जिधर चाहे हांकता रहे और हम दूसरों द्वारा हांके जाते रहें। हम पशु हैं कि मनुष्य, इसकी परख केवल मानव-शरीर से नहीं होती है, किन्तु इसके लिए विवेक कसौटी है। यदि हम हर बात पर विवेककर स्वतः दृष्टि से सार तथा असार का निर्णय करते हैं तो हम मनुष्य हैं और यदि हम केवल दूसरों द्वारा हांके जा रहे हैं तो पशु हैं।

काल का स्वरूप

काला सर्प शरीर में, खाइनि सब जग झारि॥
बिरले ते जन बाँचि हैं, जो रामहि भजे बिचारि॥ 101॥

शब्दार्थ—काला सर्प=काम, अहंकार, कल्पना। झारि=बिलकुल, निपट, समूह, सब। भजै=सेवा करना, स्मरण करना, स्वत्व, विभाजन।

भावार्थ—कामरूपी काला सर्प सबके हृदय में बसता है। उसने संसार के सभी लोगों को निपट खा लिया है। उससे वही बिरला बचता है, जो विचारपूर्वक राम का भजन करता है॥ 101॥

व्याख्या—एक तरफ काम है और दूसरी तरफ राम है। सद्गुरु उक्त साखी की पहली पंक्ति में काला सर्प का वर्णन करते हैं जिसने सबको डस रखा है और दूसरी पंक्ति में उस जहर से बचने का तरीका बताते हैं राम का भजन। निचली पंक्ति में उन्होंने राम का नाम साफ कहा है, परन्तु पहली पंक्ति में काम आदि न कहकर केवल काला सर्प कहा है। काला सर्प की उन्होंने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। परंतु संसार के सभी लोगों को खा जाने वाला और मनुष्य के शरीर में ही रहने वाला वह कौन-सा काला सर्प हो सकता है! वह काला सर्प काम, कल्पना और अहंकार ही है। काम सारे भव-बंधनों की धुरी है। काम का अर्थ स्थूल संभोग की वासना तो है ही, किन्तु समस्त सांसारिक इच्छाएं काम हैं। किसी तरफ जब काम सफल होता है एवं इच्छाएं पूरी होती हैं तब लोभ बढ़ता है और जब कामनाओं में भंग पड़ता है तब क्रोध होता है। इस प्रकार काम मूल में रहता है और इसके आस-पास लोभ और क्रोध रहते हैं। ये तीनों भयंकर सर्प हैं जो मनुष्य के भीतर रहकर उसे निरंतर खोखला बनाते हैं।

देह में अहंकार उदय होने से काम उत्पन्न होता है। इसलिए देहाभिमान को काला सर्प कह सकते हैं। जब तक देहाभिमान रहता है, मनुष्य विकारों से मुक्त नहीं हो सकता। कामना तथा अहंकार से मन में नाना कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। अतएव ये कल्पनाएं काला सर्प हैं। यह सब का सार यह हुआ कि निजस्वरूप से हटकर विषयों की तरफ रुझान ही काला सर्प है। इसलिए काला सर्प का मूल अर्थ काम ही है। काम काला सर्प है। यह मनुष्य के शरीर में रहता है और भीतर-भीतर उसे संसारासक्त बनाकर स्वरूपस्थिति से दूर रखता है। हर आदमी हर समय प्रायः किसी-न-किसी विषय में आसक्त रहता है। सभी विषयों में स्पर्श विषय प्रचंड है जिसे काम-भोग भी कहते हैं। काम-भोग सहित समस्त विषयों की आसक्ति से बचने का केवल एक ही तरीका है—विचारपूर्वक राम का भजन।

संसार में जितने प्रकार के राम-भजन चलते हैं, वे चाहे सगुण मानकर हों या निर्गुण, अल्लाह कहकर हो या गॉड कहकर, ब्रह्म कहकर हो या ईश्वर; और भजन की विधि चाहे जैसी हो जप, कीर्तन, नमाज, पूजा, उपासना, प्रार्थना—सब में साधक के मन की शुद्धि की दिशा में कुछ-न-कुछ काम होता है। सभी रूपों और विषयों में मनुष्य के मन का वातावरण कुछ-न-कुछ पवित्र बनता है। राम और ईश्वर मानकर उसके भजन में चाहे आदमी कल्पनालोक में ही विचरता हो, परन्तु उस समय उसका मन कुछ-न-कुछ निर्विषय एवं पवित्र होता है। परन्तु यहां सद्गुरु विचारपूर्वक राम-भजन की बात कहते हैं।

यह सर्वविदित है कि कबीर का राम व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही है अर्थात अपनी अंतरात्मा है। सबके भीतर 'मैं हूं' यह आत्म-अस्तित्व का भान है। जब सद्गुरु तथा संतों की कृपा से यह बोध के रूप में हो जाता है, तब जीवन बदल जाता है। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[1] सद्गुरु कबीर जीव ही को राम मानते हैं। जीव ही मूल है। चेतन, आत्मा, राम आदि सब उसी के नाम हैं। 37वीं रमैनी की साखी में जहां उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम बीजक रखने का संकेत किया है तथा बीजक का महत्त्व बताया है, वहां बीजक निर्देशित मूल धन एवं अपना सिद्धान्त 'जीव' ही बताया है।[2] अतएव बीजक का प्रतिपाद्य सिद्धान्त जीव है। क्योंकि जीव ही तो समस्त ज्ञान-विज्ञान का निधान है। सद्गुरु ने इस जीव अर्थात शुद्ध मूल चेतन को ही राम कहा है जो 'मैं' के रूप में सभी शरीरों में विद्यमान है। यह गुण में एक तथा व्यक्तित्व में अनेक है अर्थात सभी जीव अलग-अलग हैं, परन्तु सबका गुण एक ज्ञान है। अतएव यह हृदय-निवासी चेतन ही राम है।

भजन का मूल अर्थ है सेवा करना, दूसरा अर्थ है स्मरण करना। हिन्दी भाषा के अनुसार भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी होते हैं। राम-भजन है राम की सेवा करना। राम की सेवा का अर्थ है अपनी आत्मा को सारे भवबंधनों से छुड़ा लेना। मेरा चेतनस्वरूप सारे जड़-दृश्यों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध है, यह स्वरूप-स्मरण ही राम भजन है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भजन का अर्थ 'स्वत्व' भी होता है। इसलिए अपने 'स्वत्व' में प्रतिष्ठित रहना भजन है। अपना स्वत्व, अपना आपा है, चेतनस्वरूप है। भजन का अर्थ विभाजन भी बताया गया है। इसलिए जड़ से अपना विभाग कर लेना, यह पूर्ण समझ लेना कि मैं जड़ से अलग हूं और इस भाव को एकरस बनाना

---

1. बीजक, रमैनी 41।
2. बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
   ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥ रमैनी साखी 37॥

भजन है। सब मिलाकर सार यह हुआ कि अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा अलग समझकर निरन्तर चेतनाकार वृत्ति में ही रमण करना राम-भजन है। स्व-स्वरूप चेतन ही राम है और उसमें निरन्तर स्थित होना ही विचारपूर्वक रामभजन है।

अपने आप को देह मानना काम की स्थिति है तथा अपने आप को चेतन मानना राम की स्थिति है। देहाभिमान एवं काम-कल्पनाएं काले सर्प हैं। इससे बचाव तब होता है जब हम अपने चेतन राम में सदैव रमते हैं। काम-कीचड़ छोड़ने पर ही राम-भजन संभव है तथा राम-भजन करने पर काम-कीचड़ से अपने आप मुक्ति होती है। काम छोड़ने पर राम-भजन संभव होता है तथा राम-भजन बढ़ने पर काम समाप्त होता है।

काला सर्प का अर्थ काल एवं समय भी किया जा सकता है जो शरीर के साथ लगा रहता है और धीरे-धीरे शरीर को जीर्ण बनाता है। इससे वही बचता है जो राम-भजन करता है। इसका अर्थ यही है कि अविनाशी चेतन राम में रमने वाला अपने आप को नश्वर देह से अलग समझ लेता है। इसलिए शरीर का जीर्ण होना या नाश होना वह अपना जीर्ण होना या अपनी मृत्यु होना नहीं समझता। अविनाशी-राम का भजन करने वाला व्यक्ति विनाशी शरीर की आसक्ति से मुक्त होता है।

काल खड़ा शिर ऊपरे, तैं जागु बिराने मीत॥
जाका घर है गैल में, सो कस सोवे निश्चिन्त॥ 102॥

शब्दार्थ—काल=काम, कल्पना, मृत्यु। बिराने मीत=पराये का मित्र, माया का मोही। गैल=मार्ग।

भावार्थ—हे माया मोही मानव ! तू सावधान हो जा ! तेरे सिर पर काल खड़ा है। जिसका निवास-स्थल काल के मार्ग में है, वह निश्चिंत होकर क्यों सो रहा है !॥ 102॥

व्याख्या—काम, अहंकार, मन की नाना कल्पनाएं ही काल हैं जो मनुष्य के सिर पर सदैव मंडराते रहते हैं। मनुष्य सदैव इन्हीं में तो डूबा रहता है। हमारी हर समय आध्यात्मिक मृत्यु इन काम तथा कल्पनाओं के द्वारा ही होती रहती है। हमारा घर काम तथा कल्पनाओं के रास्ते में है। यह शरीर काम-वासनाओं से वासित है। इसमें वासनाओं तथा कल्पनाओं के उठने की संभावना रहती है। इसलिए हम जब तक इस शरीर में हैं सतत सावधान रहें। हम मन तथा वासनाओं पर विजयी हो गये यह मानकर कभी असावधान न हों। सावधानी हटी, कि दुर्घटना घटी। मन पर पूर्ण विजयी हो जाने पर भी जब तक शरीर है तब तक निरन्तर सावधानी की आवश्यकता है। जो साधक अन्दर की वासनाओं को उठने नहीं देगा और बाहर के कुसंग से सदैव दूर

रहेगा उसे ही जीवन में परम शांति की प्राप्ति होगी। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जो जिव परख विलास में, लहै सदा सुख चैन।
तिन्ह के त्रास न काल के, और कहे को बैन॥ पंचग्रन्थी, टकसार 224॥

काल का प्रसिद्ध अर्थ समय एवं मृत्यु तो है ही। सद्गुरु कहते हैं कि हे माया-मोह में डूबा हुआ आदमी, सावधान हो जा। तेरे सिर पर काल मंडरा रहा है। जो काल के रास्ते में हो उसे लापरवाह नहीं होना चाहिए। 'बिराने मीत' का अर्थ दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग से अर्थ किया जा चुका है कि बिराने का मीत, पराये का प्रेमी। पराया है माया। जीव उसका मोही हो गया है। दूसरे ढंग से मीत शब्द संबोधन है। अर्थात हे मित्र! तू अपने आप में पराया हो गया। जैसे कोई अपने गलत आचरण के कारण अपने घर में रहकर भी सबसे उपेक्षित रहने के कारण पराया-सा बना रहे, वैसे हम अपने आप में पूर्ण होते हुए भी अपने अज्ञान एवं विषय-वासनावश स्वयं से ही उपेक्षित होकर पराये हो गये हैं।

हमें अपने आप में जागना चाहिए। सब समय सब कुछ काल के गाल में जा रहा है। यहां सब कुछ नश्वर है। इन नश्वर प्राणी-पदार्थों में अपना मन आबद्ध नहीं करना चाहिए। हमें शरीर की नश्वरता, काम-वासनाओं एवं कल्पनाओं की बन्धनरूपता दृष्टिगत रखते हुए अपने उद्धार के लिए सतत सावधान रहना चाहिए।

कल काठी कालू घुना, जतन जतन घुन खाय॥
काया मध्ये काल बसत है, मर्म न काहू पाय॥ 103॥

शब्दार्थ—कल=कोमल, कमजोर। काठी=काठ का बना हुआ, जड़ देह, देह की गठन। कालू=काल, समय, काम, कल्पना। घुन=घुन, काठ को खाने वाला एक कीड़ा। जतन-जतन=धीरे-धीरे।

भावार्थ—जड़ तत्त्वों से बना यह शरीर एवं शरीर की गठन बहुत कमजोर है। इसमें काल का घुन लगा है और वह धीरे-धीरे इसे खाकर निकम्मा बना रहा है। कोई यह रहस्य नहीं जानता कि शरीर के अन्दर ही काल रहता है॥ 103॥

व्याख्या—काठ की चीजों में जब घुन-कीड़े लग जाते हैं तब उन्हें वे भीतर-ही-भीतर चालकर निकम्मा बना देते हैं। काठ तो ऊपर चिकना तथा ठोस दिखता है, परन्तु भीतर-भीतर खोखला एवं कमजोर हो जाता है। हमारे शरीर की यही दशा है। यह तो स्वभाव ही से 'कल' है। अर्थात कोमल एवं कमजोर है। एक लकड़ी तथा पत्थर की बनी चीज की तो वैज्ञानिकों द्वारा आयु निर्धारित की जा सकती है और यह विश्वास किया जा सकता है कि यह

इतने वर्षों तक रहेगी; परन्तु इस शरीर के लिए ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। यह तो हाड़, मांस, नस, चाम जैसे कमजोर पदार्थों से हजारों जोड़ों के द्वारा बना है। इसके टिके रहने में ही आश्चर्य होता है मिटने में क्या आश्चर्य है ! इतना कमजोर शरीर पचास-पचास तथा सौ-सौ वर्ष तक टिका रहता है यही अचंभा लगता है। इसके तो 'रहबे को अचरज है, जात अचम्भौ कौन !"

शरीर का साज वैसे ही कमजोर है। दूसरे इसके भीतर काल का घुन लगा हुआ है। हर आदमी का शरीर हर समय बदलता है। यह निरन्तर धीरे-धीरे काल के मुख में जा रहा है। काल तो काया के बीच में ही रहता है, परन्तु इसका रहस्य बिरला ही समझता है। स्थूल बुद्धि वाले समझते हैं कि हमारी आयु बड़ी हो रही है, परन्तु वस्तुतः आयु निरन्तर घट रही है। पानी से भरी हुई टंकी जैसे मोरी द्वारा पानी के धीरे-धीरे निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाती है, वैसे यह शरीर श्वास निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाता है।

काल के दूसरे अर्थ में काम तथा कल्पनाएं हैं, जो मनुष्य के दुर्बल शरीर में घुन के समान लगकर उसको निस्तेज बनाते हैं। आदमी ऊपर-ऊपर चिकना-चुपड़ा लगता है, परन्तु भीतर वह मलिन वासनाओं का गुलाम होता है। वासनाएं एवं कल्पनाएं मनुष्य के भीतर ही बसती हैं। यदि मनुष्य चाहे तो विवेक द्वारा उनका संहार कर सकता है। परन्तु वह इस रहस्य को नहीं समझ पाता। काम, कल्पना एवं वासना पर विजय ही काल को जीत लेना है। मृत्यु काल नहीं है जो केवल शरीर को मारती है। कामनाएं एवं वासनाएं काल हैं जो जीव को अंधकार में भटकाती हैं। अतएव हमें कामनाओं को जीतना चाहिए।

माया का स्वरूप

मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट॥
विषहर मन्त्र माने नहीं, काल सर्प की चोट॥ 104॥

शब्दार्थ—माया=धोखा, अध्यास, वासना, आसक्ति। संशय=दुविधा, अनिश्चय, संदेह, भ्रम। कोट=किला, गढ़, दुर्ग। काल सर्प=काम, अहंकार, अज्ञान, कल्पना। विषहर मंत्र=अज्ञान-विष को दूर करने वाला सत्योपदेश।

भावार्थ—यह मन माया की कोठरी है और शरीर संदेहों एवं भ्रांतियों का किला है। अज्ञानरूपी सांप ने मनुष्य को डसकर उसके अंग में ऐसा घाव बना दिया है कि उस पर सत्योपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिससे उसका विष दूर हो॥ 104॥

व्याख्या—जैसे कपड़ों से भरी कोठरी, बरतनों से भरी कोठरी या किसी

वस्तु से भरी कोठरी होती है, वैसे माया से भरी एक कोठरी है और वह मन है। मन माया की कोठरी है। साधारण मनुष्यों के मन में माया-ही-माया भरी होती है। माया है धोखा। रात में पेड़ का ठूंठ देखकर चोर का धोखा होता है। रस्सी में सांप का धोखा होता है। इसी प्रकार सांसारिक विषयों में स्थायी सुख-प्राप्ति का धोखा होता है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अध्यास, कुसंस्कार, कुवासनाएं एवं आसक्तियां भरी हैं। ये ही माया हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि माया की स्वतन्त्र सत्ता है या किसी प्रभु के द्वारा प्रेरित है और जीव के न चाहने पर भी वह उस पर कूदकर चढ़ लेती है और उसे परेशान करती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसी कोई माया नहीं है जो मनुष्य के मन से कहीं बाहर अपनी सत्ता रखती हो और जीव के अलावा किसी दूसरे द्वारा प्रेरित होती हो। बस, मन के अन्दर पांचों विषयों का मोह बना रहता है, वही माया है। इसलिए यह मानना कि हमें कोई अन्य माया में बांध देता है, निपट अज्ञान है। यह हमारा मन ही माया की कोठरी है। इसी में से माया निकलती है और हमें परेशान करती है। और यह भी समझ लो कि यह माया हमारी ही बनायी है। हमने ही इसको सृजा है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य-विषय है उसमें अहंता-ममता एवं राग कर लेना यही माया है। और यह हम ही तो करते हैं ! हमें अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं रहता, इसलिए हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसमें राग करते हैं या द्वेष करते हैं। यह हमारे बनाये राग-द्वेष ही हमें बांधने के लिए माया बन जाते हैं।

मान लो, किसी कोठरी में गायें हैं तो कोठरी खुलने पर उसमें से गायें निकलती हैं, किसी कोठरी में बकरियां हैं तो उसके खुलने पर उसमें से बकरियां निकलती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की जैसे नींद खुलती है तुरन्त ही मन की कोठरी खुल जाती है और उसमें से माया निकलने लगती है। कहीं किसी के लिए ममता-मोह की याद होती है तो किसी के प्रति द्वेष और घृणा की, कभी मन से काम-संकल्प उठते हैं तो कभी क्रोध, कभी लोभ तो कभी ईर्ष्या, कभी चिन्ता तो कभी ग्लानि के संकल्प। अर्थ यह कि आदमी जब तक जागता है तब तक उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार की मलिनता ही आती रहती है, यही माया है। और जाग्रत-अवस्था ही क्या, सोते समय में भी जब तक आदमी गाढ़ी नींद में नहीं रहता तब तक तो अर्ध सुषुप्ति ही रहती है, यही स्वप्न की अवस्था है। स्वप्न में भी जीव माया के द्वंद्व में पड़ा रहता है। उसे स्वप्न में आभास होता है कि हमें मानो हाथी खदेड़ रहा है, सांप पीछा कर रहा है, शत्रु से हम घिर गये हैं, नदी में डूब रहे हैं, कामभोग में प्रवृत्त हो रहे हैं, क्रोध तथा ईर्ष्या में जल रहे हैं। जीव स्वप्न में भी चैन से

नहीं रहता है। गाढ़ी नींद एवं प्रगाढ़ सुषुप्ति में तो कुछ भान नहीं रहता, परन्तु जागृति तथा स्वप्न के बीज सुषुप्ति में भी रहते हैं इसलिए अज्ञानी मनुष्य के मन में सुषुप्ति में भी माया बीजरूप में बनी रहती है। इसलिए जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में मनुष्य के मन में माया ही व्याप्त रहती है।

"तन संशय का कोट" शरीर संदेहों, दुविधाओं एवं भ्रांतियों का मानो किला है। मनुष्य के जीवन में संशय का अंबार है। व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, प्रियजन बिछुड़ न जायें या विमुख न हो जायें, शरीर रोगी न हो जाये, शरीर छूट न जाये, जीवन लक्ष्य क्या है, परमात्मा आत्मा ही है या कहीं बाहर है, मोक्ष जीवन रहते ही मिलता है कि मरने के बाद, साधना क्षेत्र में मैं सफल हो सकता हूं कि नहीं, यदि साधु बन जाऊं तो गुजर होगा कि नहीं, ऐसे-ऐसे अनेक संशय मनुष्य के चित्त को चालते रहते हैं। जो आदमी संशयग्रसित होता है, वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता। संशय अनिश्चय और भ्रम है जो मनुष्य को सदैव चंचल रखता है।

"विषहर मंत्र माने नहीं, काल सर्प की चोट" काल रूपी सर्प ने मनुष्य के मन में ऐसी चोट कर दी है, उसने ऐसा घाव बना दिया है, इस तरह डस लिया है कि मनुष्य विषहर-मंत्र नहीं मानता। जो विष का हरण कर ले वह विषहर-मंत्र है। विषहर-मंत्र स्वरूपज्ञान है, सत्योपदेश है। मनुष्य उसे नहीं मानता; क्योंकि काल-सर्प ने उसे अपने विष से अत्यन्त प्रभावित कर दिया है। काल-सर्प अज्ञान है, काम-वासना है, अहंता-ममता है और नाना मानसिक कल्पनाएं हैं। खानी-जाल का मुख्य अध्यास है काम-वासना तथा वाणी-जाल का मुख्य अध्यास है अपने चेतनस्वरूप से अलग अपना लक्ष्य खोजना, और दोनों का समवेत रूप है अज्ञान। इस अज्ञान से ही विषयों के लिए नाना कल्पनाएं उठती हैं तथा बाहर से देवी-देवता और ईश्वर-ब्रह्म पाने की कल्पनाएं उठती हैं। इन सारी कल्पनाओं में जो अत्यन्त जकड़ा है, उस पर स्वरूपज्ञान की बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह भी कथन का एक प्रकार ही है। सद्गुरु ने 29वीं रमैनी में कहा है—'गारुड़ सो जो मरत जियावै"। औषधि तो वही है जो विष से प्रभावित मरते हुए आदमी को जिला दे। बातें दोनों हैं। अधिक तो यही है कि अज्ञान में अत्यन्त जकड़े आदमियों को उपदेश नहीं लगता; परन्तु कहीं-कहीं देखा जाता है कि अत्यन्त व्यामोहित आदमी भी सत्योपदेश पाकर एकदम जग जाते हैं। इसलिए गुरुजन सदैव यही प्रयत्न करते हैं कि लोग माया-मोह से जगकर अपना कल्याण करें।

मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥ 105॥

शब्दार्थ—तीन लोक=पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे तथा पृथ्वी से ऊपर, समस्त संसार; त्रिगुणी जीवजगत।

भावार्थ—जल-तरंग न्याय मन और माया एक ही है। माया मन में ही लीन है। परंतु संसार के लोगों के हृदय में यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग एक निरपेक्ष तत्त्व है जो किसी ईश्वर या ब्रह्म से चालित है और उसके द्वारा वह जीवों पर दौड़ा दी जाती है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि ऐसी बातें नहीं हैं, किन्तु माया मनुष्य के मन की कल्पना ही है॥ 105॥

व्याख्या—"मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय" जैसे पानी और उसमें उठने वाली तरंगें दो होते हुए भी अन्ततः एक है, वैसे मन तथा उसमें उठती हुई कल्पनाएं दो होते हुए अन्ततः एक है। पानी को हटा देने पर तरंगों का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसी प्रकार मन के लीन हो जाने पर कल्पनाओं एवं संकल्पों का अस्तित्व नहीं हो सकता।

"मन माया तो एक है" इस बात को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। यदि मन और माया एक है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानी पुरुष का भी जब तक शरीर रहता है तब तक मन रहता ही है और तब तक फिर उसके पास माया भी रहेगी ही, क्योंकि मन-माया एक है। इसलिए ज्ञानी पुरुष भी जीवनभर माया से मुक्त नहीं हो सकता। फिर उसका ज्ञानी होना कहना निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः शुद्ध मन भी माया ही है, क्योंकि मन अपना चेतनस्वरूप तो नहीं है, किन्तु शुद्ध मन बन्धन नहीं मोक्ष में सहायक है। जो माया बंधन करती है वह है अज्ञान, काम, क्रोधादि एवं कल्पनाएं, जिनकी चर्चा पिछली साखी में विस्तारपूर्वक हो चुकी है। वह माया भी मन ही में लीन है। मन से अलग उसका अस्तित्व नहीं है। जैसे पानी में लहर तथा हवा में आंधी उठती है, परन्तु लहर और आंधी के न रहने पर भी पानी और हवा रहते हैं वैसे मन में ही कामादि विकाररूपी माया उठती है, परन्तु कामादि विकाररूपी माया के न रहने पर भी मन रहता है। विकारों का न रहना ही माया से मुक्ति है। मन तो जीवनपर्यन्त रहता ही है। शुद्ध मन मोक्ष का कारण बनता है, बंधन का नहीं। माया मन में रहती है यह कहने का अर्थ यही है कि मनुष्य के मन को छोड़कर माया की कहीं अलग सत्ता नहीं है। यदि साधक विकारहीन मन वाला हो गया, तो वह माया से मुक्त है।

"तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" संसार के प्रायः सभी लोगों को यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग कोई बलवान सत्ता है। ईश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी दोनों ने माया की विचित्र व्याख्या कर डाली है। हिन्दू-ईश्वरवादियों ने मान रखा है कि माया तो ईश्वर की शक्ति है। उसी ने

जगत-जीवों को फंसा रखा है। ईश्वर ने अपने माया-जाल में सबको फंसाया है। "हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय बिहंगेश" तथा "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाई।"[1] लोगों की जुबान पर रहती है "प्रभु माया बलीयसी"। कुछ लोगों के मतानुसार सत्पुरुष तथा ईश्वर से भी बलवान कालनिरंजन है जो ईश्वर के राज्य में गड़बड़ी मचाता है और जीवों को भटकाकर ईश्वर से विमुख करता रहता है। सामी[2] मजहब वाले प्रायः एक ऐसा शैतान मानते हैं, जो जीवों को भ्रम में डालकर अल्लाह से विमुख कर देता है। अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अघटित घटना पटीयसी, दुरत्यया तथा अनिर्वचनीया है। स्वामी शंकर कहते हैं—"माया को सत कहूं तो ठीक नहीं, असत कहूं तो ठीक नहीं तथा उभयात्मक कहूं तो ठीक नहीं, इसी प्रकार माया को ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न तथा उभयात्मक और अंग-सहित, अंगरहित एवं उभयात्मक कहते नहीं बनता। वस्तुतः माया महान अद्‌भुत और अनिर्वचनीया—कहने में न आने वाली है।"[3] ब्रह्मवादी लोग प्रत्यक्ष जगत को, जो जड़तत्त्वों के स्वभावसिद्ध क्रियावान कणों का फल है किसी अकथनीय माया का फल होने की कल्पना करते हैं, इसलिए माया की व्याख्या और उलझ जाती है। इस प्रकार ईश्वरवादियों तथा ब्रह्मवादियों ने माया की परिभाषा ऐसी उलझा रखी है जो मनुष्य के समझने में न आवे। बल्कि उससे यही भ्रम हो कि माया ईश्वर की एक ऐसी शक्ति है, या ऐसी स्वतन्त्र सत्ता है जो जीव को जैसा चाहे नचाती रहे और जीव का उसमें कोई वश न चले। ऐसी अवस्था में मनुष्य माया के सामने केवल लाचार बनकर रह जाता है। वह केवल ईश्वर का नाम लेकर रात-दिन विनती किया करे, गिड़गिड़ाया करे, जब ईश्वर की मर्जी हो तो जीव को माया से मुक्त कर दे और जब चाहे उसे माया में पुनः डाल दे।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि मनुष्य के मन में रहे हुए मोह के अलावा कहीं कोई माया नहीं है और मोह बनता है व्यक्ति के अपने स्वरूप के अज्ञान से। अतएव माया के निर्माण में जीव की अपनी भूल ही कारण है। वह यदि अपनी भूल छोड़ दे तो माया अपने आप मर जाये। मनुष्य जब तक बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता तब तक उसके सम्बन्ध में कोई माया नहीं है और जब वह उनका सेवन करने लगता है और उनकी आदत बन जाती है, उनमें मोह हो जाता है, तब बस,

---

1. रामचरित मानस।
2. अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं।
3. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
   साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महद्‌भुतानिर्वचनीयरूपा॥ (विवेकचूड़ामणि, श्लोक 111)

माया उपस्थित हो जाती है; और जब वह उन्हें दुखरूप जानकर छोड़ देता है, तब कुछ दिनों में माया समाप्त हो जाती है। उसे बीड़ी-तम्बाकू के लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता। कोई युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, किन्तु कोई माया नहीं। जब वे एक-दूसरे से मोह कर लेते हैं तब एक दूसरे के बिना रह नहीं पाते, बस यही माया आ गयी। इस प्रकार जीव स्वयं अपने भूलवश माया बनाता है और विवेक कर वही उसे मिटा भी सकता है। जो माया मुझे भटका रही है, वह मेरी ही भूल का परिणाम है और मेरे ही ज्ञान तथा साधना से उसका नाश होगा। उसमें किसी ईश्वर या ब्रह्म से कोई मतलब नहीं है। यह मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी है। वह चाहे अपने मन में माया को बनाये रखकर उसके फल में दुख भोगता रहे और चाहे तो उसे मिटाकर निर्बंध हो जाये। जो भेद नहीं समझ पाते वे बीजक की वाणियों में भी ऐसे अर्थों की कल्पना कर लेते हैं जिससे माया का रूप जीव के मन से अलग तथा उसके अधिकार के बाहर किसी दूसरे के हाथों में हो; जैसे "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।"[1] इत्यादि। परन्तु यहां राम एवं रघुनाथ का अर्थ जीव ही है। जीव ही की बनायी माया है जो द्वन्द्व मचाती है और जीव का ही शिकार करती है। क्या बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट, शराब तथा काम-भोग की आदत बना लेने के बाद लोग अपनी आदतों के शिकार नहीं होते! हम अपनी बनायी माया में स्वयं फंसते हैं। "मन माया की कोठरी, मन माया तो एक है, माया मनहि समाय" आदि की कसौटी से "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी" आदि को कसना चाहिए।

कबीर साहेब हर जगह साफ, सीधी और सपाट बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि माया किसी ईश्वर तथा ब्रह्म द्वारा प्रेरित नहीं है जो तुम्हारे ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े और तुम्हें विवश कर दे। माया तुम्हारी बनायी है इसलिए तुम उसे मिटाकर मुक्त होने में स्वतन्त्र हो।

सुख का मोह दुखदायी है

बेह्ना दीन्हों खेत को, बेह्ना खेतहिं खाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥ 106॥

शब्दार्थ—बेह्ना=बाड़, फसल की रक्षा के लिए कांटे, बांस आदि का बनाया घेरा; तात्पर्य में माया। तीन लोक=सभी मनुष्य।

भावार्थ—बाड़ फसल की रक्षा के लिए लगायी जाती है, परन्तु दुख की बात है कि यहां बाड़ ही फसल को खा रही है, अर्थात मनुष्य माया का

---

1. शब्द 13 तथा कहरा 12।

फैलाव अपने सुख के लिए करता है, परन्तु उसकी फैलायी हुई माया ही उसे दुख देती है। मैं किसको-किसको समझाऊं, सारे संसार में यह भ्रम है कि माया जीव को सुख देती है॥ 106॥

व्याख्या—किसान लोग कोई फसल लगाते हैं ज्यादातर सब्जी आदि की, तब वे उसके चारों ओर कांटे, बांस या अन्य लकड़ियों की बाड़ लगाते हैं जिससे फसल की रक्षा हो सके। यदि बाड़ न लगाये तो पशुओं से चर जाने का भय रहता है। परन्तु यदि बाड़ ही फसल को चर ले तो दूसरा क्या उपाय! तात्पर्य है मनुष्य अपने सुख के लिए माया का विस्तार करता है, परन्तु वह माया का फैलाव ही जीव को संताप देता है। एक स्वच्छन्द नवयुवक होता है। वह यदि माता-पितादि की सेवा करे और साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक उन्नति करे तो उसका जीवन कल्याण की तरफ अग्रसर हो। परन्तु वह अपने सुख की कल्पना करके मन में एक मोह उत्पन्न करता है। यह मोह ही माया है, और इस माया के विस्तार में वह अपनी शादी करता है, बच्चे पैदा करता है, धन-संग्रह एवं परिवार बढ़ाता है। उसके बाद जीवनभर उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। युवक को पहला व्यामोह होता है इन्द्रिय-सुख का। इसी व्यामोह में वह अपने आप को वैवाहिक बन्धनों में बांधता है। उसे दूसरा व्यामोह होता है बुढ़ापा की विवशता का। हर पति-पत्नी अपने बुढ़ापा को लेकर काफी भयभीत रहते हैं कि उस समय हमारी सेवा कौन करेगा! परन्तु यह एक व्यामोह मात्र है। संसार में देखा जाता है कि बाल-बच्चों वाले मनुष्यों की अपेक्षा वे ज्यादा सुखी होते हैं जिनके बाल-बच्चे नहीं होते, बशर्ते वे अपने मन में बाल-बच्चों की कमी न महसूस करें। अधिकतम बाल-बच्चे वाले दुखी ही देखे जाते हैं। बुढ़ापा में सेवा कौन करेगा, यह भय बेकार है। सबको सेवा की जरूरत नहीं पड़ती। यदि जरूरत पड़ जाती है तो कोई-न-कोई सेवा करने वाला मिल जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी स्वस्थ अवस्था में दूसरों की सेवा करने के लिए तत्पर रहे।

आदमी बैठा-बैठा घबराता है, बोर होता है, तो वह अपने चैन के लिए ताश खेलने लगता है। पीछे उसकी आदत हो जाने पर उसे बिना ताश खेले नहीं रहा जाता। यदि उसे कोई ताश खेलने वाला न मिला तो वह बेचैन होता है। शराब, बीड़ी-सिगरेट, पान-तम्बाकू, मांस, मैथुन आदि का सेवन आदमी अपने मन-इन्द्रियों के सुख के लिए करता है, परन्तु ये सब इसको दुख देने वाले हो जाते हैं। उलटी बुद्धि में हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए दुख का साधन बनता है।

जीवन-रक्षा के लिए उपाय करना ठीक है, आवश्यक है। मनुष्य को

भोजन, वस्त्र, औषध, आवास तथा अन्य जीवनधारणोपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता है। उसके लिए मनुष्य को श्रम करना चाहिए। परन्तु इसमें भी संतुलन का ध्यान रखना चाहिए। अज्ञानवश जीवन-निर्वाह में संतोषवृत्ति न रखने से लोग तृष्णा की धारा में पड़ जाते हैं। जितना कम-से-कम तथा साधारण-से-साधारण चीजों से गुजर किया जा सके, अच्छा है। अन्यथा यदि आदमी बहुत उत्तम-उत्तम एवं अच्छे-अच्छे के चक्कर में पड़ेगा तो मानो बेह्ना खेत खाने लगेगा। शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद भोजन की सामग्री सन्तुलित मात्रा में पेट में डाल देना चाहिए जिससे शरीर आराम से चल सके। यदि कोई भोजन में अधिक कीमती और स्वाद के चक्कर में पड़ेगा, तो वह एक तो यह सब प्राप्त करने के लिए परेशान होगा, नीति-अनीति की परवाह भी छोड़ सकता है; और दूसरी बात यह है कि वह स्वाद के चक्कर में असंतुलित भोजन करके पेट को खराब करेगा और रोगी बनेगा। भोजन खाया जाना चाहिए तृप्ति के लिए, तो वह हो जायेगा रोग और दुख के लिए। यह बेह्ना के खेत खाने की बात हुई।

हमारे जीवन में पदार्थों का संग्रह एवं प्राणियों का सम्बन्ध विवेकपूर्वक होना चाहिए। यह सब अपने तथा दूसरे के कल्याण के लिए होना चाहिए। ऐसा न हो कि यह सब अपने तथा दूसरे के लिए राग-द्वेषजनित भव-बंधनों का निर्माण करने लगे। सारी प्रवृत्तियों का फल निवृत्ति होना चाहिए। सारे सम्बन्धों का फल सम्बन्धजनित बंधनों को तोड़ने के लिए होना चाहिए। हमारे शरीरधारण का फल ही होना चाहिए सारी विषयासक्तियों को नष्टकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होने के लिए। हमारे जीवन के हर सम्बन्ध, प्रवृत्ति एवं क्रिया का फल स्थायी सुख, शांति, निर्बंधता, स्वच्छन्दता एवं मोक्ष होना चाहिए।

यदि हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए फूल न बनकर कांटे बनते हैं तो इसके अन्तराल में हमारा कोई व्यामोह है, बेसमझी है। दूसरे में सामर्थ्य नहीं है कि हमें वह दुख दे सके। हम स्वयं अपने अविवेकवश दुख बनाते हैं। यदि हमारा चित्त शुद्ध है तो दूसरे के द्वारा घटायी गयी अप्रिय घटना भी हम पर प्रभाव नहीं डाल सकती। हमारे लिए बंधन एवं दुख तो केवल हमारी बेसमझी है। हम व्यामोहित होकर, माया में उलझकर जो कुछ करते हैं वह करते तो हैं अपने सुख के लिए, परन्तु वे हमारे लिए दुख एवं बंधनों के कारण बनते हैं, बाड़ खेत खाती है।

परन्तु सबको तो यही भ्रम है कि माया सुखदायी है। "तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" सारा संसार तो मोह की धारा में डूबा है, किसको-किसको समझाया जाये ! हर मनुष्य के मन में माया की मूर्च्छा है।

केवल प्रतिशत का अन्तर है। किसी के मन में शत-प्रतिशत मूर्च्छा है, किसी के मन में नब्बे, असी या इससे कम। जिसके मन में जितनी मूर्च्छा की मात्रा कम है वह उतना ही सुलझा होता है, सुखी होता है। जो माया की मूर्च्छा से एकदम निकल गया है, वह धन्य है, वही जीवन्मुक्त है। यही जीवन की सार्थकता है।

विवेक से मन की लहरों पर विजय

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥ 107॥

शब्दार्थ—सायर=समुद्र। मनसा=मन से उत्पन्न इच्छाएं-कल्पनाएं। लहरि=तरंग। विवेक=सत्य-असत्य परख करने की शक्ति।

भावार्थ—मन समुद्र है और उससे उत्पन्न नाना इच्छाएं एवं कल्पनाएं लहरें हैं। इनमें बहुत-से असावधान लोग डूब गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में सत्य तथा असत्य एवं स्व और पर को परखने की शक्ति होगी॥ 107॥

व्याख्या—आप कभी समुद्र के तट पर गये हों तो देखे होंगे वह कितना विशाल होता है। हम जब समुद्र की तरफ मुख कर उसके तट पर खड़े होते हैं, तब हमारी दृष्टि में केवल समुद्र का पानी होता है। आगे चलकर हमें लगता है कि सफेद-श्याम पानी तथा सफेद-श्याम आकाश मिलकर एक हो गये हैं। समुद्र की विशालता मनोहर भी लगती है और भयावह भी। समुद्र में समय-समय पर बड़े जोरों से ज्वार आते हैं। समुद्र के पानी का ऊपर उठना ज्वार कहलाता है और गिर जाना भाटा कहलाता है। जब ज्वार-भाटे नहीं रहते, तब भी समुद्र में हर समय 'हहा-हहा' की आवाजें करते हुए ऊंची-ऊंची लहरें आती रहती हैं। समुद्र का पानी कभी शांत नहीं रहता। उसमें हर समय लहर-पर-लहर उठती रहती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य का मन भी एक विशाल समुद्र है जिसमें इच्छाओं, संकल्पों, कल्पनाओं एवं स्मरणों की लहरें निरन्तर उठती रहती हैं। जैसे समुद्र में बीच-बीच में ज्वार-भाटे आते हैं, बाकी समय में लहरें तो निरंतर उठती हैं; वैसे मनुष्य के मन में बीच-बीच में काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, भय आदि के बड़े-बड़े ज्वार-भाटे आते हैं, परन्तु सामान्य विषयासक्ति एवं राग-द्वेष तथा सुख-दुख के द्वन्द्वात्मक स्मरण प्रायः सब समय उठते रहते हैं। जहाज पर बैठकर साधारण-से-साधारण लोग भी विशाल समुद्र को पार कर जाते हैं और भीड़-की-भीड़ पार होती रहती है। परन्तु इस मन के समुद्र से कोई बिरला पार होता है।

जैसे समुद्र से ही लहरें उठती हैं, वैसे मन से संकल्प-विकल्प की लहरें उठती हैं। "मन सायर मनसा लहरि" कहने का तरीका कितना चोटदार है! 'मनसा' का अर्थ ही है जो मन से पैदा हो। इच्छा, वासना तथा कल्पनाओं की लहरें मन से ही उठती हैं। ऐसे कम लोग होते हैं जो जीवन-गुजर की चीजों के कम होने से परेशान हों। देखा जाता है कि मनुष्य खाते-पीते, सुविधा प्राप्त हैं, परन्तु उनके मन की इच्छाएं, संकल्प-विकल्प एवं कल्पनाएं उन्हें चैन से नहीं रहने देतीं। मनसा मन के विकार हैं। मन के विकार ही लहरें बनकर जीव को निरन्तर थपेड़े देते रहते हैं। इन मन की तरंगों में डूबते रहने के मूल में है अपनी असावधानी। सद्गुरु कहते हैं—"बूड़े बहुत अचेत"। अचेत, असावधान एवं बेहवास लोग ही मन के सागर में डूबते हैं। जो बिलकुल बेहवास हैं वे तो हर समय मन की तरंगों में ही डूबे रहते हैं, परन्तु जो साधक है, वह भी जिस समय अचेत हो जायेगा, सावधानी छोड़ देगा, उस समय मन की तरंगों में डूबने लगेगा। साधक ध्यान में बैठता है, परन्तु यदि असावधान है तो वह संकल्पों में बहता रहेगा। उसके ध्यान का समय बीत जायेगा और ध्यान नहीं लगेगा। सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। अतएव सावधानी ही साधना है।

इन मन की तरंगों से वही बचता है जिसके हृदय में विवेक है। विवेक परख शक्ति का नाम है। सत्य-असत्य, सार-असार, चेतन-जड़ तथा स्व और पर की जिसे परख है उसकी दिव्यदृष्टि होती है। 'विवेक' बड़ा वजनदार है। बुद्धि भ्रम में पड़ सकती है, किन्तु विवेक भ्रम में नहीं पड़ता। जब तक मन में भ्रम है, तब तक विवेक नहीं है। विवेक एक्स-रे मशीन है, जिसके द्वारा अन्दर की वास्तविकता देख ली जाती है। आप जानते हैं कि डॉक्टर लोग एक्स-रे मशीन से शरीर के भीतर की हड्डियों के चित्र ले लेते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय में विवेक है वह देखता है कि रमणीय माने गये शरीर, जवानी, पत्नी, बच्चे, धन, मकान, प्रतिष्ठा, पूज्यता में क्या सार है! नर-नारियों के सारे शरीर हाड़-चाम के ढांचे हैं। उनमें मल-मूत्र भरे हैं। सारे देहधारी इच्छा-कामना की आग में जल रहे हैं। इनके संयोग एवं मोह में कहां सुख तथा कहां शांति है! सारे संयोग क्षणिक हैं। इसलिए संयोगजनित सुख भी क्षणिक हैं। इन क्षणिक तथा भ्रमजनित विषय-सुखों में आसक्त होकर नाना इच्छाएं बन जाती हैं और जीव इसी भवजाल में भटकता रहता है। मेरा अपना स्वरूप शुद्ध चेतन है। मनस्तरंगों के नाते ही सारा संसार मेरे सामने उपस्थित होता है। मनस्तरंगों को हटा देने पर मैं असंग, निराधार, कैवल्यस्वरूप शुद्ध चेतन मात्र रह जाता हूं। ऐसा विवेक, ऐसी परख जिसके हृदय में विद्यमान है, वह 'मन सायर' तथा 'मनसा लहरि' से बाहर

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के उच्चतम शिखर पर विराजमान होता है।

विवेक के प्रदीप्त होने पर ही वैराग्य उत्पन्न होता है जो मन की अनासक्ति अवस्था है। अनासक्त मन वाला संसार-सागर से तर जाता है। जिसे कहीं आसक्ति नहीं, वह कहीं भी नहीं बंध सकता। विवेकवान व्यक्ति व्यवहार में भी सुलझा हुआ होता है। सारी उलझन का कारण आसक्ति है। आसक्ति के कारण ही आदमी दोषजनक व्यवहार करता है। जब आसक्ति ही नहीं तब दोषजनक व्यवहार होने का प्रश्न ही नहीं। जिसका व्यवहार दोषजनक नहीं होगा, वह सुलझा होगा। अतएव अचेत आदमी ही मन की धारा में बहता है, विवेकवान जाग्रत होता है। वह मन-मनसा की धारा से पार होता है।

सद्गुरु ने समुद्र तथा उसकी लहरों का उदाहरण देकर मन तथा मन के विकारों को समझाया है। समुद्र एवं उसकी लहरों में जड़-प्रकृति कारण है जो स्वाभाविक है। अर्थात जब तक समुद्र है तब तक उसमें लहरें उठेंगी ही। वे बंद नहीं हो सकतीं। परन्तु मनुष्य के मन की लहरों का कारण है उसकी असावधानी तथा अविवेक। उनके मिट जाने पर मन की लहरें शांत हो जाती हैं। समुद्र जड़ होने से उसकी स्वभावसिद्ध क्रिया है; इसलिए उसका रुकना असंभव है। उसकी क्रिया तभी रुक सकती है जब जड़ प्रकृति में ही कोई ऐसा परिवर्तन हो। परन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपने अज्ञान से मन में लहर उठाता है और ज्ञान होने पर मन को शांत कर देता है।

एकांत-शांत प्रदेश में स्थिर आसन से बैठना चाहिए। फिर विवेक-वैराग्यपूर्वक मन की तरंगों को छोड़-छोड़कर शांत होना चाहिए। विवेक-साधना से जब अन्तःकरण में वैराग्य का अधिक प्रकाश हो जाये, तब स्मरणों का केवल द्रष्टा बने रहना चाहिए। अर्थात दृढ़तापूर्वक यही ध्यान रखे कि सब स्मरण शांत हो जायें। जब कोई स्मरण उठे तो उसका तुरन्त द्रष्टा बन जाये, उसमें मिले नहीं। फिर वह स्मरण अपने आप लुप्त हो जायेगा।

उपर्युक्त प्रकार से निरन्तर अभ्यास करते-करते कुछ दिनों में ऐसी अवस्था प्राप्त होगी, जब स्मरणों का द्रष्टा बनने में सरलता हो जायेगी; और फिर स्मरण शांत होकर निश्चलता हो जायेगी। इस अवस्था में द्रष्टापन भी नहीं रहेगा। क्योंकि स्मरण सम्मुख रहने पर ही जीव द्रष्टा है, अन्यथा चेतन मात्र एवं ज्ञान मात्र है। परन्तु ध्यान यह होना चाहिए कि इस समय में निद्रा-तन्द्रा या मूढ़ता न आने पाये। इसी को स्थिति अवस्था कहते हैं, जो साधना का फल एवं सर्वोच्च पद है।

इसके अनन्तर उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर विवेक अवस्था में जाग्रत रहना—यह साधना का अन्तिम फल है। क्योंकि यदि कोई एक काल में तो समाधिस्थ हो जाये, परन्तु अन्य काल में मन-माया से सावधान न रहे

या अधिक प्रपंचाकार रहे, तो यह साधना का कोई फल नहीं। जो हर क्षण मन-माया से सावधान रहता है, वही समाधिस्थ एवं विवेकवान पुरुष है।

इस कार्य के लिए व्यवहार-प्रपंच की कमी, ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन, वैराग्य-भावना, सदाचार, मनःकल्पित भोगों का सर्वथा त्याग, निर्वाह में सादगी और सन्तोष, वैराग्यवानों का सत्संग, वैराग्य-बोधपूर्ण सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा एकांत-सेवन की महान आवश्यकता है।

इस प्रकार विवेक या द्रष्टा-अभ्यास के लिए सद्गुरु ने उपदेश दिये हैं। इसी को श्री रामहरस साहेब भी पुष्ट करते हैं—

मैं मेरी संकल्प यह, सोई दुख की खान।
ताहि त्यागि गुरु परख लहै, द्रष्टा सोई सुजान॥ 219॥
जग सुख अनित बिचार बुधि, ब्रह्म सुखहिं लौ लीन।
द्रष्टा दोऊ सुखन को, मिथ्या जानहु लीन॥ 233॥
अपनी दृष्टि प्रताप बल, गुरु उपदेश विशेष।
सत्संगति सुख नित्यप्रति, द्रष्टा पारखी देख॥ 234॥
सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।
सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ 235॥

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध)

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

पारख ऊपर थिर ह्वै रहना। सकल परखना नहिं कछु गहना। निर्णयसार॥

हंस समाधी एक ही, सदा निरन्तर होय।
इनते जो विचलै नहीं, लेहु परख पद सोय॥ 25॥
पारख भूमिका भिन्न है, मिलै न काहु को भाय।
परखत परखत हंस को, ता भूमिका को पाय॥ 27॥
जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झाँई भ्रमकूप॥ 28॥ त्रिज्या॥

श्री विशाल साहेब कहते हैं—

स्मरणों को मेटे बिना, कौन मनुष अस आज।
नित नित आपति न सहै, साधु स्ववश तेहि काज॥ 102॥
क्रिया जहाँ तक जड़ सबै, एक लेय एक ठेल।
भिन्न आप लखि ताहि से, पारख स्वबल अकेल॥ 105॥
जैसी रुकती वृत्ति लखि, तैसहिं शान्ती आय।
चिंतन होवै और जब, तबहीं न ठहराय॥ 106॥
मन देखत मन लीन नहिं, निज शक्ती लौटारि।
शक्ती जब पावै नहीं, तबसो क्षीण निहारि॥ 113॥

सबै काम को छोड़ि के, रहे आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥ 119॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक)

श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं—

चितवन करन जगत की, जौं लौं नहिं अति अन्त।
कहहिं कबीर पुकारि के, तौं लौं होय न सन्त॥

(कबीर परिचय, 208)

श्री काशी साहेब कहते हैं—

वैराग्य को आसन विवेक की माला। शांति हिये दृढ़ धरना जी॥ 1॥
परख करु मणका सुरत को धागा। नास्ति माया को फेरना जी॥ 2॥
'परख प्रकाशी हंस सत्य है'। जाप सो हरदम जपना जी॥ 3॥
कायाबीर तब कबीर कहावै। बीजक का यही कहना जी॥ 4॥

(जड़-चेतन भेद प्रकाश)

बुद्धि के सागर धूर्तों से सावधान

सायर बुद्धि बनाय के, बाँयें बिचक्षण चोर॥
सारी दुनियाँ जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर॥ 108॥

शब्दार्थ—सायर=समुद्र। बाँये=विपरीत, बाममार्ग, कुपथ, उलटा पथ। बिचक्षण=विद्वान, दूरदर्शी, चतुर, पारगत, दक्ष। जहँड़े=नष्ट। ठौर=स्थिति, शांति।

भावार्थ—जीवों के ज्ञानधन एवं मानवता की चोरी करने वाले कुपथगामी विद्वानों ने अपनी बुद्धि को समुद्रवत विशाल बनाकर एवं नाना भ्रमपूर्ण ग्रन्थों को रचकर समाज का पतन किया है। इसी में पड़कर संसार के सारे लोगों के विवेक-विचार नष्ट हो गये हैं। कोई अपनी स्थिति को नहीं प्राप्त हुआ॥ 108॥

व्याख्या—हर समय में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बुद्धि के सागर, प्रतिभा के धनी, विद्वान, चतुर, ज्ञान में पारगत एवं समाज को समझने में दक्ष होते हैं। परन्तु वे स्वयं कुपथगामी होते हैं। वे विद्या-बुद्धि, धर्म एवं परमार्थ की आड़ में सांसारिक भोगों एवं ऐश्वर्यों को भोगने की इच्छा वाले होते हैं। इसलिए वे दूसरे के साथ छल करते हैं। वे मानो जनता के ज्ञानधन एवं मानवीय गुणों की चोरी करते हैं। वे समाज को गलत दिशानिर्देश करते हैं। वे अपने आप के विषय में प्रचारित करते हैं कि हम भगवान या भगवान के अवतार या पूर्व महापुरुषों के अवतार या ईश्वर के पैगंबर हैं। वे अपने आप को समाज में चमत्कारिक रूप में प्रचारित करते या करवाते हैं। चमत्कार, जो

केवल एक छलावा है, इसके वे बड़े प्रेमी होते हैं। वे झूठे चमत्कारों से अपने आप को मंडित करते और करवाते हैं। वे मानव की बुद्धि का शोषण करते हैं। वे मानव के विवेक को चुराते हैं। जो विश्व के शाश्वत नियम हैं, कारण-कार्य-व्यवस्था है, प्रकृति के गुण-धर्म हैं, उनको वे झुठलाते हैं और भ्रमजनित बातें संसार में फैलाकर, समाज को सदैव बेवकूफ बनाये रखना चाहते हैं।

वे प्रचारित करते हैं कि उनके प्रताप से मुरदा जी जाता है, सूखे काठ हरे हो जाते हैं, पत्थर की सिल्ली बढ़ जाती है, पानी घी हो जाता है, नदी सूख जाती है, बांझ को पुत्र हो जाता है, अंधे को आंखें तथा कोढ़ी को सुन्दर काया मिल जाती है, एक-दो खुराक भोजन में हजारों लोग पेट भर खा लेते हैं, सारी ऋद्धि-सिद्धियां अचानक मिनटों में प्रकट हो जाती हैं। चूंकि वंचकों ने ऐसी-ऐसी बातों का प्रचार प्राचीनतम काल से किया है, इसलिए उन्हें ऐसी झूठी बातों को अपने जीवन से जोड़ने में सरलता रहती है। धर्म, भगवान तथा महात्मा के नाम पर जितना अधिक झूठ बोला जा सके उतना अधिक जनता को मूर्ख बनाया जा सकता है। धूर्त चमत्कारों की बात फैलाते हैं और मूर्ख उनमें फंसते हैं। ऐसे लोगों का त्याग दिखावा मात्र एवं पाखण्डपूर्ण होता है। ऐसे लोगों को परमार्थ की आड़ में भोगों की लालसा होती है। इसलिए वे भोग और योग को एक मानते हैं। वे अपने अनुगामियों को काफी छूट देते हैं जिससे उनका दल बढ़ता जाये।

"सारी दुनिया जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर" उक्त-जैसे धोखे में पड़कर प्रायः सारा संसार भटक गया है। गुरुओं ने कोई-न-कोई अंधविश्वास अनुगामियों को पकड़ा दिया है और वे उसमें चिपककर अपनी विवेक-बुद्धि खो बैठे हैं। भटके हुए मनुष्यों को कहां ठौर लग सकता है !

स्वार्थी पूंजीपति जनता का आर्थिक शोषण करते हैं और धोखेबाज धार्मिक गुरु जनता का बौद्धिक शोषण करते हैं। जब कोई धार्मिक गुरु बताता है कि महात्मा या गुरु या भगवान की कृपा से पानी बरसता है, तब वह मनुष्य की बुद्धि का शोषण करता है। क्योंकि पानी बरसने के जितने कारण हैं, वे जड़प्रकृति के अपने नियम हैं। प्रकृति में जब उन नियमों का संयोग हो जाता है तब पानी बरसता है, अन्यथा नहीं बरसता। उसमें किसी देवी, देवता, भगवान, गुरु और महात्मा का कुछ भी वश नहीं है, अन्यथा अवर्षण तथा अतिवर्षण होते ही नहीं। परन्तु पानी बरसने के कारण में भगवान, गुरु और महात्माओं को जोड़कर मनुष्य की बुद्धि को दिग्भ्रमित कर दिया जाता है। एक बार मनुष्य के मन में जब अंधविश्वास बैठा दिया जाता है, तब वह सोचने-विचारने की शक्ति से सदैव के लिए पंगु हो जाता है। फिर तो उससे

सारी मूर्खतापूर्ण बातें मनवायी जा सकती हैं। अतएव ये जनता की विवेक-बुद्धि एवं मानवीय गुणों को चुराने वाले विपथगामी बुद्धि के सागर लोगों ने जनता का बड़ा अहित किया है। ये समाज के कीड़े हैं। ये मानव-समाज को खोखला बनाते हैं। इनके चक्कर में पड़कर संसार के लोग भटक गये हैं। अतएव इनसे सावधान होने की आवश्यकता है।

सच्चा मानव कौन?

मानुष ह्वै के ना मुवा, मुवा सो डाँगर ढोर॥
एकौ जीव ठौर नहिं लागा, भया सो हाथी घोर॥ 109॥

शब्दार्थ—डाँगर ढोर=डंगर-ढोर, गाय भैंस आदि चौपाया पशु। ठौर=स्थिति, स्वरूपस्थिति, शांति। घोर=घोड़ा।

भावार्थ—मनुष्य ने मानवीय-बुद्धि एवं मानवता के आचरण धारण करके जीवन नहीं बिताया, किन्तु पशु-बुद्धि एवं पशु-आचरण करके मरा। इसलिए ऐसे में से एक जीव भी अपनी आत्मस्थिति एवं निजस्वरूप की स्थिति न पा सका, बल्कि हाथी-घोड़े आदि पशु-स्वभाव का बनकर चला गया। अथवा मरकर हाथी-घोड़े आदि पशु खानियों में गया।

अथवा "मानुष ह्वै के ना मुवा" जो व्यक्ति मानवीय बुद्धि एवं मानवीय आचरण धारण किया, वह मरा नहीं, किन्तु अमरत्व को पा गया। मरता तो वह है जो पशुबुद्धि वाला देहाभिमानी है! ऐसे जीव स्वरूपस्थिति न पाकर हाथी-घोड़े आदि पशु होते हैं॥ 109॥

व्याख्या—विवेकी होना ही मनुष्य होना है। बौद्धिक संतोष, चारित्रिक सन्तोष और आत्मिक संतोष ही जीवन की ऊंचाई है। विवेक के पूर्ण उदय होने पर बौद्धिक सन्तोष होता है; मन, वाणी तथा इन्द्रियों से सारी बुराइयों के दूर हो जाने पर चारित्रिक सन्तोष होता है और वासनाओं की पूर्ण निवृत्ति होने पर आत्मिक संतोष होता है। जड़ और चेतन में उनके अपने गुण-धर्म अन्तर्निहित हैं जिनसे संसार की गतिविधि चलती है। संसार में सब कुछ नियमबद्ध है। यहां कुछ भी अजूबा या चमत्कार नहीं होता है। हर घटना के पीछे कारण है। पांचों विषयों एवं जड़-दृश्यों का द्रष्टा चेतन स्वयं ज्ञानरूप है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, देहाभिमान आदि का त्याग कर दया, क्षमा, सत्य, शील, विचार, सन्तोषादि धारणकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य होना है। जो ऐसा मनुष्य हो जाता है वह मरता नहीं "मानुष ह्वै के ना मुवा"। जो इस प्रकार सच्चा मनुष्य हुआ, वह अमर हो गया। मरता तो वह है जो डंगर-ढोर है। जो यह मानता है कि मैं देह हूं, खाना-पीना तथा विषय-भोगना जीवन का लाभ

है, ऐसा देहाभिमानी मनुष्य मरता है। देह ही तो मरती है और जो अपने आप को देह मानता है वही मरता है। वही समझता है कि मैं मर रहा हूं। परन्तु जो यह जानता है कि मैं अमर चेतन हूं, वह मरने का भ्रम क्यों करेगा! जिसे विवेकज्ञान है, वह अपने आप को अमर जीव एवं आत्मा मानता है। उसे अपने आप के विषय में मरने का भय नहीं हो सकता। वह निर्भय, स्वच्छंद एवं निर्बंध हो जाता है।

खेद है कि संसार में इस ढंग के मनुष्य बिरले-बिरले हैं। शेष तो पशुबुद्धि वाले हैं। वे अपने आप को देह समझते हैं। सदैव पेट भरने, इंद्रिय-भोगों में उलझे रहने तथा इन सबके लिए धन्धा करने में ही वे अपने आप को कृतार्थ मानते हैं। इसलिए वे सदैव मृत्युभय से भीत रहते हैं। वे आज पशु-स्वभाव के हैं और मरने पर भी पशु ही रहेंगे। परन्तु जो आज मुक्त है, अपने चेतनस्वरूप में स्थित है, निर्भय है, वह आगे भी अमर स्थिति में ही रहेगा।

सद्गुरु कबीर की भाषा में जीवन्मुक्त पुरुष ही पूर्ण मनुष्य है। जो शरीर में रहते हुए सारी भ्रांतियों, भयों एवं मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त है, वही जीवन्मुक्त है। वही पूर्ण मनुष्य है। स्वरूपस्थ होना ही न मरना एवं अमर होना है; और देहाभिमानी तथा भोगासक्त होना ही मर जाना है।

मानुष मानुष सबै कहावै। मानुष बुद्धि कोई बिरला पावै॥
मानुष बुद्धि बिरला संसारा। कोई जाने जाननहारा॥

(पंचग्रंथी, मानुष विचार)

सत्योपदेश न मानना अपराध है

मानुष तैं बड़ पापिया, अक्षर गुरुहि न मान।
बार बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान॥ 110॥

शब्दार्थ—मानुष=मनुष्य। अक्षर=अविनाशी, अक्षय, चेतन जीव। बन कूकुही=बनकुकुही, बनमुरगी।

भावार्थ—हे भूला मानव! तू बड़ा पापी है जो गुरु के दिये हुए अविनाशी स्वरूप के उपदेश को नहीं मानता और नाशवान देहादि में पचता है। जैसे बनमुरगी बारम्बार गर्भ धारणकर अंडे देती है और उन्हीं के सेने में ध्यान रखती है, वैसे तू भी देह, गेह, परिवार आदि का अहंकार कर उन्हीं की सुरक्षा में सदैव ध्यान रखता है और अविनाशी निर्भय स्थिति से दूर रहता है॥ 110॥

व्याख्या—यह मनुष्य का सबसे बड़ा पाप है जो वह सच्चे गुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं देता। गुरु का उपदेश है कि मनुष्य का अपना आपा अमर है। अक्षर का अर्थ अविनाशी होता है तथा उपदेश भी। गुरु के उपदेश,

गुरु के बताये हुए अविनाशी तत्त्वबोध का तिरस्कार करना मनुष्य का बहुत बड़ा अपराध है। इस पाप का फल होता है कि मनुष्य अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के परिचय से वंचित रह जाता है। उसकी कभी आत्मबुद्धि बन ही नहीं पाती, उसकी सदैव देहबुद्धि रहती है। वह देह के खान-पान, शृंगार एवं इन्द्रिय-भोगों में ही सदैव लीन रहता है। पेट, भोग और धन्धा इससे अधिक उसका कुछ उद्देश्य नहीं रहता। इसलिए वह संसारासक्त होता है। संसारासक्त आदमी सदैव संसार के विषयों का ध्यान करता है; क्योंकि उसका उन्हीं में अहंभाव होता है। जो व्यक्ति जिसमें अपनापन जोड़ता है, वह उसी का ध्यान करता है। सद्गुरु ने इसके लिए इस साखी की दूसरी पंक्ति में बड़ा मार्मिक व्यंग्य किया है "बार-बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान"। कुकुही[1] का अर्थ ही होता है बनमुरगी। बनमुरगी बारम्बार गर्भ धारण करती है और अंडे देकर उनको सेती है। अंडे के सेने में उसे अंडे का ही ध्यान करना पड़ता है।

संसारी मनुष्यों का सांसारिक प्राणी-पदार्थों को अपना होने का अहंकार करना, मानो उनका गर्भ धारण करना है। यह गर्भ वह बारम्बार धारण करता है। मनुष्य सदैव सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार ही में डूबा रहता है। इसलिए वह उन्हीं का सदैव ध्यान भी करता है। संसारी मनुष्य सदैव विषयों के चिन्तन में डूबा रहता है। उसका मन सदैव विनशने वाले विकारी प्राणी-पदार्थों का जप करता है। वह सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, संताप आदि मानसिक विकारों में जलता है।

सत्ता में मुख्य दो तत्त्व हैं क्षर तथा अक्षर।[2] क्षर का अर्थ है नाशवान। जो चीज सदैव बदलती रहे वही क्षर है। देह, गेह, धन, सम्मान और संसार के सारे जड़-पदार्थों की यही दशा है। वे सदैव बदलते रहते हैं। उनका एकरस रहना असंभव है। इसलिए उनमें अहंता-ममता करने वालों का चित्त भी दुखी रहता है। जो आज है और कल नहीं है, उसमें अहंता-ममता करना कष्टकारक होगा ही। दूसरा अक्षर तत्त्व है। अक्षर का अर्थ है अविनाशी, एकरस। वह व्यक्ति का अपना आपा है। अपना चेतनस्वरूप, अपनी आत्मा अविनाशी है। अपने आपा की अनुपस्थिति का आभास कभी किसी को नहीं होता है। परन्तु मनुष्य इस अविनाशी स्वरूपबोध से जीवनभर वंचित रहता

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. कुछ लोग क्षर तथा अक्षर से परे एक निःअक्षर तत्त्व की कल्पना करते हैं, जो एक भ्रांति है। लक्षण ही केवल दो हैं एक क्षर तथा दूसरा अक्षर, एक नाशवान तथा दूसरा अविनाशी। अविनाशी के ऊपर दूसरे अविनाशी की कल्पना निरर्थक है। क्षर तथा अक्षर दो लक्षण हो जाने पर निःअक्षर केवल एक कल्पना ही है।

है। इसलिए उसकी बुद्धि सदैव क्षर वस्तु में लगी रहती है। वह सदैव नाशवान विषयों का चिंतन करता है और भय से पूर्ण रहता है। आदमी बनमुरगी बना सदैव अण्डे-बच्चे देता रहता है और उन्हीं के मोह में लिपटा हुआ सदैव पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता रहता है। सद्गुरु अक्षर का बोध देते हैं। वे बताते हैं कि हे मनुष्य ! तेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी है, तू अक्षर है, अक्षय है। तू अपने अक्षय स्वरूप का ज्ञान एवं स्मरण छोड़कर क्षयशील नाशवान चीजों में क्यों रमता है ! अतएव विषयों का त्याग कर और अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके कहै न खुलै कपाट।
स्वनहा चौक बैठाय के, फिर फिर ऐपन चाट॥ 111॥

शब्दार्थ—मानुष=विवेकवान, शिक्षक। बिचारा=बेचारा, विवश। कपाट=किंवाड़, अज्ञान का परदा। स्वनहा=कुत्ता। चौक=चौका, वेदी। ऐपन=चावल और हल्दी एक साथ पीसकर बनाया हुआ लेप जो मांगलिक कार्यों एवं पूजन में काम आता है।

भावार्थ—बेचारे विवेकवान सत्योपदेश देकर क्या करें जब उनके कहने पर भी संसारियों का हृदय-कपाट नहीं खुलता। जैसे किसी ने पूजा के समय वेदी पर कुत्ता को बैठा दिया और वह अपने स्वभाववश बारम्बार मांगलिक पदार्थों को चाटकर उसे अशुद्ध करता रहा, वैसे मनुष्य का लोलुप मन बारम्बार विषयों में डूबकर गुरु के सत्योपदेश पर पानी फेरता रहता है ॥ 111॥

व्याख्या—इस साखी के पूर्व की 110वीं साखी में 'मानुष' शब्द संबोधन में कहकर उन लोगों को निर्देशित किया गया था जो गुरु के अविनाशी तत्त्वबोध के उपदेश को नहीं समझते और नहीं मानते; परंतु इस साखी में 'मानुष' शब्द का प्रयोग विवेकवान एवं गुरु-संतों के लिए किया गया है जो उपदेष्टा हैं। इस साखी में उपेष्टाओं की विवशता तथा श्रोताओं की लोलुपता पर प्रकाश डाला गया है, और उनके लोलुप मन के लिए कुत्ते का उदाहरण दिया गया है।

गुरुजनों का काम है कि वे स्वयं आचरण से रहें तथा दूसरों को अपने वचनों से उस तरफ प्रेरित करें। इसके बाद उनका काम पूरा है। कोई उपदेष्टा या गुरु किसी के दिल में घुसकर उसे बदल नहीं सकता। यदि कोई उपदेष्टा या गुरु स्वयं आचरण में नहीं चलता है, केवल दूसरों को उपदेश देता है, तो यह कहा जा सकता है कि श्रोता एवं जिज्ञासु क्या करें, जब उन्हें केवल मौखिक उपदेश मिलता है, गुरुजनों के दिव्य आचरणों के आदर्श नहीं, तब वे कैसे सुधरें ! परन्तु यदि उपदेष्टा एवं गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलते हैं, उनके आदर्श दिव्य हैं और अपनी वाणी से भी वे लोगों को प्रेरित करते हैं तो

इसके आगे वे क्या कर सकते हैं ! बड़े-से-बड़े गुरु में यह शक्ति नहीं है कि वे किसी को जबरदस्ती बदल दें। कुछ लोग कहते हैं कि महान गुरु एवं पहुंचा हुआ पुरुष श्रोता एवं शिष्य को बलपूर्वक बदल सकता है। 'शक्तिपात' का व्यामोह संसार में बहुत लोगों को है। ऐसे लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु अपनी शक्ति शिष्य में बलपूर्वक डाल देता है और शिष्य तुरंत बदल जाता है। परन्तु यह सब भ्रांति के अलावा कुछ नहीं है। हां, यह बात ठीक है कि योग्य शिष्य को जब समर्थ गुरु मिल जाता है तब वह बहुत शीघ्र यथार्थ ज्ञान एवं साधना में आगे बढ़ जाता है। यदि श्रोता एवं शिष्य अपना हृदय-कपाट भीतर से नहीं खोलता है तो गुरु मात्र बाहर से खोलकर क्या करेगा ! मान लो, एक आदमी एक कोठरी में बन्द है। कोठरी के फाटक में बाहर से ताला लगा है और भीतर से भी। बाहर रहे हुए आदमी ने बाहर का ताला खोल दिया, सांकल भी हटा दिया। अब फाटक तभी खुलेगा जब भीतर का बन्द आदमी भीतर से ताला खोलकर सांकल हटा दे। बाहर का आदमी भीतर से कैसे खोल सकता है। इसी प्रकार गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलकर दूसरों को उपदेश दें, बस उनका यही कर्तव्य है। इसके आगे श्रोता एवं शिष्य का काम है कि वह अपने अन्दर की मलिनता को मन में दृढ़ निर्वेद करके मिटाये।

यदि आदमी कुत्ते की तरह लोलुप है तो वह आध्यात्मिक साधना में कोई प्रगति नहीं कर सकता। वैसे मनुष्य के समान कुत्ते लोलुप नहीं होते। उनके सामने रोटी, भात, दाल, सब्जी, चटनी आदि रख दीजिए, तो वे रोटी-भात खा सकते हैं, उनका मन हुआ तो थोड़ी दाल भी खा सकते हैं; परन्तु सब्जी, चटनी नहीं खायेंगे। सब्जी में यदि मसाला है तो उसे छूयेंगे भी नहीं। कुत्ते केवल कार्तिक में कामांध होते हैं, और विवेकहीन आदमी तो बारहों महीने कामांध होता है। इस साखी में 'स्वनहा...ऐपन चाट' का उदाहरण केवल एक अंश में है। कुत्ते आदि पशुओं एवं मानवेतर देहधारियों में जितने संयम हैं, सब उनके स्वभाववश हैं तथा जितनी लोलुपता है वह भी स्वभाववश है। वेदी में बैठे हुए कुत्ते के मांगलिक पदार्थों को बारम्बार चाट लेने के समान यदि हम विषयों में लोलुप होकर सदैव उन्हीं में लीन रहते हैं तो सत्योपदेश का क्या प्रभाव होगा। मनुष्य गुरु के उपेदश क्यों नहीं धारण कर पाता ! केवल एक ही बात है विषयासक्ति। गलत आदतें, विषयासक्ति एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि छोड़ना ही तो गुरु के उपदेश को मानना तथा उसका आचरण करना है। इसलिए केवल ज्ञान की हजार बातें करने से कुछ नहीं हो सकता। जब तक हम विषयों की आसक्ति छोड़कर गलत आदतों से मुक्त नहीं होते हैं तब तक हमारे सारे ज्ञान केवल भूसी पछोरना है।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके शून्य शरीर।
जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर॥ 112॥

शब्दार्थ—शून्य शरीर=श्रद्धाभाव से रहित हृदय। झाँकि=झांकी, देखने की क्रिया, दर्शन, दृश्य, प्रेम-उत्साह।

भावार्थ—विवेकवान उपदेशक बेचारे उपदेश देकर उसे क्या लाभ पहुंचा सकते हैं जिसका हृदय श्रद्धाभाव से रहित है। सद्गुरु कहते हैं कि उसे पुकारकर क्या बुलाया जाये जिसे साथ में आने का उत्साह नहीं है ! अर्थात जिसके दिल में स्वरूप-साक्षात्कार एवं आत्मकल्याण का प्रेम नहीं जगता, उसको उपदेश देकर क्या लाभ !॥ 112॥

व्याख्या—स्वरूपज्ञान, स्वरूपसाक्षात्कार एवं स्वरूपस्थिति की पिपासा बहुत कम लोगों को हुआ करती है। कहा जाता है कि जब महात्मा बुद्ध को समाधिलाभ हुआ और वे पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त हो गये, तब उन्होंने सोचा कि मेरा क्या कर्तव्य है ! उन्होंने एक बार विचार किया कि जिस आत्मशांति का लाभ मुझे हुआ है उसे दूसरों को भी बांटू। इसके बाद उन्होंने सोचा कि इसे लेने वाला कौन मिलेगा ! सारा संसार तो घोर अंधकार में डूबा है। परमार्थ की बातें कौन सुनने वाला है ! अतएव जिस शांति की उपलब्धि हुई है उसी में नित्य रमण करो और छोड़ो संसार को चेताने का चक्कर ! परन्तु कुछ क्षण के बाद उन्होंने पुनः विचार किया कि जैसे मेरे मन में इस परमार्थतत्त्व की पिपासा जगी और इसके लिए मैंने अपने आप को समर्पित कर दिया, वैसे दूसरे भी लोग हो सकते हैं। अतः उन्होंने दूसरे जिज्ञासुओं को अपना उपलब्ध ज्ञान देना शुरू कर दिया।

यहां इस साखी में सद्गुरु कबीर भी आत्मकल्याण के जिज्ञासुओं की दुर्बलता बताते हैं। वे इसमें यह नहीं कहते कि संसार में पात्रत्व वाले हैं ही नहीं, किन्तु यह कहते हैं कि जो पात्र नहीं है, उसके पीछे पड़ने से कोई लाभ नहीं। ज्ञान की बातें उसी से कहना ठीक है जिसके मन में कम-से-कम ज्ञान की बातों को सुनने की जिज्ञासा एवं उत्साह हो। 'भैंस के आगे बेन बजावे, भैंस ठाढ़ पगुराय' अर्थात कोई भैंस के आगे बाजा बजावे, परन्तु भैंस को उससे कोई आनन्द नहीं आता। वह उसके महत्त्व को कुछ नहीं समझती। वह खड़ी होकर जुगाली करती है। इसी प्रकार जिसे ज्ञान एवं अध्यात्म की बातों को सुनने की बिलकुल ही श्रद्धा नहीं है उसके सामने कुछ कहना अपना समय बरबाद करना है। सद्गुरु कहते हैं कि उपदेष्टा बेचारे उसे क्या उपदेश करेंगे जिसका शरीर शून्य है ! शरीर शून्य होने का अर्थ है भावनाहीन होना।

"जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर" झांकी कहते हैं दृश्य, दर्शन एवं प्रेम को। यहां अभिप्राय प्रेम है। हम किसी को पुकारकर अपने

पास बुलाते हैं, परन्तु वह हमारे पास आना नहीं चाहता, तो हमारा पुकारना निरर्थक है। इसी प्रकार हम किसी को उपदेश देकर उसे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यमार्ग पर लाना चाहते हैं, परन्तु उसे इस तरफ थोड़ी भी रुचि नहीं है, तो उसे उपदेश देकर अपना और उसका समय बरबाद करना है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

जो न सुनिय तेहि का कहिय, कहा सुनाइय ताहि।
तुलसी तेहि उपदेशिबो, तासु सरिस मति जाहि॥ तुलसी सतसई॥

जीवन में चूक मत करो

मानुष जन्म नर पायके, चूके अबकी घात।
जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात॥ 113॥

शब्दार्थ—घात=दावं, अवसर। भवचक्र=जन्म-मरण चक्कर, संसार में भटकाव। घनेरी=बहुत।

भावार्थ—जीव ने विवेक-प्रधान मानव-जन्म को पाकर भी यदि ऐसे सुनहले अवसर में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम नहीं किया और इस महत्त्वपूर्ण अवसर को व्यर्थ खो दिया तो वह जाकर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर असीमित दुख भोगता रहेगा॥ 113॥

व्याख्या—आदमी वही रहता है, परन्तु जब वह बैलगाड़ी की सवारी पर चलता है, तब उसकी गति बहुत मंद होती है, पर रेलगाड़ी एवं कार की सवारी पर वह तेज चलता है; परन्तु यदि उसने वायुयान की सवारी की तो वह बहुत तेज गति से चलता है। सामान्य आंखों से हम चीजों के सामान्य रूप ही देख पाते हैं; परन्तु सूक्ष्मदर्शक एवं दूरदर्शक से हम सूक्ष्म वस्तुओं एवं दूर की वस्तुओं को भी देख लेते हैं। इसी प्रकार जीव तो वही है, परन्तु जब वह मनुष्येतर खानियों में रहता है तब केवल पेट तथा भोग तक सीमित रहता है, परन्तु जब वह मानव-शरीर में आता है तब विवेक-ज्ञान की भूमिका में पहुंच जाता है। अन्य खानियां अंधकारपूर्ण हैं, मानव शरीर प्रकाशस्थल है। जीव का मानव शरीर में आना उसका एक सुनहला अवसर है। मानव-शरीर में विवेक जग सकता है। यहीं सत्संग प्राप्त होता है। यहीं जीव अपने स्वरूप को समझ सकता है। यहीं साधना करके सारी जड़ वासनाओं का क्षय कर सकता है।

ऐसा उत्तम मानव चोला पाकर भी जो इसे पशु-सदृश कामों में लगाये रखता है, वह मानो अपने सुनहले दावं को चूक रहा है। अवसर ऐसा देवता है जिसके सिर के अगले भाग में तो चोटी है किंतु पिछले भाग में केवल

सफाचट है। अतः यदि उसके आते ही उसकी चोटी पकड़ ली गयी तो वह अपने हाथों में आ जायेगा। अन्यथा जब वह लौट पड़ता है तब उसे पकड़ा नहीं जा सकता। जो लोग अपनी जवानी को काम-भोग, लड़ाई-झगड़े एवं राग-द्वेष में क्षीण करते हैं, वे बुढ़ापा में पहुंचकर केवल पश्चाताप करते हैं।

मनुष्य जीवन का अवसर सर्वाधिक मूल्यवान है। हम अपने जीवन के अवसर में धन कमा सकते हैं, किन्तु धन देकर जीवन के बीते अवसर को लौटा नहीं सकते। इसी प्रकार हम जीवन के अवसर में परिवार, विद्या, प्रतिष्ठा, शासन, अधिकारादि संसार के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु उन सबसे जीवन के बीते अवसर को पुनः लौटा नहीं सकते। हम जीवन में जो कुछ पाते हैं वे सब अंततः छूट जाते हैं। परन्तु यदि हमने अपने जीवन में आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति की, तो यह कभी छूटने वाली वस्तु नहीं है और इसी में हमें परम सुख एवं परमशांति मिलती है। विवेकप्रधान एवं मोक्ष साधन करने योग्य मानव शरीर को पाकर यदि हमने यह काम नहीं किया और इस सुनहले अवसर में यदि हम जीवनभर ईंट-पत्थर और संसार के अन्य सारे क्षणभंगुर पदार्थ बटोरते रहे तो हमने क्या समझदारी का काम किया ! जिस जीवन में हमें अनंत मोक्ष, अनंत शांति एवं अनंत सुख की प्राप्ति हो सकती है, यदि उसे हमने मलिन भोगों में बिताया, तो हम-जैसा मूर्ख कौन होगा ! हम स्वप्नवत सांसारिक प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझकर अपने कल्याण-साधना करने योग्य दावं को चूक जाते हैं और उसका फल होता है जीवन की हार !

यदि जीव ने आज अपना कल्याण नहीं कर लिया, तो वह आज और आगे के लिए दुख का पात्र बन गया। "जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात" जीव ने यदि आज भवबन्धनों से मुक्ति नहीं ले ली तो वह पुनः नाना योनियों में भटक-भटककर असीम दुख भोगता रहेगा। आप देखते हैं कि जीव कीड़े-मकोड़ों के नाना शरीर धारणकर मनुष्यों एवं पशुओं के पैरों से रात-दिन रगड़े जाते हैं। बारम्बार जन्मना और मरना, यह महान दुख है। शरीर यात्रा एवं संसार के भ्रमण में गर्भवास, जन्म, बाल्य, युवा, जरा, रोग, विपत्ति तथा मरण के नाना दुखों को भोगना, यही जीव का व्यवसाय है। जीव जब तक जन्म धारण करता रहेगा, तब तक वह क्षणभंगुरता के प्रवाह में ही निरन्तर बहता रहेगा और तब तक उसे शांति कहां है !

रतन का जतन करु, माँड़ी का सिंगार।
आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार॥ 114॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न, मानव शरीर, जीव एवं चेतन-आत्मा। जतन=यत्न, उद्योग, उपाय, सार-सम्हाल। माँड़ी=कपड़े के सूत पर चढ़ाया

जाने वाला चावल का पसेव, दिखाऊ, मंडी, बाजार।

भावार्थ—मानव-शरीररूपी रत्न को अच्छे उपाय से रखो, अथवा महान-रत्न अपने जीव को, अपनी चेतन-आत्मा को सम्हालकर रखो। जिस माया के शृंगार एवं चटक-मटक में तुम भूलते हो, वह पसेव चढ़े हुए चिकने कपड़े या सजे हुए बाजार के समान दिखाऊ एवं क्षणभंगुर है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव संसार में आते हैं और फिर थोड़े दिनों में लौट जाते हैं, इसलिए यहां का अहंकार मिथ्या है॥ 114॥

व्याख्या—इस साखी में आये हुए रत्न शब्द का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। रत्न के लक्षणा अर्थ में मानव-शरीर भी हो सकता है तथा जीव भी। मानव-शरीर एक ऐसा रत्न है जो बहुत थोड़े समय के लिए मिला है। इसको यत्नपूर्वक रखना मनुष्य की बुद्धिमानी है। अधिकतम लोग इस शरीर को पाकर जवानी आते ही इतरा जाते हैं। वे अपनी जवानी की उष्मा में प्रमत्त होकर भोगों पर टूट पड़ते हैं और अपने इस रत्न को मलिन भोगों में खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं "रतन का जतन करु" इस रत्न को यत्न से रखो। यत्न का अर्थ है उपाय, साधना एवं सार-सम्हाल। मन के विकारी वेगों में बहो मत। जवानी की बाढ़ थोड़े दिनों की है। इस बाढ़ में बह जाने वाला आदमी पीछे पछताता है। शक्ति खो जाने के बाद यदि होश आये तो किस काम का! तुम्हारी जवानी पर बाहरी प्राणियों के हमले होते हैं, भीतरी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के हमले होते हैं। तुम इन सबसे सावधान रहो। जवानी के क्षणिक भ्रमसुख की गुदगुदाहट में जो अपने आप को खो देता है, वह शेष जीवन में रोता रहता है। ऐसे लोग ही संसार में अधिकतम होते हैं जो जोश में होश खोकर बेवकूफ बने शेष जीवन में पश्चाताप करते रहते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष और संसार के प्रपंचों में उलझने का फल है मलिनता, उद्वेग, इच्छा की वृद्धि, क्षीणता, अशांति एवं जन्म-जन्मान्तरों तक भटकाव, परन्तु इस शरीर को यत्न से रखकर एवं साधना-संयम से रखकर निवृत्ति का फल है आज और आगे सदा के लिए परम शांति। जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को यत्न एवं संयम से रखता है वही मानो जीवरूपी रत्न को सम्हाल कर रखता है। मनुष्य का अपना मूल आपा जीव, चेतन एवं आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्तरूप ही है। उसे सम्हालना नहीं है, बल्कि मन-इन्द्रियों को सम्हाल लेने के बाद, सब ठीक है।

मनुष्य अपने आप को क्यों नहीं सम्हाल पाता! वह मन-इन्द्रियों के उद्वेगों में क्यों बह जाता है! क्योंकि वह संसार के शृंगार एवं चटक-मटक में भूल जाता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—"चटक मटक में दुनिया रीझे, राग-रंग में नारी। भाव भक्ति में साधू रीझे, तीनों निपट अनारी॥" संसार

के सारे राग-रंग एवं चटक-मटक क्षणिक होते हैं। कपड़े पर माड़ी चढ़ी होने से वह चिकना दिखता है, परन्तु धुल जाने के बाद उसका खुरदरापन प्रकट हो जाता है। माड़ी, मंडी एवं बाजार की भी यही दशा है। जिस समय बाजार सजता है उस समय उसकी रौनक देखते ही बनती है। परन्तु कुछ ही समय के बाद बाजार उजड़ जाने पर सब कुछ अनसुहाता हो जाता है। जवानी की चमक-दमक, मित्रों का मिलना, पद, अधिकार, शासन, स्वामित्व सब कुछ 'माँड़ी का सिंगार' है, क्षणिक दिखावा है और हम इन्हीं सब में भूलकर अपने आप को खो देते हैं।

"आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार" इस संसार में जीव मुफलिस बनकर आता है और तवंगर बनकर आता है, गरीब बनकर आता है और धनी बनकर आता है, बलवान बनकर आता है और निर्बल बनकर आता है, विद्वान बनकर आता है और निरक्षर बनकर आता है, शासक बनकर आता है और शासित बनकर आता है, परन्तु आकर सब थोड़े दिनों में लौट जाते हैं। बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली एवं घमंडी भी यहां रहने नहीं पाते। इसलिए कबीर देव कहते हैं कि यहां का अहंकार करना झूठा है। शिवि, मांधाता, नहुष आदि महाराजे तथा उनके ऐश्वर्य कहां गये ! सूर्यवंश, चंद्रवंश, राम, कृष्ण, कौरव-पांडव और उनके ऐश्वर्य का कहीं पता भी नहीं लगता। मौर्यवंश, गुप्तवंश, पृथ्वीराज, जयचन्द, चंगेज खां, नादिरशाह, बाबर, अकबर, औरंगजेब, फिरंगी तथा अभी कल के हिटलर, नेपोलियन, मुसोलिनी आदि के केवल नाम शेष हैं। केवल उनके किये हुए कर्तव्यों के 'उत्तम मध्यम बाजन बाजा' के अनुसार भली-बुरी चर्चा रह गयी है, वह भी कुछ लोगों की। शेष को तो कोई जानता भी नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव "झूठा है हंकार" यहां का अहंकार करना व्यर्थ है। इसलिए यहां के सारे अहंकारों को छोड़ ! यहां की क्षणिक चटक-मटक में मत फंस ! अपने जीवन का उद्धार कर ! रतन का जतन कर ! अन्यथा तेरा कोई साथी नहीं होगा।

काहे गरब करे नर मूरख, यह सब दुनिया फानी है।
बिनसि जाय सपने की माया, जिमि अँजुली का पानी है॥

मानुष जन्म दुर्लभ है, बहुरि न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार॥ 115॥

शब्दार्थ—दुर्लभ=कठिनता से मिलने वाला। बहुरि=पुनः, दोबारा।

भावार्थ—मनुष्य का जन्म पुनः मिलना बड़ा कठिन है। पके फल जब डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः लौटकर उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जीव जब देह छोड़कर चला जाता है तब पुनः उसमें नहीं लौटता॥ 115॥

व्याख्या—पुनर्जन्म सिद्धांतानुसार यह विश्वास किया जाता है कि जीव संसार के चौरासी लाख योनियों में या असंख्य योनियों में कर्मवासनावश भटकता है। वह अपने किसी अच्छे कर्म के बल पर सौभाग्य से कभी-कभी मानव-शरीर पाता है। अन्य खानि की देहें तो केवल भोगभूमिका हैं। वहां कल्याण-सुधार का कोई अवसर नहीं है। केवल मानव-शरीर कर्मभूमिका है। यहीं कल्याण-सुधार की साधना की जा सकती है। परन्तु जीव अपनी असावधानी से इस मानव-शरीर के सुनहले अवसर को पशुवत खाने-भोगने में बिता देता है और यहां से बिना आत्मकल्याण किये चला जाता है।

इसके लिए एक सुन्दर एवं प्रचलित उदाहरण दिया जाता है। एक शहर था। उसके चारों ओर एक परकोटा खिंचा था। उस परकोटे में केवल एक दरवाजा था। उस शहर में एक अंधा रहता था। एक बार उसका मन हुआ कि इस परकोटे से मैं बाहर चला जाऊं, उसने लोगों से उससे निकलने का रास्ता पूछा। लोगों ने कहा कि तुम इस परकोटे की दीवार को पकड़े-पकड़े चले जाओ, तो तुम्हें एक जगह दरवाजा मिल जायेगा। फिर तुम वहीं से बाहर निकल जाना। उसने वैसा ही किया। परन्तु उसके शरीर में खाज का रोग था। वह बीच-बीच में दीवार को छोड़कर खुजलाने का काम करने लगता था और चलता भी रहता था और पुनः दीवार पकड़ लेता था। ऐसा संयोग कि जब वह दरवाजे के निकट आता था, उसे खुजली लग जाती थी और वह दीवार छोड़कर चलते-चलते खुजलाने लगता था। फलतः दरवाजा छूट जाता था और उसके हाथ में पुनः दीवार आ जाती थी। वह जब-जब दरवाजे के पास आता था, तब-तब यही दशा होती थी।

इसका तात्पर्य यह है कि असंख्य योनियों एवं खानियों का एक विशाल परकोटा है। उससे निकलने का एक ही दरवाजा है—मानव-शरीर। परन्तु जब जीव मानव-शरीर में आता है तब उसे विषय-वासनाओं एवं संसार के राग-द्वेष की खुजली लग जाती है। इसलिए वह इससे निकलने की अपेक्षा खुजली खुजलाने लगता है और इसी में यह मानव-शरीररूपी दरवाजा छूट जाता है और जीव पुनः नाना योनियों का चक्कर काटने लगता है। मान्यता चौरासी लाख योनियों की है। परन्तु पारखी सन्त इस संख्या पर विश्वास नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि शायद आज तक कोई देहधारियों की योनियों एवं खानियों की सम्पूर्ण गणना नहीं कर सका है। कहा जाता है कि आजकल के जीवविज्ञानियों ने दस लाख योनियों तक की गणना कर ली है। उसके आगे अभी प्रयास जारी है। संख्या जो हो, यह निश्चित है कि देहधारियों की योनियां बहुत हैं और असंख्य कहना ही ठीक है। पारखी सन्त चौरासी का अर्थ करते हैं चार राशियां, अर्थात चार ढेरियां। वे हैं मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीड़े।

पारखी सन्त वृक्ष-वनस्पतियों में चेतन जीव का होना नहीं मानते। इसलिए वनस्पति को वे सचेतन खानि नहीं मानते। इसलिए वे चार राशियों में उसे नहीं लेते।

सद्गुरु इस साखी में इस बात पर जोर देते हैं कि मानव-शरीर ही कल्याण-साधना करने की भूमिका है और साथ-साथ क्षणिक भी है तथा छूटकर शीघ्र मिलने वाला भी नहीं है। इसलिए इस मानव-जीवन के सुनहले अवसर को असावधानी में, विषय-वासनाओं में एवं राग-द्वेष के झगड़े में न बिताओ। बल्कि इस जीवन में एक-एक क्षण का सद्साधना में दोहन करो। ऐसा अवसर मिलना सहज नहीं है। ऐसे अवसर को जो व्यर्थ खोता है वह कितना भोला है !

मानव-शरीर की दुर्लभता में सद्गुरु डाली से टूटे हुए फल का उदाहरण देते हैं। जब पके फल डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जब जीव शरीर को छोड़ देता है तब पुनः वह उसी शरीर में प्रवेश नहीं करता, और दूसरा मानव-शरीर मिलना भी सहज नहीं रहता। वह तो पुनः जब उसके अच्छे कर्म फलोन्मुख होंगे तभी मानव-शरीर पायेगा।

"पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार" इस पंक्ति का यह अर्थ लगाना इसका दुरुपयोग है कि जैसे फल डाली से टूटकर पुनः उसमें नहीं लगते, वैसे आदमी मरकर पुनः दूसरी देह नहीं धरता। कबीर साहेब की अपनी मान्यता है कि जीव चेतन हैं, अविनाशी हैं और कर्म संस्कारों के अधीन नाना योनियों में भटकते हैं। वे वासनावश बंधे हैं और मानव-शरीर में सत्संग, विवेक एवं स्वस्वरूप का ज्ञान पाकर भव-बंधनों एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो सकते हैं। "कहहिं कबीर सत सुकृत मिले, तो बहुरि न झूलै आन।"[1]

यहां पके फल के डाली से टूटकर उसमें न लगने की बात का उदाहरण केवल मानव-शरीर की दुर्लभता पर दिया गया है जिसमें उदाहरण का केवल एक अंश लिया गया है, कि जीव शरीर छोड़कर फिर उस शरीर में नहीं आता। इस साखी का सार कथन यह है कि हम इस दुर्लभ मानव-जीवन को विषय-प्रपंच में न खोयें। इससे हम अपने जीवन का कल्याण करें।

भक्ति से स्वरूपस्थिति की ओर बढ़ो

बाँह मरोरे जात हो, मोहि सोवत लिये जगाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥ 116॥

---

1. हिंडोला 1।

शब्दार्थ—बाँह मरोरे=हाथ छुड़ाकर। ई पिण्डे=इस मानव-शरीर में।

भावार्थ—शिष्य कहता है कि हे सद्गुरु ! आपने मुझे सोये हुए से जगा लिया है और मैंने आपकी बांह पकड़ ली है। परन्तु आप मुझसे अपनी बांह छुड़ाकर और मुझसे विरत होकर अपनी असंग स्थिति में जा रहे हैं, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा? सद्गुरु ने मानो शिष्य से दूर जाते हुए पुकारकर उसे बता दिया हो कि हे शिष्य ! तू इसी शरीर में रहते हुए अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो, अन्यथा भ्रम में तेरा समय बीत जायेगा॥ 116॥

व्याख्या—इस साखी का भाव बड़ा मनोहर तथा मार्मिक है। सद्गुरु ने बारम्बार दोहराया कि अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसे सुनकर जिसमें स्वरूपस्थिति की परिपक्वता नहीं है वह शिष्य घबरा गया। उसने देखा कि गुरु ने हमें मोह-नींद से तो जगा लिया है, परन्तु अब वे कहते हैं कि तुम अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसके आगे वे मुझसे असंग होकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहते हैं। अब आगे वे मुझे कोई सहारा नहीं दे रहे हैं। यह सब सोचकर शिष्य व्याकुल हो गया और उसने गुरु से कहा कि हे सद्गुरु ! मैं तो माता-पिता, भाई, पत्नी, बच्चे आदि के मोह तथा पांचों विषयों के भोग की आसक्ति में डूबा था। मैं संसार की मोह-नींद में ऐसा प्रगाढ़ सोया था कि मुझे कुछ होशहवास नहीं था। आपने मेरे ऊपर कृपा की और मुझे बताया कि तुम देह नहीं हो, शुद्ध चेतन हो, असंग हो, अकेला हो, तुम्हारा कोई नहीं है और तुम किसी के नहीं हो। भोग भोगना तुम्हारा जीवन-लाभ नहीं है, किन्तु इसमें तुम्हारा पतन है। तुम सारे विषयों की आसक्ति छोड़कर अपने स्वरूप को पहचानो। हे सद्गुरो ! यह आपका भव-नाशक बाण लगते ही मेरी मोह-नींद खुल गयी, और मैंने संसार से पीठ देकर आपके हाथ पकड़ लिये। मैंने सारे सहारे छोड़ दिये, केवल आपकी बांह पकड़ी, क्योंकि आपने 'मोटा की बाँह'[1] पकड़ने की आज्ञा दी है। हे सद्गुरो ! अब आप मुझसे अपने हाथ छुड़ाकर भाग रहे हैं। आप मुझसे निराश, उदास एवं असंग होकर अपने भजन में लीन रहते हैं। परन्तु मैं तो आपका सहारा छोड़कर, आपकी भक्ति-सेवा को छोड़कर कहीं का नहीं रह जाऊंगा। मैं नहीं जानता कि अपने स्वरूप में कैसे स्थित हुआ जाता है। मैं तो आपकी भक्ति करना जानता हूं, स्वरूपस्थिति नहीं। मैं तो आपके ध्यान में ही सदैव लीन रहना चाहता हूं। आपका सहारा, आपकी सेवा-भक्ति, आपका ध्यान, आपके प्रति प्रेम, यही सब मेरे शंबल हैं। इसके आगे मैं कुछ नहीं जानता। इसलिए हे सद्गुरु ! आप मेरे हाथ मरोड़िए मत। मेरे हाथों से अपने हाथ छुड़ाइए मत। मुझसे अपना

---

1. साखी 30।

पल्ला मत झाड़िए !

निश्चित है कि कुछ साधक उक्त भाव-दशा में ही जीवनभर बने रह जायें तो उनका बड़ा कल्याण है; क्योंकि कुछ साधक ऐसे होते हैं कि उनकी योग्यता उक्त भाव-दशा से आगे बढ़ने की तत्काल नहीं होती। परन्तु यह तो समझना ही होगा कि मंजिल इससे आगे है। जहां हमें पहुंचना है, जो हमारा गंतव्य है, उद्देश्य है, वह इस भक्ति-भावना से आगे है। हम रात में कहीं जा रहे हैं। जहां जा रहे हैं, लोगों से उसका पता पूछते हैं। किसी ने दिखाया कि देखो, वह आगे चार फर्लांग पर बत्ती जल रही है। वही वह जगह है जहां तुम जाना चाहते हो। हम उस बत्ती के प्रकाश को देखते हुए आगे बढ़ते हैं। जब प्रकाश के पास पहुंच जाते हैं तब प्रकाश को नहीं देखते, किन्तु प्रकाश में देखते हैं। अर्थात तब प्रकाश में उस जगह को, उस जगह में रहे हुए प्राणी-पदार्थों को देखते हैं और देखते हैं उन्हें जिनसे हम मिलने गये हैं। यदि प्रकाश के पास जाकर प्रकाश में न देखें किन्तु प्रकाश को ही देखते रहें और वहां बैठकर या खड़े रहकर बत्ती को ही निहारते रहें तो लोग हमें देखकर यही कहेंगे कि यह पागल आदमी है। कल्पना करो कि कोई व्यक्ति अपने मित्र से मिलने जाये और वहां पहुंचकर अपने मित्र पर नजर ही न ले जाये, वह केवल वहां की जलती हुई बत्ती को ही देखता रहे तो उसे लोग पागल न मानेंगे तो क्या मानेंगे ! जब वह प्रकाश से दूर था तब प्रकाश को देखकर उसकी तरफ बढ़ रहा था यह तो ठीक था; परन्तु जब प्रकाश के पास पहुंच गया, तब तो उसे प्रकाश को न देखकर प्रकाश में ही देखना चाहिए। यही प्रकाश के पास पहुंचने की सार्थकता है।

बोधदाता, प्रेरक तथा रक्षक सद्गुरु का सहारा, सेवा-भक्ति, ध्यान, प्रेम सब ठीक है। इसके बिना मुमुक्षु अपने गंतव्य पर पहुंच ही नहीं पायेगा। परन्तु अंततः स्वरूपध्यान ही गुरुध्यान है। यदि साधक गुरु के शरीर के ही ध्यान में जीवनभर लगा रहा तो वह अपने गंतव्य से अभी दूर ही पड़ा है। गुरु का शरीर भी तो भौतिक ही है। जीव को किसी अन्य गुरु, कबीर या ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होना है, किन्तु उसे अपने आप ही में लीन होना है। हमारी अविचल स्थिति हमारे अपने स्वरूप में ही हो सकती है। हम पहले गुरुज्ञान-प्रकाश को देखें। उसके बाद उस प्रकाश में अपने आप को देखें। गुरु ने बताया है "जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥"[1]

अतएव शिष्य की विरह-व्यथा देखकर गुरु ने उसे पुकारकर कह दिया

---

1. साखी 298।

कि हे प्रिय शिष्य ! तू क्यों कायर बन रहा है ! तू संसार के मोह को छोड़कर कहीं मेरे शरीर का ही मोही न बन जाये ! अरे, तू सारे मोह को छोड़ दे। तेरी स्थिति न किसी बाहरी गुरु में है, न कबीर में, न किसी ईश्वर-ब्रह्म में। तेरी स्थिति तो तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। अतएव इसी पिंड में, इसी शरीर में रहते हुए तू अपने स्वरूप में स्थित हो, नहीं तो तू भ्रम में चला जायेगा। यह मोह भी मत कर कि इस जीवन में भक्ति करेंगे और अगले जीवन एवं अगले जन्म में स्वरूपस्थिति करेंगे। अगले जीवन का भी मोह छोड़ दे। तू इसी शरीर में रहते हुए स्वरूपस्थिति कर !

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने उक्त साखी की दूसरी पंक्ति की टीका करते हुए लिखा है—"हे विचारवान जीव ! तू यथार्थ पारख करके देखो कि जाको तुम कबीर कहते हो और गुरु कहते हो, सो कहां है? हक नाहक मिथ्या धोखे में पड़ो मत, इस पिंड में पारख पर स्थित होओ। जासे तुमने सब परखा, सोई पारख और गुरुपद, ताके ऊपर और कुछ नहीं। यह जान के तुम हू पारख होहु कि भ्रम में चले जाओ मत। "हम तो कहीं आयं न जायं। सदा एकरस नहीं नशायं।" सो तू कहीं घबराय के पारख छोड़ के मत जाना।"[1] श्री पूरण साहेब ने और भी कहा है—

पारख में हम तुम हैं एका। देह भाव से भिन्न विवेका॥
पारख में समता होय जाई। शिष्य भाव न रहे गुरुवाई॥
देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥ निर्णयसार॥
जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

लोग वाक्जाल एवं अंधविश्वास में उलझ गये हैं

साखी पुरन्दर ढहि परे, बिबि अक्षर युग चार।
कबीर रसनारम्भन होत है, कोइ कै न सकै निरुवार॥ 117॥

शब्दार्थ—साखी=साक्षी, गवाह, प्रमाणित करने वाला। पुरन्दर=इंद्र, कर्मकांडी। ढहि परे=फिसलकर गिर पड़े। बिबि अक्षर=दो अक्षर—सो-हं, वो-हं, रा-म आदि। युग चार=चारों युग। रसनारम्भन=वाणी का रसास्वादन, वाक्यजाल का विस्तार। निरुवार=निर्णय।

भावार्थ—चारों युगों से अर्थात बहुत काल से दो अक्षरों के जप से मोक्ष मानने वाले उपासक तथा कर्मकांड से स्वर्ग मानने वाले और उसे प्रमाणित

---

1. त्रिज्या।

करने वाले इन्द्र अपनी वास्तविक स्थिति से फिसलकर नीचे गिर गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हर जगह प्रायः वाक्यजाल का विस्तार हो रहा है। कोई सत्यासत्य निर्णय कर बंधनों को नहीं छुड़ाता॥ 117॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तकें वेदों तथा ब्राह्मणों आदि को देखने से पता चलता है कि उस समय कर्मकांड का बड़ा जोर था। उन लोगों को यह विश्वास था कि आग में आहुति डालकर उसकी सुगंध से हम देवताओं को खुश कर सकते हैं। इसके बदले में आकाश में बैठे देवता प्रसन्न होकर वर्षा करेंगे और हमारी पृथ्वी धन-धान्य एवं पशुओं से सम्पन्न होगी; और मरने के बाद हमें स्वर्ग मिलेगा। वस्तुतः यह कर्मकांड पुरोहितों का पेटधन्धा था। इसलिए उन्होंने इसके पीछे यह सब अंधविश्वास लगा रखा था। आर्यों की गद्दी पर जो बैठता था, वह इन्द्र कहलाता था। इन्द्र का यह काम होता था कि जनता में अधिक-से-अधिक यज्ञ-हवन का प्रचार कराये, क्योंकि उसको यज्ञ से अधिक लाभ होता था। इसलिए इन्द्र यज्ञ का गवाह होता था। वह जनता में प्रमाणित करता था कि तुम्हें यज्ञ से इस लोक में धन, परिवार, पशु आदि मिलेंगे तथा परलोक में स्वर्ग मिलेगा। सद्गुरु कहते हैं कि इन्द्र यज्ञ के विषय में गवाह बनकर कर्मकांड में फिसल गया है। यहां पुरन्दर कहकर सभी कर्मकांडियों को इंगित किया गया है। कर्मकांडी लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मविवेक छोड़कर 'स्वाहा-स्वाहा' में लगे रहते हैं और अपने पूरे जीवन को मानो भूसी कूटने में ही बिता देते हैं। प्राणियों के अलावा न कोई देवता है जो हमारे हवन-कर्म से खुश होगा और कुछ दे सकेगा और न इस जीवन को छोड़कर कहीं स्वर्ग-नरक है। हवन करने से वर्षा होने की बात तो एकदम भोलापन है। पहले जमाने में ज्यादा पानी इसलिए नहीं बरसता था कि उस समय हवन होता था; किन्तु इसलिए बरसता था कि उस समय वन-वनस्पतियां ज्यादा थीं। फिर सूखे तथा अकाल पहले भी पड़ते थे। हवन करना तो धन को आग में डालकर उसे बरबाद करना है। इसके पीछे अंधविश्वास और पुरोहितों के पेटधंधे के अलावा कुछ नहीं है। वर्षा और वातावरण की शुद्धि के लिए तो अधिक-से-अधिक पेड़-पौधे लगाना ही विज्ञान तथा विवेकसम्मत है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं—"यह स्पष्ट है कि यज्ञ मध्यकालीन ब्राह्मणों की पेटपूजा का ढकोसला मात्र था। ऋषि दयानन्द इस ढकोसले को अस्वीकार करते हैं। वे यह कहते हैं कि यज्ञ करने से हवा शुद्ध रहती है। अतएव यज्ञ करना आवश्यक है। लेकिन विचारकर देखा जाये तो यह यज्ञ केवल वायु शुद्धि के लिए ही नहीं, अपितु यह अंधविश्वास एवं अंधपरम्परा का द्योतक भी है जो कि मध्ययुग के वैदिक पुरुषों में था। सत्यार्थ प्रकाश के

आरम्भ में इन तमाम देवताओं का अर्थ ईश्वर करने पर भी इन देवताओं से छुटकारा नहीं मिलता है।"[1]..."वायु की शुद्धि के लिए तो अग्निहोत्र होता ही नहीं है, वह तो विविध कारणों से होता है, क्योंकि आग जलाने से सदा वायु अशुद्ध होता है।"[2]

पुराकाल से ही यह भ्रम है कि अमुक नाम के जप से जीव के सारे बंधन कट जाते हैं। इसको लेकर "बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना"[3] वो-हं, सो-हं, रा-म आदि दो अक्षरों के नामों की कल्पना की गयी। इन-जैसों तथा अन्य नाम और मंत्रों का जप केवल मन को एकाग्र करने के लिए आरम्भिक साधना है न कि ये कोई पाप काटते हैं या तुरत-फुरत में मोक्ष देते हैं। जिसका जितना मूल्य हो उतना ही मानना ठीक है, अन्यथा मिथ्या महिमा में मनुष्य केवल भ्रम में पड़ता है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में ज्यादातर तो धर्म के नाम पर रसनारंभन होता है। आदमी वाक्यजाल के विस्तार में उलझ गया है। वाक्यजाल का इतना व्यामोह हो गया है कि आदमी सही निर्णय करने की हिम्मत नहीं रखता। "कबीर रसनारम्भन होत है, कोइ कै न सके निरुवार" यह बड़ा मार्मिक वचन है। धर्म के नाम पर लंबी-चौड़ी बातें हांकी जा रही हैं। पहली बात तो यह है कि अंधविश्वास के कारण उनकी वास्तविकता को समझने की चेष्टा ही नहीं की जाती। यदि कुछ समझने में भी आती है, तो उसे समाज में स्वीकारने, घोषित करने तथा उसके अनुसार जीवन बनाने का साहस नहीं होता। ऐसे मुरदा लोग अपने जीवन में यथार्थ ज्ञान की तरफ क्या प्रगति कर सकते हैं!

'साखी' का अर्थ साक्षी है। साक्षी चेतन है। यही सबको जानता है। यह सबसे अनासक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहे इसका यही साक्षित्व है। परन्तु यदि पहले अपने आप को समस्त जड़-दृश्यों का साक्षी मानकर भी, पीछे यह मान लिया जाये कि मैं ही यह सब जड़ दृश्य जगत हूं, मैं ही अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, तो यह साक्षी का साक्ष्य एवं जड़दृश्य में ढह पड़ना है, फिसल जाना है। पहले अपने आप को साक्षी मानकर पीछे सर्व जगत को अपना स्वरूप मान लेने से अपना जड़ में पतन हो जाता है। इस प्रकार साक्षी-ज्ञानी, पुरंदर-कर्मी तथा बिबिअक्षर-उपासक यथार्थ स्वरूपज्ञान के अभाव में अपनी वास्तविक स्थिति से फिसल जाते हैं। ये सब रसनारंभन

---

1. धर्म के नाम पर, पृ. 147-148।
2. वही, पृ. 149-150।
3. रमैनी 5।

करते हैं। ये कोई जड़-चेतन का, स्व-पर का ठीक से निर्णय नहीं करते। पारख के अभाव में सब भटक रहे हैं।

उक्त बातों से शंका उठ सकती है कि क्या कर्म-उपासनादि सब बिलकुल बेकार हैं। इसके समाधान में सद्गुरु ने अगली साखी कही है—

क्रमशः आगे बढ़ो

बेड़ा बाँधिन सर्प का, भवसागर के माँहिं।
जो छोड़े तो बूड़े, गहै तो डँसे बाँहिं॥ 118॥

शब्दार्थ—बेड़ा=बड़े-बड़े लट्ठों या तख्तों आदि से बनाया हुआ ढांचा, जिस पर बैठकर नदी आदि पार करते हैं।

भावार्थ—कई लोगों ने कई सांपों को एक में बांधकर उसका बेड़ा बनाया और उसी को पकड़कर समुद्र पार करने लगे। अब यदि उस बेड़े को छोड़ते हैं तो समुद्र में डूबते हैं और यदि उसे पकड़े रखते हैं तो वे बेड़े के सांप उनके हाथ काटते हैं और उन्हें विष से बेभान करते हैं। ये अबोधमिश्रित ज्ञान, कर्मकांड एवं देवी-देवादि की उपासनाएं सांपों के बेड़े हैं। मनुष्य इन्हीं द्वारा संसार-सागर से पार होना चाहता है। यदि बिना स्वरूपज्ञान के इन्हें छोड़ता है, तो भोगवादी होकर संसार-सागर में एकदम डूब जाता है और यदि जीवनपर्यंत इन्हीं में पड़ा रहता हौ, तो इनके विष से आक्रांत होता है। अतएव पारखी-विवेकी का सत्संग करते हुए स्वरूपज्ञान पाकर इन्हें छोड़ना चाहिए॥ 118॥

व्याख्या—कबीर साहेब कितने दूरदर्शी हैं यह उनकी सारी वाणियों से जाहिर है; परन्तु इस साखी से तो उनकी कोमलता का ज्वलंत रूप सामने आता है। वे यह नहीं चाहते कि धर्म के नाम पर साधारण जनता जो कुछ आम-घास कर रही है उसे वह तुरन्त छोड़ दे। हवन के नाम पर हजारों-हजारों की सम्पत्ति आग में फूंक देना तो मानवता के साथ अन्याय है; परन्तु हल्का-फुल्का हवन-तर्पण, जप-कीर्तन, रोजा-नमाज, प्रार्थना-पूजा आदि मनुष्य का सात्त्विक मनोरंजन करते हैं। इससे मनुष्य का चित्त कुछ-न-कुछ शुद्ध होता है। परन्तु यदि यह मान लिया गया कि इन्हीं सबसे जीव को परमपद मिल जायेगा, तो यह भ्रम है। यदि इन्हीं में मनुष्य को यह भ्रम हो जाये कि ये ही कल्याण कर देंगे, तो इनका विष मनुष्य को आक्रांत कर देगा। आदमी कर्मकांड, देवी-देवताओं की उपासना तथा मिथ्या ज्ञान का अहंकारी होकर सत्य-शोधन की तरफ ध्यान भी नहीं देता। ज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान, कर्मकांड के नाम पर उसका ईश्वरीय-आज्ञा होने का अहंकार तथा उपासना के नाम पर मिथ्या मान्यताओं का घमंड यह सब सांप का विष ही

है। इन सारी मान्यताओं के जाल को काटकर तथा इनसे आगे बढ़कर स्वरूप का शोधन होता है।

परन्तु यदि सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं जो सबकी परख कराकर स्वरूपबोध दे सकें, तो मनुष्य को पिनक में आकर अपने कर्म-उपासनादि मार्ग नहीं छोड़ देना चाहिए। उसे चाहिए कि वह जो कुछ समझा हो और उसे जिसमें विश्वास हो, करता चले। उसके साथ अपने चित्त को उदार रखते हुए सत्य को भी समझने का प्रयास करता चले। उसे जब पारखी गुरु मिलेंगे तब वह उनके सत्संग से जैसे-जैसे सारासार समझता जायेगा, वैसे-वैसे असार से हटकर सार को ग्रहण करता जायेगा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जस जस परखत फीका होई। व्यापै न काल कला पुनि सोई॥ पंचग्रन्थी॥

सत्पात्र बनो

हाथ कटोरा खोवा भरा, मग जोवत दिन जाय।
कबीर उतरा चित्त से, छाँछ दियो नहिं जाय॥ 119॥

शब्दार्थ—खोवा=खोया, मावा। मग जोवत=रास्ता देखते। छाँछ=मट्ठा।

भावार्थ—जिस प्रकार खोया (मावा) से भरा कटोरा लेकर प्रिय का मार्ग देखते-देखते किसी के दिन जायें कि प्रिय आये तो उसे प्रेमपूर्वक खिला दूं, परन्तु प्रिय के दुराचरण के कारण यदि वह प्रेमी के चित्त से उतर जाये तो प्रेमी को उसे मट्ठा देने की भी इच्छा नहीं होगी; उसी प्रकार अन्तःकरणरूपी हाथ के प्रेमरूपी पात्र में बोधरूपी खोया भरकर जिज्ञासुओं का मार्ग देखते ही सद्गुरु के दिन जाते हैं; परन्तु व्यक्ति जब अपने दुराचरण के कारण गुरु के चित्त से उतर जाता है, तब बोधरूपी खोया कौन कहे, उसे मट्ठारूपी व्यावहारिक सीख देने का भी मन नहीं होता॥ 119॥

व्याख्या—यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह प्रेमवश जिसे अपना सर्वस्व देना चाहता है वही व्यक्ति जब चित्त से उतर जाता है तब उसे फूटी आंखों से भी देखना नहीं चाहता। परन्तु यह उदाहरण उस पर नहीं लगता जो निष्काम है, राग-द्वेष से रहित है। सद्गुरु, संत और सज्जन सद्शिक्षा देकर सबका कल्याण करना चाहते हैं।

इस साखी की पहली पंक्ति में गुरु की उदारता का वर्णन है। वर्णन सब बड़े रोचक ढंग से है। गुरु सच्चे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं का रास्ता देखते हैं कि कोई सत्पात्र आवे तो उसे मैं सत्बोध देकर उसके उद्धार में सहयोगी बनूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि गुरु शिष्य के लिए बेताब होता है। सच्चा गुरु वही है जो संसार से निष्काम है। परन्तु वह निष्काम होकर भी संसार का हित

करना चाहता है और सत्पात्र को सत्प्रेरणा देने के लिए उत्सुक रहता है। परंतु कोई जानबूझकर यदि सन्मार्ग से विचलित होकर विपथ में जा रहा है, तो उसके सुधारने का गुरु का क्या चारा है ! चित्त से उतरे हुए को छांछ भी देने का मन नहीं कहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी का दुर्व्यवहार देखकर गुरु उससे द्वेष कर लेता है। जो द्वेष करता है वह गुरु हो ही नहीं सकता। गुरु तो वह है जो राग और द्वेष दोनों से मुक्त है। परन्तु उसे भी अपात्र तथा अयोग्य से उदास होना ही पड़ता है। अतएव जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्पात्र बनने का प्रयत्न करे। सत्पात्र के लिए कुछ दुर्लभ नहीं है।

जगत-सत्ता और आत्म-सत्ता का बोध

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि॥ 120॥

शब्दार्थ—गारि=गाली, अनुचित बात।

भावार्थ—यदि मैं कहूं कि तत्त्व एक है तो वैसा है ही नहीं, परन्तु यदि कहूं कि जीव का आश्रय-स्थल कोई दूसरा है तो यह भी अनुचित बात है। इसलिए कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि जैसी वास्तविकता है वैसी दशा में ही स्थित होना चाहिए॥ 120॥

व्याख्या—कुछ लोगों का ख्याल है कि समस्त सत्ता केवल एक ही तत्त्व है। ऐसे लोग कहते हैं कि सत्ता एक ही है जो सर्वगत, सर्वव्याप्त और अखण्ड है। उसमें सजाति, विजाति और स्वगत का कोई भेद नहीं है। वह एक सत्ता केवल चेतन है। परन्तु यह सिद्धांत केवल धारणा है, तथ्य नहीं। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। न जड़ चेतन हो सकता है और न चेतन जड़ हो सकता है। फिर जड़ में भी अनेक तत्त्व हैं जो एक दूसरे में नहीं बदल सकते। मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चारों जड़ तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हैं। वैज्ञानिकों ने शताधिक तत्त्वों का निर्धारण किया है। आक्सीजन हाइड्रोजन में नहीं बदल सकता। ऐसे अनेक मौलिक तत्त्व दूसरे में नहीं बदल सकते। इधर एक जीव दूसरे जीव से अलग है, इसलिए एक जीव के सुख-दुख एवं बंध-मोक्ष दूसरे के नहीं हो सकते। इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता एवं जीव-जीव की भिन्नता इतना ज्वलंत है कि इन सबको एक ही तत्त्व मान लेने की बात संभव ही नहीं है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं—"एक कहौं तो है नहीं"। यदि यह कहा जाये कि एक ही तत्त्व है तो ऐसी वास्तविकता ही नहीं है।

व्यापक शब्द महिमापरक है। संसार में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो एक, अखंड एवं व्याप्त हो। यदि एक अखंड व्याप्त सत्ता हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसके अलावा एक अखंड, व्याप्त सत्ता होने से

गति एवं सृष्टि असंभव है। अतः निरन्तर परिवर्तनशील संसार में एक अखंड व्याप्त सत्ता कहना हद दर्जे का व्यामोह है। इसलिए अनेक जड़तत्त्वों की सत्ता अलग-अलग है और अनेक जीवों की सत्ता अलग-अलग है। यह ठीक है कि सबका सत्तापन एक है, अर्थात सबकी सत्ता है। किन्तु वे सब एक दूसरे से अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए केवल एक ही तत्त्व है यह नहीं कहा जा सकता। यह आनुभविक जगत का वर्णन हुआ। जगत का व्यवहार ही द्वैत में चल रहा है। सबको एक कैसे कहा जा सकता है!

अब परमार्थ क्षेत्र में आइए। परमार्थ—परम+अर्थ=श्रेष्ठ प्रयोजन—स्वरूपस्थिति में आइए, इसमें "दोय कहौं तो गारि" होगी ही। जब सारे संकल्प छूट जाते हैं, तब समाधि होती है। यही स्वरूपस्थिति है। इसमें दो की गुंजाइश ही नहीं है। जब तक दो है तब तक समाधि नहीं, स्वरूपस्थिति नहीं। संकल्पों एवं स्मरणों के कारण ही संसार जीव के सामने होता है। यदि स्मरण एवं संकल्प ही समाप्त हो गये तो जीव के सामने संसार आ ही नहीं सकता। वहां न जड़तत्त्वों का सम्बन्ध संभव है और न दूसरे जीवों का। यदि मेरे संकल्प समाप्त हुए तो मेरे लिए द्वैत समाप्त हुआ। फिर रह गया शेष शुद्ध स्वरूपस्थ चेतन। फिर वहां दो कहना जीव को गाली देना है। उसकी तौहीनी करना है। जीव का आश्रय-स्थल दूसरा नहीं है। वह अपने शुद्ध स्वरूप से अलग किसी ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होता है। कोई भी मौलिक तत्त्व किसी दूसरे के स्वरूप में स्थायी आश्रय नहीं पा सकता। यदि कोई कहता है कि जीव का आश्रय उससे अलग कोई ईश्वर या ब्रह्म है तो वह मानो जीव को गाली देता है। और ऐसी गाली नाना मत वालों ने दी है। उन्होंने कहा है कि जीव अंश है, प्रतिबिम्ब है, आभास एवं परिच्छिन्न है, जीव तो तुच्छ है, श्रेष्ठ ब्रह्म है, जो उससे अलग है। यह सब जीव को गाली देने वाली बात है। कबीर देव कहते हैं कि यदि जीव तुच्छ है तो श्रेष्ठ कौन है! जीव को हटा देने पर शिवत्व कहां फलित होगा? जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना केवल कल्पना ही है, केवल अवधारणा ही है। जीव स्वयं प्रत्यक्ष है। वह खुद अपना आश्रय है। वह स्वतः अपना निधान है। जीव की स्व-रूप में ही स्थिति होती है, पर-रूप में नहीं। इसलिए स्वरूपस्थिति में कोई द्वैत नहीं होता। स्वरूपस्थिति में चेतन अकेला रहता है। यदि तथ्यपूर्ण अद्वैत है तो यही है।

जो महापुरुष जड़-चेतन को मिलाकर अद्वैत की कल्पना करते हैं, वे केवल कल्पना करते हैं। वैसी सत्ता तो ही है नहीं। उन्हें जगत का डर लगा रहता है कि जगत यदि ब्रह्म से अलग सिद्ध हो जायेगा तो ब्रह्म का घाटा हो

जायेगा। परन्तु जगत तो है ही। पृथ्वी, चांद, सूरज तथा असंख्य तारों से भरे इस जड़-जगत को कोई अद्वैत की फूंक से कहां उड़ा सकता है ! अद्वैत सिद्ध करने का मतलब है द्वैत की सिद्धि। भोले लोगों ने अद्वैत सिद्धि में ही पुस्तकें नहीं बनायी हैं, किन्तु 'अद्वैत-सिद्धि' नाम की भी पुस्तक लिखी है। अद्वैत में विश्वास हो जाने पर वह किसके सामने अद्वैत सिद्ध करेगा? अद्वैत में विश्वास हो जाने पर कम-से-कम वह मौन तो हो ही जायेगा। इसलिए सद्गुरु ने कहा है अद्वैत तो हो ही नहीं सकता। समस्त सत्ता अद्वैत नहीं है। सत्ता के नाना भेद हैं। अद्वैत है स्वरूपस्थिति में। स्वरूपस्थिति में दो नहीं हो सकते। स्वरूपस्थिति असंग-दशा है।

अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि मैं विश्व-सत्ता और स्वरूपस्थिति—दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचारकर कहता हूं कि जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। अद्वैत तथा जगत को मिथ्या कहने से न सब सत्ता एक में मिलकर अद्वैत हो जायेगा और न जगत मिथ्या हो जायेगा और स्वरूपस्थिति में न दूसरे की सत्ता होना संभव हो जायेगा। पुराकाल से अनेक अद्वैतवादी इस विविधतापूर्ण विश्वसत्ता को अद्वैत कहते-कहते चले गये, परन्तु यह सब समय जैसा है वैसा ही विद्यमान है और आगे भी यह ऐसा ही रहेगा। इसके विपरीत जब जिस साधक ने स्वरूपस्थिति की है तब वह असंग हो गया है। कभी किसी जीव की स्वरूपस्थिति में किसी दूसरे की गुंजाइश नहीं हो सकी है और न आगे हो सकेगी। जो जीव स्वरूपस्थ होगा, वह केवल होगा, असंग होगा, निराधार होगा, अद्वैत होगा, अकेला होगा। वहां दो कहना ही गलत बात है। अतएव "है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि" परमसत्य है।

अमृत की पुड़िया

अम्मृत केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्हा छोरि।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पियावहु घोरि॥ 121॥

शब्दार्थ—अम्मृत=अमृत, न मरा हुआ, न मरने वाला, अमर जीव। अम्मृत केरी पूरिया=स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के उपदेश।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे विवेकियो ! मैंने अविनाशी जीव के स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की रहनी के उपदेश की गठरी खोलकर रख दी है। अब तुम्हारे सरीखा सत्पात्र कोई मिले तो तुम भी उसको उसे घोलकर पिला देना॥ 121॥

व्याख्या—'अ' उपसर्ग है जिसका अर्थ निषेधात्मक है और 'मृत' मरे हुए को कहते हैं। अतएव जब 'मृत' में 'अ' मिलाकर अ-मृत शब्द बनता है तब उसका अर्थ होता है जो न मरा हो अमर, चेतन। वह जीव ही है। जीव

ही अमृत है। जीव के स्वरूप के परिचय का विवरण तथा जीव की स्वरूपस्थिति के साधन-स्वरूप रहनी का विवरण अमृत की पुड़िया है। पूरिया छोटी गठरी को कहते हैं। यहां छोटी से मतलब नहीं है। यहां अर्थ है गठरी। मानो कोई शकर की गठरी खोलकर उसमें से शकर निकाल तथा शर्बत बनाकर किसी प्यासे आदमी को पिला दे और उससे कहे कि देखो, जो प्यासा मिले उसे इसमें से शकर निकालकर तथा उसका शर्बत घोलकर उसे पिला देना। इसी प्रकार सद्गुरु ने सत्पात्रों को स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की सीख दी है और उन्हें उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें कोई तुम्हारे सरीखा सत्पात्र मिले तो तुम भी उसे स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के उपदेश देने का प्रयास करो।

अमृत बड़ा प्यारा शब्द है। अमृत शब्द सुनते ही मन में मीठी वस्तु का आकार खिंच जाता है। जब कोई बहुत मीठा फल खाता है, तब वह उसकी प्रशंसा में कहता है कि यह तो ऐसा मीठा है जैसे अमृत। स्वादिष्ट भोजन खाकर लोग कहते हैं कि भाई, भोजन क्या था अमृत था। किसी के मधुर स्वभाव की लोग प्रशंसा कर कहते हैं कि उसका स्वभाव तो अमृत है। मीठे वचन को भी लोग अमृत कहते हैं। 'उनकी बात तो अमृत के समान होती है।' वस्तुतः भौतिक क्षेत्र में अन्न और मीठे वचन अमृत हैं। अन्न से अर्थ आहार है। आहार ग्रहण करने से ही मनुष्य जीवित रह सकता है, इसलिए आहार अमृत है और मीठे वचन सुनकर मनुष्य का मन संतुष्ट होता है, इसलिए वह भी अमृत है। परन्तु यह ध्यान रहे कि हर जगह मीठी वस्तु ही अमृत नहीं है। रोग में मीठा विष का काम करता है और कड़वी दवाई अमृत बन जाती है। इसी प्रकार झूठी मीठी बातें अन्ततः मनुष्य का अहित करती हैं; परन्तु सत्य कड़वे वचन कल्याणकारी होते हैं। यह आवश्यक है कि सत्य को जितना मीठा बनाया जा सके, अच्छा है।

संसार में विष होता है जिसको खाकर प्राणी मर सकता है, परन्तु अमृत कहीं नहीं होता जिसे खाकर मृत व्यक्ति जी जाये, या कोई जीवित प्राणी उसे खाकर सदा के लिए देहसहित अमर हो जाये। वस्तुतः जीव का अपना मौलिक चेतनस्वरूप ही अमृत है, जो अजर-अमर है। निजस्वरूप में स्थित होने के लिए दया, शील, सत्य, धैर्य, क्षमा, विचार, विवेक, वैराग्य, सत्पुरुषों के प्रति भक्ति, शम, दम, संयम आदि रहनी की आवश्यकता है। यह दिव्य रहनी अमृत है। इस दिव्य रहनी का सार है इच्छात्याग। सिद्धांत में जीव अमृत है तथा व्यवहार में इच्छात्याग अमृत है। दसवीं रमैनी की साखी में सद्गुरु ने इस बात पर प्रकाश डाला है "अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय॥" कामना का

त्याग और जीव की अमरता यही अमृत है। जीव स्वभावतः अमर है। उसकी अमरता के लिए कुछ करना नहीं है। करना है कामना का त्याग। कामना का त्याग कर देने के बाद व्यक्ति का व्यक्तित्व अमृत हो जाता है। गुरु-संतों के सारे उपदेश मानो इसी एक ही बात के लिए हैं कि कामनाओं का त्याग करो। स्वरूपस्थिति की रहनी इसी एक ही बात में समायी है कि मनुष्य इच्छाओं से मुक्त हो। जिसने संसार के भोगों की इच्छाएं छोड़ दी हैं उसे क्या बंधन है! विशाल देव ने कहा है—"जो इच्छा छोड़े फिरे, तेहिको को गहि लीन" जो इच्छाओं को त्यागकर विचरण करता एवं संसार में रहता है, उसको बंधनों में बांधने की क्षमता किसे है! हमारी इच्छाएं ही हमें बांधती हैं। धन की इच्छा दरिद्रता का बोध कराती है, सम्मान की इच्छा अपमान का बोध कराती है, सुख की इच्छा दुख का बोध कराती है। तात्पर्य यह है कि हमारे मन की इच्छाएं ही हमारे मन में अभाव, असन्तोष एवं कमी का अनुभव कराती हैं। जब हमारे मन से सारी इच्छाएं निकल जाती हैं, तब अपने अमृतस्वरूप का हमें अनुभव होता है। अतएव इच्छा ही विष है और इच्छात्याग ही अमृत है। सारे आध्यात्मिक उपदेशों का यही निष्कर्ष है कि इच्छाओं का त्याग करो। जो इच्छाओं का त्यागी होता है, वह सबको प्यारा होता है। इच्छाओं का त्याग करने वाला किसी से विवाद कर ही नहीं सकता। जब कुछ चाहिए ही नहीं, तो किसी से झगड़ा कैसा! इच्छाओं का त्याग कर देने से भीतर का झगड़ा समाप्त हो जाता है और बाहर का भी झगड़ा समाप्त हो जाता है। इच्छात्यागी का मन शान्त होता है। उसे बाहर किसी आदमी से वैर-विरोध नहीं रहता। सद्गुरु ने हमारे लिए अमृत की पुड़िया खोल दी है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ साखी 298॥

अमृत केरी मोटरी, शिर से धरी उतार॥
जाहि कहौं मैं एक है, सो मोहिं कहै दुइ चार॥ 122॥

शब्दार्थ—अमृत केरी मोटरी=स्वरूपज्ञान और इच्छात्याग की रहनी।

भावार्थ—लोगों ने अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। अर्थात लोगों ने स्वरूपविचार और इच्छात्याग की रहनी को तिलांजलि दे दी है। मैं जिससे कहता हूं कि एक जीव ही सत है, अतः सारी इच्छाएं त्यागकर निजस्वरूप में स्थित होओ, वह मुझे दो-चार टेढ़ी-सीधी बातें सुनाने लगता है, अथवा वह जीव के ऊपर दो-चार देवी-देवताओं की बातें करने लगता है॥ 122॥

व्याख्या—संसार में अध्यात्म और धर्म के नाम पर जो नाना मत-

मतांतरों के मनुष्यों की भीड़ है, उसने मानो अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। धार्मिक भीड़ के मनुष्य न तो निजस्वरूप का विचार करते हैं और न इच्छाओं के त्याग पर ध्यान देते हैं। वे तो किसी कल्पित भगवान-भवानी तथा देवी-देवताओं को पूजा-प्रार्थना के द्वारा खुश करके उनसे सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहते हैं। परन्तु यह सब मन के भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। जीव के अलावा न कोई भगवान है और न कोई देवी-देवता। भगवान, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, देवी, देवतादि सब जीव के ही विशेषण हैं। जीव यदि अपने अस्तित्व से अलग इन सबकी कल्पना करता है, तो वह केवल अपने आप को भटकाव के रास्ते में ले जाता है। अतएव यह जीव ही भगवान है, ईश्वर है, ब्रह्म है, परमात्मा है, देवी-देवता है, अर्थात यही सर्वोच्च सत्ता है। जब तक बाहरी सारी कल्पनाओं का त्याग नहीं किया जायेगा, तब तक कोई निजस्वरूप का ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता।

लोग देवी-देवताओं की भ्रांतियों में इतने डूबे हैं कि उनसे स्वरूपज्ञान की बातें कहो तो वे नाखुश होकर बड़बड़ाने लगते हैं। वे जीव को तुच्छ कहते हैं। निजस्वरूप क्या है उन्हें इसका सपने में भी भास नहीं है। जब उनसे कहा जाता है कि तुम अपने आप को पहचानो, तो वे कहते हैं कि हम तो कुछ नहीं हैं। उन भोलों को यह सूझ नहीं है कि यदि वे कुछ नहीं हैं तो उनके लिए देवी-देवता तथा ईश्वर-ब्रह्म किस काम के ! पहले वे कुछ हैं तब उनके लिए किसी अन्य की आवश्यकता है। यदि वे ही कुछ नहीं हैं, तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहां !" लोग बैसाखी के सहारे चलने के आदी हैं, इसलिए स्वतंत्र होकर चलने में डरते हैं। किन्तु सारी कल्पनाओं एवं इच्छाओं को छोड़े बिना कोई निजस्वरूप की न ठीक से पहचान कर सकता है और न निजस्वरूप की स्थिति पा सकता है।

ऋषि-मुनि तथा वेदों के सारतत्त्व का समर्थन

जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।
सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय॥ 123॥

शब्दार्थ—जाके=जिसके लिए, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष के लिए। सिखापना=शिक्षा। पतियाय=विश्वास।

भावार्थ—जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ मुनिजनों ने तप किया है, तथा जिसके अनंत गुण गाने में वेद असमर्थ हो जाते हैं, मैं उसी की शिक्षा देता हूं, परन्तु कोई विश्वास नहीं करता॥ 123॥

व्याख्या—यह ठीक है कि कबीर साहेब ऋषि-मुनियों एवं वेद-शास्त्रों

की अन्धपरम्परा एवं उनकी अहितकारी मिथ्या महिमाओं की कटु आलोचना करते हैं जिसे हम इस बीजक में जगह-जगह देख सकते हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि वे अपने आप को उनका अनुगामी मानते हैं। इस बात को भी हम बीजक में सर्वत्र देख सकते हैं। इस साखी में उसका ज्वलंत रूप है। प्रश्न हो सकता है कि अनुगामी तो आलोचना कैसी और आलोचना तो अनुगामी कैसा? मनुष्यों में या कहना चाहिए धार्मिक कहलाने वाले लोगों में यही जड़ता है कि वे जिसके अनुगामी बन जाते हैं उसकी सड़ी-गली बातों को भी स्वीकारते रहते हैं। यदि उनका हृदय उन बातों को न स्वीकारे तो भी वे ऊपर-ऊपर उनका समर्थन करते रहते हैं, और वे जिनके अनुगामी नहीं हैं, उनकी अच्छी-से-अच्छी बातों पर भी ध्यान नहीं देते; या जिनकी कुछ बातें खटकने वाली हो गयीं, तो उनकी अच्छी बातों को भी वे नकारते हैं।

कबीर साहेब उक्त धारणा से बिलकुल अलग पुरुष हैं। वे ऋषि-मुनियों तथा वेद-शास्त्रों को आदर देते हैं। अपने आप को उनका अनुगामी बताते हैं, परन्तु उनके विषय में लगाये गये अन्धविश्वासों को वे निर्भय होकर अस्वीकार देते हैं। दूसरे लोग भी अपनी पुरानी परम्परा की अत्यन्त युग-बाह्य एवं हानिकारी बातें कुछ-न-कुछ छोड़ देते हैं। प्रत्यक्ष है वैदिक युग में प्रचलित अश्वमेध, गोमेध, यहां तक ऐतरेय ब्राह्मण[1] में वर्णित नरमेध यज्ञ आज कोई वैदिक कहलाने वाला नहीं करता। अतिथि के रूप में राजा, ऋषि एवं किसी बड़े ब्राह्मण के घर में पधारने पर उनके मधुपर्क[2] (जलपान) के लिए बड़ा बैल, बछड़ा एवं बकरा काटने की बात आज सोची भी नहीं जा सकती। पुराने समय में कमजोर वर्ग के मनुष्यों को गुलाम बनाकर उन्हें बेचा-खरीदा जाता था। आज यह काम नहीं किया जाता। अतएव हर परम्परा के लोग अपनी पूर्वपरम्परा की बहुत बेकार बातें छोड़ते हैं। कबीर साहेब की स्थिति सभी परम्परा वालों से बिलकुल अलग है। वे किसी परम्परा के जड़ एवं रूढ़

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण (अध्याय 33, खंड 3)।
2. तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वार्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः। (ऐतरेय ब्राह्मण 3/4), वसिष्ठ धर्मसूत्र 4/8; पाणिनि अष्टाध्यायी 3/4/73 में भी देखें। सिद्धांतकौमुदी में कहा गया "गोहन्ति अस्मैगोघ्नोऽतिथिः— अर्थात जिसके सत्कार में गाय मारी जाये वह अतिथि है। देखें वेद प्रवचन, पृ. 359, लेखक पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय। कहा गया राजा या ब्राह्मण के अतिथि रूप में आने पर एक बैल या बकरा पकाया गया (शतपथ ब्राह्मण 3/4/1/2; याज्ञवल्क्य 1/109)। कहा गया कि यहां यद्यपि श्रोत्रिय (विद्वान ब्राह्मण) यदि अतिथि रूप में घर पर आया हो, तो उसकी तृप्ति के लिए गाय मारना चाहिए, किन्तु यह धर्म कलियुग में नहीं चलता, किन्तु अन्य युग में चलता है। यथा— अत्र यद्यपि गृहागतश्रोत्रियतृप्तर्थं गोवधः कर्तव्य इति श्रूतते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे। (आह्निक प्रकाश, पृ. 451), धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 408।

अनुगामी नहीं हैं; परंतु वे इतने विनम्र हैं कि किसी की भी अच्छाइओं को बेहिचक स्वीकारते हैं। वे किसी भी परम्परा को अपना मानकर उसका थोड़ा भी कूड़ाकचड़ा नहीं स्वीकारते, परंतु सत्य बालक भी कहे तो वे उसे गुरुवचन मानकर सिर से स्वीकार लेते हैं।

अब हम साखी के मूल विचार पर आवें। सद्गुरु कहते हैं कि जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्रशंसा वेद-शास्त्र करते हैं और उसे पाने के लिए ऋषि-मुनिजन तपस्या करते हैं, मैं उसी का उपदेश कर रहा हूं। प्राचीनकाल में जब ऋषिगण हवन-तर्पण एवं यज्ञ-याग का परित्याग कर अध्यात्म की तरफ लगे थे तब उन्होंने देवी-देवताओं की कल्पनाएं छोड़ दी थीं। उनमें से ज्यादा ऋषियों का विचार ईश्वरपरक नहीं, किंतु आत्मपरक था। वेद के आध्यात्मिक ऋषि कहते हैं—"फैले हुए ऋत के तंतुओं को भेद डालने वाला व्यक्ति उसको देख लेता है, वही हो जाता है, वह वही है ही।"[1] तथा "जो वाणी मन, आंख, कान, प्राणादि से नहीं जाना जाता है, किन्तु जो वाणी, मन, आंख, कान, प्राणादि से जानता है वही ब्रह्म है।[2] मैं ब्रह्म हूं,[3] वह तू ही है,[4] यह आत्मा ब्रह्म है,[5] ज्ञान ही ब्रह्म है।[6] भारतीय दर्शनों के पितामह परम ऋषि कपिल के अनुगामी ईश्वरकृष्ण कपिल के विचार कहते हैं—"इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से जब ज्ञानी को निश्चय हो जाता है कि मेरे में क्रिया नहीं, मेरे में शरीरादि नहीं तथा मैं कर्ता नहीं, तब कुछ बन्धन शेष नहीं रहता। अतः तब भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है।"[7] कठ उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन सहित बुद्धि की हलचल शांत हो जाती है तब इसे ही परम गति कहते हैं।"[8]

वेदों के अन्तभाग उपनिषदें ज्यादातर आत्मपरक विचार व्यक्त करती हैं। वैदिक छहों शास्त्रों में मीमांसा को छोड़कर अन्य पांच शास्त्र अधिकतम आत्मपरक विचार ही रखते हैं। मीमांसा कर्मकांड में व्यस्त अवश्य है, परन्तु वह जहां आध्यात्मिक चर्चा करती है वहां आत्मपरक ही करती है, ईश्वरपरक

---

1. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। (यजुर्वेद, अ. 32, मंत्र 12)
2. केन उपनिषद् 1/4-8।
3. अहंब्रह्मास्मि—यजुर्वेद, वृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10।
4. तत्त्वमसि—सामवेद, छांदोग्य उपनिषद् 6/8/7।
5. अयमात्मा ब्रह्म—अथर्ववेद, मांडूक्य उपनिषद् 2।
6. प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद, ऐतरेय उपनिषद् 3/1/3।
7. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका 64॥
8. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ कठोपनिषद् 2/3/10॥

नहीं। जैन-विचार आत्मपरक है ही, बौद्ध-विचार भी अपने ढंग से आत्मपरक ही है—'अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति।'

यह सच है कि उपनिषदों तथा वैदिक धर्मशास्त्रों में आत्मा के विषय में जगह-जगह साफ बात कहने के साथ-साथ अनेक जगह उनके विचारों में गड्ड-मड्ड कर दिया गया है। अनेक जगह आत्मा को व्यापक, अंश, जड़ से अभिन्न आदि कहकर स्वरूपविचार एवं आत्मविवेक को उलझा दिया गया है। जैन-विचार भी आत्मा को संकोच-विकासवान मानकर तथा बौद्धविचार क्षणिक मानकर आत्मविचार में परिनिष्ठित मत नहीं रखते। इसलिए सद्गुरु कबीर के परखदृष्टिपरक विचार मनन करना अत्यन्त आवश्यक है।

"जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।" यहां मुनि से वैदिक मुनि, जैन मुनि, बौद्ध मुनि एवं महात्मा सब आ जाते हैं। और इतना ही क्या ऋषि, मुनि, पीर, औलिया सबकी आलोचना करने वाले तथा इन सबको आदर देने वाले निराले संत कबीर विश्व के सभी महापुरुषों के सार-विचार को स्वीकारते हैं। परन्तु वे सब पर अपनी परख कसौटी लगाकर "सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय" का सिद्धांत रखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सभी महापुरुषों तथा वेद-शास्त्रों का यही सार विचार है कि विषय-वासनाओं एवं सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप एवं स्व-आत्मतत्त्व में स्थित होओ। यही शिक्षा मैं भी दे रहा हूं, परन्तु लोग विश्वास नहीं करते। विश्वास न करने का कारण है कबीर का परंपरा के प्रति विद्रोही स्वर। लोग जब अपनी परंपरा के प्रति कबीर के विरोधी स्वर सुनते हैं, तब उन्हें यह भ्रम हो जाता है कि कबीर तो हमारे विरोधी हैं। परंतु वस्तुतथ्य यह नहीं है। कबीर हर परंपरा में पल रहे कूड़ेकचड़े के विरोधी हैं, परन्तु उनके सत्य के समर्थक हैं।

"कोई नहीं पतियाय" कथन भी सापेक्ष है। कबीर साहेब के काल में ही उनके पैंतीस-चालीस वर्ष की उम्र में उनके साथ में हजारों लोग हो गये थे। उनकी परिपक्व तथा वृद्धावस्था तक तो वे पूरे भारत में तथा आस-पास के देशों तक में गूंज गये थे और उनके पीछे लाखों अनुगामी एवं समर्थक हो गये थे। फिर तो दिन बीतते गये और कबीर-विचारों की प्रखर चमक बढ़ती गयी। मनुष्य जितना-जितना उदार होता गया कबीर के निकट होता गया। आज संसार के हर संप्रदाय के बहुसंख्यक तथा आमजनता, विद्वान एवं चिंतक कबीर-विचार के समर्थक होते जा रहे हैं। आज ईसा की बीसवीं शताब्दी के आखिर में तो उन पर देश-विदेश में सर्वाधिक लिखा और सोचा जा रहा है। जैसा कि काशी के एक विद्वान ने सन् 1969 ई. में कहा था कि आज तो कबीर-युग है। जो कबीर चाहते थे, जीवनभर कहे तथा किये थे,

उन सबका समर्थन आज प्रबुद्ध-समाज तथा आम-समाज भी कर रहा है और यह उन विद्वान का ही मत नहीं था, सर्वाधिक लोगों का मत है। इतना ही नहीं, आज सरकारें भी वही मानव-समानता के कानून बना रही हैं जिन्हें कबीर साहेब चाहते थे।

मानव शरीर एवं जीव की विशेषता

एक ते अनन्त भौ, अनन्त एक ह्वै आय।
परिचय भई जब एकते, तब अनन्तो एकै माहि समाय॥ 124॥

शब्दार्थ—एक ते=मनुष्य शरीर से। अनंत=असंख्य कर्म एवं योनियां। परिचय=परख। समाय=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—एक मनुष्य शरीर ही कर्मभूमि है। इसी में जीव असंख्य कर्म करता है जिनके फलस्वरूप वह असंख्य योनियों में भटकता है। परन्तु असंख्य योनियों में से भटककर जीव पुनः मनुष्य शरीर में आता है "भूलि भटक नर फिर घट आया।"[1] जब उसे इस एक मनुष्य शरीर में स्वरूप की परख हो जाती है तब असंख्य कर्मसंस्कार तथा नाना योनियों के अध्यास यहां नष्ट हो जाते हैं और जीव मुक्त हो जाता है। अथवा एक जीव से ही सारे ज्ञान-विज्ञान पैदा होते हैं। अतः जब निज स्वरूप से परिचय हो जाता है तब सारे ज्ञान-विज्ञान अपने में समाये हुए लगते हैं॥ 124॥

व्याख्या—मनुष्य शरीर कर्मभूमिका है, अतएव कर्म यहीं बनते हैं। इसी एक मानव शरीर में रहकर जीव इतने कर्म कर लेता है कि वह असंख्य खानियों में असंख्य सुख-दुख भोगता रहता है। मनुष्य-शरीर कर्म-भूमि तथा फलभोग-भूमि दोनों हैं, किन्तु मानवेतर खानियां केवल भोग-भूमि हैं, वे कर्म-भूमि नहीं हैं। कर्मों का बन्धन बनता मानव-शरीर में है तथा कटता भी मानव-शरीर में ही है। चारों खानियों के बन्धन केवल विषयासक्ति है। विषय केवल पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इनकी आसक्ति मिट जाने पर सभी बन्धन कट जाते हैं। अतएव यदि जीव ने मानव-शरीर में रहकर पांचों विषयों की आसक्ति मिटा दी है तो उसके लिए किसी खानि का कोई बन्धन नहीं बचता है। श्री विशाल साहेब ने मुक्तिद्वार के निवृत्ति साहस शतक में इसको विवरणपूर्वक बताया है।[2]

---

1. रमैनी 25।
2. मनुष्य देह से जो प्रकट, वहँ ही से सो छूट।
   करि पुरुषारथ ध्वंस करि, राग मनोमय लूट॥ 95॥
   मनुष्य देह सद्बोध जो, पाय आपनो धाम।
   क्षय मानन्दी जीव करि, संचित बचै न काम॥ 96॥
   शुद्ध स्वरूप चैतन्य है, आप आप निश्चेष्ट।

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि एक जीव से ही अनन्त कर्म, कल्पनाएं, वासनाएं एवं ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है। अनंत तो दोनों अर्थों में ही उपलक्षण मात्र है; क्योंकि अनंत किसी से पैदा नहीं होता, अनंत की तो केवल सत्ता होती है और जो किसी से पैदा होता है, वह अनंत हो ही नहीं सकता। वह असंख्य हो सकता है। जैसे हम यह कह सकते हैं कि शरीर में बाल असंख्य हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि वे अनंत हैं। इसी प्रकार पैदा होने वाला पदार्थ अनंत नहीं हो सकता। अतएव यहां साखी में प्रयुक्त अनन्त शब्द असंख्य का उपलक्षण मात्र है। तो बात चल रही थी कि एक जीव से ही असंख्य कल्पनाएं तथा ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है, परंतु समस्त ज्ञान-विज्ञान का पर्यवसान एक जीव ही में होता है। जीव को छोड़कर ज्ञान-विज्ञान का कोई निधान ही नहीं है। अतएव जब एक अपने जीव से, निजस्वरूप से एवं अपने आपा से परिचय हो जाता है, तब असंख्य ज्ञान-विज्ञान एक जीव ही में समाये हुए लगते हैं। जीव को छोड़कर ज्ञान का कहीं कोई आधार नहीं है। ज्ञान-स्वरूप केवल जीव है, चेतन है, व्यक्ति का स्वरूप एवं आत्मा है।

अथवा एक मनुष्य ही तो असंख्य बन्धन बनाता है। वह पहले अकेला रहता है। पीछे एक-एक बन्धन एवं प्राणी-पदार्थों से ममता बनाता जाता है और कुछ दिनों में वह असंख्य बन्धनों में बंध जाता है। परन्तु जब उसे अपने आप का परिचय हो जाता है कि मैं ही तो सभी बन्धनों का बनाने वाला हूं, इसलिए मैं इन बन्धनों को छोड़ भी सकता हूं, तो वह सारे बन्धनों को छोड़कर असंग हो जाता है।

एक ब्रह्म से अनंत जगत पैदा हो गया और अंततः अनंत जगत एक ब्रह्म ही है। जिसे जब एक ब्रह्म से परिचय हो जाता है तब उसे अनंत जगत एक ब्रह्म में ही लीन प्रतीत होता है। यह अर्थ भी किया जा सकता है, परंतु इस भाव का बीजकभर में खंडन है।[1] कोई भी विचारक स्व-सिद्धांत का एक शब्द में भी खंडन नहीं करता। सद्गुरु ने जड़-चेतन अभिन्नवाद का बारम्बार खंडन किया है। इसलिए यह उनका सिद्धांत नहीं हो सकता। फिर यह विवेक के विरुद्ध तो है ही। ब्रह्म जब चेतन है तब उससे जड़-जगत कैसे पैदा होगा। "कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः।"[2] अर्थात जो गुण कारण में होते हैं वही

स्वरूपज्ञान में जो ठहर, तहाँ न कोई एष्ट॥ 101॥
नात छूट सब देह से, कौन मिले तेहि हेर।
जड़ कर्मन की गति कहाँ, जहाँ भूल निरबेर॥ 102॥ (मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक)

1. रमैनी, 8, शब्द 52, 67, 112, 115, साखी 346-350 इत्यादि।
2. वैशेषिक दर्शन, 2/1/24।

कार्य में होते हैं। फिर चेतन ब्रह्म से जड़-जगत कैसे बन जायेगा। और जब ब्रह्म और जगत एक है तो ऐसे ब्रह्म से क्या कल्याण हो सकता है जो स्वयं विकारी है ! अतएव जड़ जगत तथा जगतस्वरूप ब्रह्म से हटकर दोनों का द्रष्टा अपना चेतन स्वरूप ही अपना निधान है।

सबका लक्ष्य मोक्ष है

एक शब्द गुरुदेव का, ताका अनन्त विचार।
थाके मुनिजन पण्डिता, बेद न पावैं पार॥ 125॥

शब्दार्थ—एक शब्द=मोक्ष। अनन्त=असंख्य, यहां भी अनंत शब्द असंख्य का ही भाव प्रकट करता है। पार=अन्त, सीमा, तथ्य।

भावार्थ—'मोक्ष'—गुरुदेव के इस एक शब्द पर मनीषियों ने असंख्य विचार किये हैं। मुनिजन तथा विद्वानजन विचार करके थक गये हैं। वेदों ने इसका पार नहीं पाया है॥ 125॥

व्याख्या—इस अनादिकालीन जगतीतल पर समस्त धार्मिक गुरुजनों ने जीवों के मोक्ष की मान्यता एक स्वर से की है, क्योंकि यही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। दुखों से सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है और यही सभी जीवों का मुख्य लक्ष्य है। परन्तु इस पर विचार असंख्य प्रकार से किये गये हैं। सारे धार्मिक संप्रदायों तथा आध्यात्मिक चिन्तकों का एकमात्र लक्ष्य है जीव का दुखों से मुक्त होना। इसी दुखनिवृत्ति के लिए देवी, देवता, ईश्वर, ब्रह्म आदि सबकी कल्पना की गयी है। सद्गुरु जीव है, मुनिजन, पण्डितजन, पीर-पादरीजन जीव हैं, वेद-शास्त्र तथा किताब-कुरानादि समस्त ग्रन्थों के रचयिता भी जीव हैं। यहां तक कि सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल जीव है। अतः जीव अपने दुखों से मुक्त होने के लिए ही सारे विचार करता है। वह केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक दिशा में ही नहीं, किन्तु किसी भी दिशा में जो कुछ सोचता और करता है, उसके मूल में उसका अपना दुख-छुटकारा ही उद्देश्य रहता है। यह बात अलग है कि समझ गलत होने से जीव अपने विचार और कर्मों से दुख पाता है, परन्तु वह सदैव यही चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायें, और दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

समझ सही न होने से कोई समझता है कि जीव से अलग देवी-देवता हैं, उनकी प्रार्थना करने, पूजा करने तथा उन्हें मनाने से वे हमारे दुख दूर कर देंगे। कोई समझता है कि देवी-देवता तो झूठे हैं, परन्तु एक ईश्वर या ब्रह्म है। यदि हम उसकी प्रार्थना, पूजा एवं वंदना करेंगे, तो वह हमारा दुख दूर कर देगा। इसी प्रकार असंख्य कल्पनाएं की गयीं और आदमी मोक्ष के लिए भटकता गया। ऋषि, मुनि, पंडित, पोप, पीर, औलिया भी मोक्ष के लिए नाना कर्मों में भटकते गये। वेद-शास्त्रों में इतने विविध विचार कहे गये जो केवल

एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, किन्तु कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी हैं।

चाहे कोई देवी-देवतादि की कल्पित अवधारणा हो और चाहे कोई व्यक्ति रूप में महापुरुष की अवधारणा हो, उसकी प्रार्थना-पूजादि करने से मन में थोड़ी कोमलता आ सकती है और व्यक्ति का थोड़ा सात्त्विक मनोरंजन हो सकता है। भक्ति-भावना के लिए यह सब ठीक है। परन्तु दुखों की निवृत्ति तो दुखों की जड़ों को खोदकर फेंकने से ही होगी। दुखों की जड़ें हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, परसंताप, विषयासक्ति; और इन सबके मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जब तक जीव को अपने स्वरूप की परख नहीं होगी और विषयासक्ति तथा उनसे उत्पन्न दोषों को नहीं छोड़ेगा, तब तक उसका दुख दूर कभी नहीं हो सकता। सारे दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति अर्थात दुखों से छुटकारा के साधनों को लेकर संसार में असंख्य विचार हैं। कोई देवी-देवादि की पूजा-प्रार्थना, कोई तीर्थाटन, कोई भूत-प्रेत आराधना, कोई प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन, कोई हठयोग, कोई पूर्ण विश्व को अपना स्वरूप मान लेने की बात, कोई शब्द और कोई तो मांस, मदिरा, मीन, मुद्रा, मैथुन का सेवन ही मोक्ष साधन मान लेता है। कोई गांजा, भांग तथा शराब के नशा में धुत्त रहने में ही मोक्ष माने बैठा है। यह ठीक है कि अपनी मान्य-भावनाओं तथा आदतों में मनुष्य को क्षणिक संतोष मिलता है, परन्तु यह सब अज्ञान का पसारा है। वस्तुतः विषयासक्ति तथा सारे दोषों की सर्वथा निवृत्ति एवं स्वरूपस्थिति प्राप्त होने पर ही सारे दुखों की निवृत्ति होती है और यही मोक्ष है।

स्वरूपज्ञान भ्रांतियों से ढका है

राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥ 126॥

शब्दार्थ—राउर=अंतःपुर, श्रेष्ठ। पिछवारे=पीछे भाग में, धुंधलके में। चारिउ=चार वेद। सैन=संकेत, इशारा। लूट=छीनाझपटी।

भावार्थ—चारों वेद श्रेष्ठतत्त्व के विषय में धुंधलके में संकेत करते हैं। जीव बहुत छीनाझपटी में पड़ा है। मूलतः विचार किया जाये तो जीव को संसार से कुछ प्रयोजन नहीं है॥ 126॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली साखी में कहा था "वेद न पावैं पार" वेद भी तथ्य कहने में असमर्थ हो गये हैं। यद्यपि वेदों में भी जगह-जगह तथ्य की बातें कह दी गयी हैं; परन्तु उनके विपरीत उनमें बहुत बातें कही गयी हैं। इसलिए उनका ज्ञान गोलमाल हो गया है। उनमें से छानकर सार ले लेना सबके लिए सहज नहीं है। इन्हीं सब बातों को लेकर सद्गुरु इस साखी में

कहते हैं—"राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन" चारों वेद श्रेष्ठतत्त्व के पीछे-भाग में खड़े होकर केवल उसका संकेत करते हैं। राउर के दो मुख्य अर्थ होते हैं अंतःपुर और श्रेष्ठ। यहां का अर्थ श्रेष्ठ है। वेदों के सर्वाधिक सूक्तों में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उन्हीं की वंदना एवं प्रशंसा की गयी है। कहीं इन सारे देवी-देवताओं का समवेत रूप "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"[1] कहकर आदित्य पर चित्त टिका दिया गया है। आत्मपरक विचार बहुत कम मिलते हैं। इसलिए वैदिकजन आत्मपरक विचारों वाले मंत्रों का भी अर्थ देवी-देवताओं में लगा देते हैं।

वस्तुतः 'राउर' श्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ जीव है, व्यक्ति की अपनी आत्मा है, चेतन है। परन्तु निर्भ्रांतरूप से धर्मशास्त्रों में ऐसा सब जगह नहीं कहा जाता। वेदों में तो ऐसी बातें कहीं नाम मात्र हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेद श्रेष्ठ तत्त्व के विषय में केवल धुंधलके में संकेत करते हैं। श्रीमद्भागवतकार भी कहते हैं—"लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है क्योंकि वेदवाक्य भी विशेषतः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।"[2]

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जीव परा बहु लूट में" जीव बहुत छीना-झपटी में पड़ा है। गुरुओं तथा धर्मशास्त्रों का जाल इतना विशाल है और इन सब में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर करने वाली इतनी बातें भरी हैं कि जीव उनमें भटक गया है। जीव के अपने आप के विचार इतने नुच गये हैं कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। नाना मत के गुरुओं ने जीव को तुच्छ कहने की गहरी भूल की है। इसलिए उसे यह भ्रम हो गया है कि मैं तुच्छ हूं। खानी-बानी की सारी मान्यताएं जीव ही अपने मन में बनाता है और स्वयं ही उन मान्यताओं में पड़कर लुट जाता है। जीव ने अपने आपा के विचार को अपनी जड़-मान्यताओं में खो दिया है। उसने अपने आपा से अपनी मान्यताओं को ही श्रेष्ठ मान लिया है। खानी जाल के प्राणी-पदार्थों में तथा बानी जाल के नाना देवी-देवताओं की मान्यताओं में जकड़कर जीव लुट गया है। सद्गुरु कहते हैं "ना कछु लेन न देन" इनसे जीव का कुछ लेना-देना नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं। जीव से जो कुछ पृथक है, वह उसका नहीं है। जीव का केवल जीव है। आत्मा से भिन्न आत्मा का क्या है! जीव आज जिनमें

---

1. ऋग्वेद 1/164/46।
2. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरविजृम्भितेषु।
   न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥
   (श्री मद्भागवत 5/11/2, टीका गीताप्रेस)

उलझकर अपने स्वरूप को भूल रहा है, वे उसके नहीं हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह सारी मान्यताओं से लौटकर अपने स्वरूप को पहचाने और उसमें स्थित हो।

अनासक्ति से अमरता की प्राप्ति

चौगोड़ा के देखते, ब्याधा भागा जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, मूवा कालहिं खाय॥ 127॥

शब्दार्थ—चौगोड़ा=खरगोश, शशा; तात्पर्य में जीव, यहां अर्थ है ज्ञानी जीव। ब्याधा=बधिक, शिकारी-काम-क्रोधादि। मूवा=मुरदा, ज्ञानद्वारा मरा हुआ मन, अनासक्त मन। काल=समय, मौत, क्षणभंगुरता, भवबंधन।

भावार्थ—शशा को देखकर शिकारी भयवश भाग खड़ा हुआ। हे संतो! एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा ने काल को खा लिया है। अर्थात आज तक शिकार बना हुआ जीव ज्ञानवान हो जाने से उसे देखकर कामादि शिकारी भाग खड़े हुए और ज्ञानबल से मरे हुए मन ने भव-बंधनों को नष्ट कर दिया॥ 127॥

व्याख्या—कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रसिद्ध हैं ही। जगत जानता है कि शिकारी को देखकर शिकार भागता है। परन्तु यहां शिकार को देखकर शिकारी ही भाग खड़ा हुआ। क्योंकि समय बदल गया है। अनादिकाल से जीवरूपी शशा काम-क्रोधादि शिकारियों का शिकार बना रहा। जीव क्षण-क्षण तो काम-क्रोधादि का शिकार होता है, परन्तु जब जीव को ज्ञान हो जाता है, सद्गुरु तथा सन्तों की संगत हो जाती है और उनकी संगत से जब वह अपने ऊपर शिकार करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि की परख कर लेता है, तब वह उनसे सावधान हो जाता है। सत्संग तथा विवेक द्वारा जीव के अन्दर छिपा हुआ ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। अतएव तब जीव के ज्ञानतेज से भयभीत होकर कामादि शिकारी-शत्रु भाग खड़े होते हैं। ये सब आलंकारिक भाषा के कथन हैं। इसका अर्थ यही है कि ज्ञानोदय होने पर कामादि का अन्त हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं कि हे सन्तो! मैं एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा काल को खाता है। आप जानते हैं कि काल सब को खाकर उन्हें मुरदा बनाता है, परन्तु यहां उलटा हुआ कि मुरदा ही ने काल को खा लिया। मुरदा का अर्थ साफ है। जब प्राणी मर जाता है, जीव चला जाता है, तब देह को मुरदा कहते हैं। परन्तु काल किसे कहते हैं यह थोड़ा समझने-जैसी बात है। काल का पहला अर्थ समय है, जो वैसे तो अनादि तथा अनन्त है, परन्तु उसे क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी आदि में विभाजित कर समझने की चेष्टा की जाती है। जब किसी प्राणी के जीवन

का समय पूरा हो जाता है तब हम कहते हैं कि उसका काल आ गया। काल आ गया का अर्थ समय आ गया, समय पूरा हो गया। और इसी को कहा जाता है मौत आ गयी।

काल का अर्थ क्षणभंगुरता भी है; क्योंकि संसार की सारी चीजें देश तथा काल के आयाम में गति करती हैं। मानो पर्वत से एक पत्थर टूटकर लुढ़कता है, तो उसके लुढ़कने में कुछ समय लगता है और कुछ देश; क्योंकि पत्थर चक्कर काटते हुए एक जगह से दूसरी जगह खिसकता है, तो इसमें देश और काल दोनों लगते हैं। हमारी नाक से सांस निकलती है और फिर लौटती है। इसमें भी देश तथा काल का उपयोग होता है। क्रिया मात्र में देश तथा काल का उपयोग होता है। कहा जाता है कि सारी वस्तुएं कालग्रसित हैं। काल सबको खाता है। हम देखते हैं कि समय आने पर आदमी बूढ़ा हो जाता है, मकान जीर्ण होकर गिर जाता है, पेड़ पुराना होकर गिर जाता है, परन्तु ये सब एक काल में जीर्ण नहीं होते, किन्तु क्षण-क्षण जीर्ण होते हैं। इसलिए पदार्थों की गतिविधि में काल व्याप्त रहता है। काल तो कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल समय है और हर समय है। परन्तु उसके आयाम में वस्तुएं बदलती हैं तो हम वस्तु की क्षणभंगुरता को काल पर आरोपित कर लेते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि काल क्षणभंगुर है। वस्तुतः वस्तुओं में निर्माण क्षणभंगुर है। या सीधे कहें तो जगत की निर्मित वस्तुएं क्षणभंगुर है। काल का अर्थ भवबंधन भी है। भवबंधन हैं काम, क्रोध, लोभादि की मन में कल्पनाएं उठते रहना। वस्तुतः जीव के लिए यही काल है।

सद्गुरु कहते हैं—"मूवा कालहिं खाय" मुरदा ने काल को खा लिया। यहां मुवा का अर्थ है मरा हुआ मन। जब मन विषयासक्ति एवं जड़ देह-गेहादि के अहंकार से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब उसे मरा हुआ कहा जाता है। यह मरा हुआ मन, अर्थात अनासक्त मन काल को खा लेता है। अनासक्त मन क्षणभंगुर पदार्थों में नहीं रमता। वह क्षणभंगुर को छोड़कर शांत हो जाता है और अविनाशी स्वरूप चेतन-राम में स्थित हो जाता है। ऐसे मन ने मानो काल को खा लिया। वह मानो देश-काल से मुक्त हो गया। जिस जीव का मन अनासक्त है, संसार के राग-रंग से मर चुका है, वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है। इसलिए उसके समय का चक्कर, काल की गतिशीलता, पदार्थों की गतिशीलता, शरीर की मौत, आसक्ति तथा अहंकाररूपी भवबंधन—सब-के-सब समाप्त हो गये। अनासक्त मन काल का काल हो जाता है। जिसका मन मर गया, मानो उसका संसार ठंडा हो गया। अर्थात अनासक्त मन वाले के लिए न शरीर की मौत का भय है न संसार के क्षणभंगुर पदार्थों के छूटने का भय है और न काम-क्रोधादि शत्रुओं का भय

है। भय का कारण आसक्ति है। आसक्ति मिट जाने पर भय मात्र का अन्त हो गया। निर्भयता ही अमरता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "मूवा कालहिं खाय" अनासक्त मन ने सारी पीड़ाओं को समाप्त कर दिया और जीव अमरता के राज्य में विराजमान हो गया।

मन, बिना मूड़ का चोर है

तीन लोक चोरी भई, सबका सरबस लीन्ह।
बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह॥ 128॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सत, रज, तम इन तीनों गुणों में आसक्त जीव-जगत। चोरवा=मन।

भावार्थ—तीनों गुणों में आसक्त जीवों के हृदय में चोरी हो गयी, और मन रूपी चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया। वह चोर बिना सिर का है, इसलिए उसे कोई पहचान नहीं पाया॥ 128॥

व्याख्या—दो जगत हैं—भौतिक तथा मानसिक। दोनों सत, रज तथा तम गुणों से व्याप्त हैं। भौतिक जगत में रचना रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। मानसिक-जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है, ज्ञान एवं प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। यहां मानसिक-जगत से तात्पर्य है। तीन लोक का अर्थ है त्रिगुणी जीव। त्रिगुणी जीवों के हृदय में चोरी हो गयी। तीन लोक का अर्थ विश्व की समग्रता से भी है। पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे के लोक तथा पृथ्वी के ऊपर के लोक, अर्थात समस्त विश्व-ब्रह्मांड में जहां तक जीव हैं, सबके भीतर चोरी हो गयी। चोर ने सबका सब कुछ चुरा लिया। यह मन चोर है। इसने जीव का सब कुछ चुरा लिया है। "सबका सरबस लीन्ह" बड़ा मार्मिक वचन है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप, मन ने उसी की याद को चुरा लिया है। कबीर साहेब तो अपनी प्रायः सारी बातें अलंकारों में कहते हैं। अलंकारों से कथन में मनोहरता एवं बोधप्रदता आती है; परन्तु अंततः अलंकारों के जाल को हटाकर ही बात ठीक से समझने में आती है। चोर स्वतन्त्र मनुष्य होता है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा एवं क्रिया होती है। परन्तु मन-चोर ऐसा स्वतन्त्र कुछ नहीं है। वह ऐसा स्वतन्त्र चोर नहीं है कि जीव के न चाहने पर भी उसके दिल में चोरी करता रहे। मन तो एक आभ्यासिक-वृत्ति है। किसी ने तम्बाकू खाने की आदत बना ली। अब उसके हृदय में बारम्बार तम्बाकू खाने की ललक होती है। आदमी समझता है कि तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग, शराब, ये सारी चीजें धन, स्वास्थ्य और शांति के लिए हानिकारक हैं, परन्तु इनकी आसक्ति में बंधा हुआ इनकी तरफ खिंचा रहता है। मन ने मानो उसके हृदय के विवेक

को चुरा लिया है। जीव चाहे तो मन को मार सकता है। उसे अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह स्वयं प्रलोभन में पड़ा हुआ, अपने स्वरूपज्ञान से बेभान उन्हीं आदतों में पिसता रहता है।

मन चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप। जीव ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर रखा है और वह विषयों में भटका है। विषयों की आसक्ति होने से उसकी उसी में आभ्यासिक-वृत्ति बन गयी है, वही वृत्ति मन कहलाती है। वही हर समय मानो जीव को छलती रहती है। काम-भोग की आभ्यासिक-वृत्ति हृदय में आयी और उसने हृदय का निष्काम-धन चुरा लिया। क्रोध-वृत्ति आयी और क्षमा-धन चुरा गया। लोभ-वृत्ति आयी और संतोष-धन लुट गया। राग-द्वेष वृत्ति आयी और निष्प्रपंच-धन लुट गया। देहाभिमान-वृत्ति आयी और स्वरूपज्ञान-धन चुरा गया। सबके दिल-घर में सब समय चोरी होती रहती है। हर क्षण हमारी बुरी आदतें हमें छलती रहती हैं। हम हर क्षण अपनी बनायी दुर्वृत्तियों से अपने आप को ठगाते रहते हैं। मन चोर ने हमारा सर्वस्व हर लिया है। कहना चाहिए कि हम अपनी भूल से अपने सर्वस्व को खो चुके हैं। हमारा सर्वस्व हमारी आत्म-चेतना, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति है और स्वरूपस्थिति के सहायक सत्य, शील, दया, क्षमा, विचार, संतोष आदि सद्‌गुण हैं। हम इनका परिचय तथा याद भूल जाते हैं। इसलिए मानो हमारा सारा धन लुट जाता है और हम दरिद्र बनकर भटकते हैं। जिसके पास अच्छे संस्कार न रह जायें, जो अपने आपा में न जीता हो, उसके समान दुखी तथा दरिद्र कौन होगा !

"बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह" यदि चोर के धड़ पर सिर ही न हो तो उसे कैसे पहचाना जा सकता है ! मुंह से ही किसी को पहचाना जा सकता है। सिर न होने से मुंह होने की बात ही नहीं उठती। यह मन ऐसा ही चोर है जिसके पास कोई एक मुंह नहीं है। इसके अनेक मुखौटे हैं। यह क्षण-क्षण नकली चेहरा बनाना जानता है। यह मन काम-भावना का सीधा रूप लेकर भी जीव को ठगता है और निष्काम का चेहरा बनाकर भी पीछे से उसमें सकाम-भावना को मिलाकर ठगता है। तुम मन से कहोगे कि शुभ का स्मरण करो। मन कहेगा बड़ी अच्छी बात है, मैं शुभ का ही स्मरण करूंगा। मन शुभ का ही स्मरण शुरू करेगा और धीरे-से ले जाकर जीव को अशुभ में पटक देगा। साधक प्रायः शिकायत करते हैं कि हम ध्यान करने बैठते हैं, भजन करने बैठते हैं, मन पहले ध्यान-भजन में लग भी जाता है; परन्तु पता नहीं चलता कि यह चांडाल कब हमें विषय-प्रपंचों में पहुंचा देता है। यह मन की चालाकी है। मन अपनी ओर मोड़ने में माहिर है। यह केवल काम,

क्रोधादि के अशुभ चेहरे ही नहीं, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के शुभ चेहरे बनाकर भी सावधान न रहने पर ठग लेता है। अतएव मन के नाना नकली चेहरे हैं। यह एक चेहरे में नहीं रहता। इसलिए सहज लोग इसे नहीं पहचान पाते। यह सब कहने का अर्थ यही है कि हमारे मन की विषयासक्ति हमें बलात विषयों में खींच ले जाती है। किन्तु जब हम अपने स्वरूप को तथा अपने मन के स्वरूप को ठीक से परख लेते हैं तब मन हमारे अधीन हो जाता है। मेरी भूल तथा असावधानी के अलावा मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो मुझे विवश कर सके। जब साधक अपने अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है और सबसे अनासक्त होकर स्वरूपविचार में ही रमने लगता है तब मन उसका अनुगामी हो जाता है। तब उसका कहीं भटकने का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

संसार की दुखद चक्की

चक्की चलती देख के, मेरे नैनन आया रोय॥
दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय॥ 129॥

शब्दार्थ—दुइ पाट=द्रव्य-गति, तन-मन, जन्म-मरण, खानी-वाणी, मोटीमाया-झीनीमाया, राग-द्वेष। साबुत=साबित, अखंड, समूचा, बेदाग।

भावार्थ—संसार की चक्की चलती देखकर मेरे नेत्रों से रुलाई आ गयी। दो पाटों के बीच आकर कोई बेदाग नहीं गया॥ 129॥

व्याख्या—कबीर देव की यह साखी बहुत प्रसिद्ध है। चक्की दो पाटों की होती है। उसमें अन्न के दाने पिसते हैं। यह संसार मानो विशाल चक्की है। यह निरन्तर चलती है। जहां तक दृश्यमान संसार है निरन्तर गतिशील है। इसमें रहने वाले प्राणियों के शरीर तथा सारे पदार्थ अनवरत पिसते रहते हैं। द्रव्य और गति मानो ये दो पाट हैं। इनमें सारा संसार पीसा जा रहा है। जितने भौतिक द्रव्य हैं सबमें गति है और गति जहां तक है भौतिक द्रव्य है। द्रव्य और गति यही संसार-चक्की के दो पाट हैं जिसमें अनंत विश्व निरन्तर पीसा जा रहा है। यहां सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं तथा सारे प्राणी मौत के सामने दीन हैं। विश्व के बड़े-से-बड़े समर्थ नर-नारी भी मौत के आते ही क्षण-मात्र में इस दुनिया से उठ जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, व्यास, वसिष्ठ, ईसा, मूसा, मुहम्मद, गोरख, कबीर, दयानन्द, विवेकानन्द बड़ी-बड़ी हस्तियां चली गयीं। फरक इतना ही है कि ये सब अपनी यश-काया से अमर हैं। जिन्होंने अपने मन, वाणी तथा काया को जीतकर संसार से अनासक्ति प्राप्त कर ली वे अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थिर होकर अमर हो गये। अन्यथा बड़े-बड़े राजे-महाराजे कीड़े-मकोड़े के समान आते-जाते रहते हैं।

अथवा तन और मन दो पाटों की चक्की है। इसमें संसार के सारे जीव पिसते हैं। शरीर के निर्वाह-धन्धों, रोग-व्याधि तथा नाना दैहिक उपद्रव एवं मन के राग-द्वेष, चिंता-विकलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में सभी जीव पीसे जा रहे हैं। अथवा जन्म-मरण के दो पाटों की चक्की में सब जीव पीसे जा रहे हैं। ये जीव जन्म-मरण के चक्कर में, गर्भवास, बाल्यकालिक, जवानी के प्रमादजनित, बुढ़ापा के विवशताजनित तथा जीवन के नाना उपद्रवों में निरन्तर पिसते हैं। अथवा खानी तथा वाणी इन दो पाटों की चक्की में सब जीव निरंतर पीसे जा रहे हैं। खानी है मोटी माया और वाणी है झीनी माया। प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में जीवन का उलझे रहना खानी जाल के बंधन हैं तथा अपने चेतनस्वरूप से अलग देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म, गति-मुक्ति, स्वर्ग तथा लोक-लोकांतरों की कल्पना करना वाणी जाल के बंधन हैं। इस प्रकार खानी और वाणी जाल के इन दो पाटों में संसार के सारे लोग पीसे जा रहे हैं। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है—"खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोई न रहाय" अर्थात खोज करके देखो जो खानी और वाणी के जाल में पड़े हैं उनमें से कोई भी जीव शांति-स्थिति को नहीं पाता।

सबका सार अर्थ यह है कि राग और द्वेष इन दो पाटों की चक्की में सारे जीव निरन्तर पिस रहे हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जीवों की यह दुखद दशा देखकर मेरे नेत्रों में आंसू आ गये, मेरा दिल रो दिया। संसारी आदमी अपने पत्नी-बच्चे के दुखों को देखकर रोते हैं, या वे जिसे अपना माने रखते हैं उन्हीं के दुखों से रोते हैं, परन्तु जो कहीं किसी में ममता नहीं करता, वह सब में समता रखता है। ऐसे पुरुष का हृदय अत्यन्त शुद्ध होता है, और वही संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोता है। कबीर साहेब का दिल विशाल था। वे संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोते हैं।

जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। शरीर निर्मित हुआ है तो नष्ट होगा ही। सारे भौतिक पदार्थों का निर्माण विनाश के मुख में है। इन्हें रोके रखना एवं स्थिर रखना किसी के वश की बात नहीं है। इन्हें रोके रखने की कल्पना कोई फायदेमंद भी नहीं है। जो जीव के लिए कल्याणकर है और जिसे वह कर सकता है वह है राग-द्वेष का त्याग। जिसके मन के राग-द्वेष की चक्की बन्द हो जाती है उसके मन का पिसना बन्द हो जाता है। राग-द्वेष से मुक्त हुआ मनुष्य परम शांति का सागर हो जाता है। जिसे किसी से राग नहीं है और किसी से द्वेष नहीं है उसके सारे द्वन्द्व, सारे झगड़े, सारे उपद्रव समाप्त हो जाते हैं। उसकी दृष्टि में मित्र तो मित्र है ही, शत्रु भी मित्र ही है। कोई अपने अज्ञानवश उससे शत्रुता भले कर ले, परन्तु वह उससे भी शत्रुभाव नहीं रख सकता। वह तो मलिन मन वालों पर दया करता है। वह समझता है कि ये

अपने अज्ञानवश दीन हैं। ये अपने मनोमालिन्यतावश अपना ही अहित कर रहे हैं। ये दया-क्षमा के पात्र हैं। जिनकी राग-द्वेष की चक्की बन्द हो गयी, उनका संसार-सागर मानो सूख गया। वे सब समय निर्भय, निर्द्वन्द्व, स्वछन्द, मुक्त एवं कृतकृत्य रूप होते हैं।

साधु के वेष में चोर

चार चोर चोरी चले, पगु पनहीं उतार॥
चारिउ दर थूनी हनी, पण्डित करहु बिचार॥ 130॥

शब्दार्थ—पनहीं=जूती। दर=छिद्र, स्थल। थूनी=खंभा। हनी=गाड़ दी।

भावार्थ—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार चोर चुपचाप जीव के ज्ञान-धन की चोरी करने के लिए चले और विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति रूप चार दरों में भास-अध्यास की थूनियां गाड़ दीं। हे पण्डितो, इन पर विचार करो और इनके फंदों से बचो॥ 130॥

व्याख्या—जूते पहनकर चलने में आवाज होती है, इसलिए सावधान चोर पैर से जूते निकालकर नंगे पैर चोरी करने के लिए चलते हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार मानो ये चार चोर हैं। ये बड़ी कोमलता एवं सावधानी से जीव के भाव में मिलकर उसके ज्ञान-धन को चुराते हैं। मन चुपके-चुपके विषयों का मनन करता रहता है; बुद्धि भीतर-ही-भीतर विषयों में सुख का निश्चय करती रहती है; चित्त विषयों के अनुसंधान में लगा रहता है, और अहंकार विषयों की स्वीकृति तथा करतूति में लगा रहता है। इस प्रकार "चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा। दमदम की कोइ खबरि न जाने, कोई कै न सकै निरुवारा।"[1] हर आदमी के दिल में ये चौपर-खेल ये चार चोरों द्वारा चोरी होती रहती है। इन चारों चोरों ने चारों दरों में अध्यास-वासना की जबर्दस्त थूनियां गाड़ दी हैं। कबीर साहेब पण्डितों को राय देते हैं कि वे इस पर विचार करें। पण्डित प्रज्ञावान को कहते हैं। जिसकी बुद्धि सूक्ष्म है, सत्यासत्य विवेकिनी है, उसकी बुद्धि पंडा है, और जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। ऐसा पंडित ही इस विषय पर विचार कर सकता है। पण्डित कोई काल्पनिक वर्ण एवं जाति से संबंध नहीं रखता। उसका संबंध केवल सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि से है। विवेकी पुरुष ही विषयों की ओर उन्मुख मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को उनसे लौटाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर ला सकता है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि चतुर्वर्णव्यवस्था

---

1. शब्द 86।

की चारों भावनाएं मानो चार चोर हैं और ये अपने पैर से जूते निकालकर, बड़ी कोमलता एवं धार्मिकता का मुलम्मा चढ़ाकर मनुष्यों के दिलों में चोरी करने चले और चारों वर्णों की दरों में अपनी कल्पना एवं भेदभावना की थूनी गाड़ दी है। हे पण्डितो, इस पर विचार करो।

चतुर्वर्णव्यवस्था एकदम आरंभ में चाहे केवल कर्मों का बंटवारा रही हो और शुद्ध भावना से यह व्यवस्था की गयी हो तथा इसके पीछे किसी को नीच-ऊंच बताने एवं थापने की बात बिलकुल न रही हो, परन्तु हम लोगों के सामने जो धर्मशास्त्रों में इसका रूप है वह भेदभाव से भरा हुआ, अज्ञानपूर्ण, घृणित एवं क्रूर है। तथाकथित वर्णव्यवस्था के विधान में एक वर्ण जन्म से ही अत्यन्त ऊंच मान लिया गया है, दूसरा निम्न, तीसरा निम्नतर तथा चौथा निम्नतम। वर्णव्यवस्था की क्रूरता ने एक विशाल वर्ग को शूद्र कहकर उस पर ऐसा क्रूरतम पंजा कसा कि उसे आज तक उससे मुक्त होने की पूरी सुविधा नहीं मिली। इस वर्णव्यवस्था की गर्हित भावना ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को पाप-योनि कहा। यह भेदभावना का विष बोने वाली वर्णव्यवस्था धर्म के नाम पर चलायी गयी। इसने "पगु पनहीं उतार" कर ऊपर से बड़ी कोमल भावना दिखायी। कहा गया कि शूद्र तो सवर्णों की सेवा करते-करते तथा उनके जूते-लात खाते-खाते ही मुक्त हो जायेगा। इसने राम द्वारा शंबूक शूद्र की हत्या तथा बलराम द्वारा सूत की हत्या का काल्पनिक चित्रण करके उन्हें मुक्ति देने की बात बतायी।

कबीर साहेब कहते हैं—"पण्डित करहु विचार" हे पण्डितो, हे समझदारो, विचार करो कि सब मनुष्य जन्म से एक समान हैं। सबके शरीर एक समान हाड़-मांस के हैं और सबके अन्दर एक ही प्रकार के जीव निवास करते हैं, फिर इसमें मूलतः कौन बड़ा है और कौन छोटा है! केवल अपने गुण-कर्मों से ही आदमी छोटा-बड़ा होता है। मानव मात्र मूलतः एक समान है।

सत्य ही चारों वेदों का सार है

बलिहारी वह दूध की, जामें निकरे घीव॥
आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव॥ 131॥

शब्दार्थ—बलिहारी=निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा। जीव=चेतन, सारतत्त्व।

भावार्थ—उस दूध की प्रशंसा की जाती है जिसमें अधिक मात्रा में घी निकलता है। इसी प्रकार उस वाणी की प्रशंसा की जाती है जिसमें जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वरूपज्ञान-परिचायक कबीर की आधी

साखी भी चारों वेदों का सारतत्त्व है॥ 131॥

व्याख्या—जब लोग दुधार गाय और भैंस बेचते हैं, तब वे ग्राहकों से कहते हैं कि भैया, हमारी गाय और भैंस के दूध में घी-ही-घी है। भैंस के विषय में यह बात ज्यादा कही जाती है। कई भैंस घियार होती हैं। अर्थात उनके दूध में ज्यादा घी होता है। अतएव दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक है। इसी प्रकार वाणी वही प्रशंसनीय है जिसमें जड़-चेतन, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य, गुण-दोष, ग्राह्य-त्याज्य, बंध-मोक्ष आदि का तात्त्विक विवेचन हो। उन्हीं वाणियों, ग्रन्थों एवं शास्त्रों की बड़ाई है जिनमें तर्कयुक्त कारण-कार्य-व्यवस्था-संबलित तथा विश्व के नियमों के अनुकूल कथन है; और अंततः सारे जड़ दृश्यों को हटाकर अपने स्वरूप का यथार्थ-बोध वर्णन है। जैसे "जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।"[1] अथवा "जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर"[2] या "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं"[3] इत्यादि आधी साखी भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व है।

"आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" इसे कबीर की गर्वोक्ति मानी जा सकती है। वे अपनी आधी साखी को भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व मानते हैं। इस पंक्ति में पहली बात तो यह है कि उनकी वेदों के प्रति श्रद्धा की ध्वनि है। दूसरी बात यह है कि उनकी वाणियों में सचमुच केवल तथ्य भरा है। जैसे इस साखी की पहली पंक्ति में कहा गया कि दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक हो, तो सचमुच ही कबीर की वाणीरूपी दूध में घी-ही-घी है, सार-ही-सार है। कबीर की वाणी इतनी सारगर्भित है कि उसका भावपूर्वक मनन करने से तथ्य सामने आ जाता है। अतएव "आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" उनकी गर्वोक्ति नहीं, किन्तु चांद-सूरज के समान सत्य है। वे समर्थ पुरुष थे; ऐसा कह सकते थे। वे धर्म और श्रद्धा के नाम पर लचर बातें नहीं करते, किन्तु खरी एवं तथ्यपूर्ण करते हैं। कबीर देव धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में रहते हुए भी वैज्ञानिक हैं। उनका दृष्टिकोण इतना तार्किक, युक्तियुक्त, विश्वसत्ता के नियमों के अनुकूल तथा तथ्यपूर्ण है कि आश्चर्य होता है कि उस अंधे युग में कबीर इतना सारा सत्य डंके की चोट पर कैसे कह गये! जिस देश तथा काल में धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर सर्वत्र पोंगापंथीपन, कट्टरपन एवं हठधर्मिता थी, उस देश और काल में कबीर केवल खरा-खरा कहते रहे, यह उनकी सत्य में

---

1. साखी 10।
2. साखी 282।
3. साखी 296।

अविचल प्रतिष्ठा का बल एवं अदम्य साहस था। जो अपना कोई स्वार्थ नहीं रखता, वही खरा सत्य कह सकता है। कबीर ऐसे थे। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए कभी कुछ नहीं सोचा, इसलिए वे एकबारगी सत्य कह सके। अतः वे यदि अपनी वाणियों में से आधी साखी को भी चार वेद का जीव कहें तो आश्चर्य नहीं।

पारखी प्रशंसनीय है

बलिहारी तेहि पुरुष की, जो परचित परखनहार॥
साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार॥ 132॥

शब्दार्थ—साई=बयाना, पेशगी, अग्रिम। खाँड़=चीनी, शकर। खारी=नमक। बूझे=समझता है, मांगता है, अथवा बोझे=लादता है। गँवार=नादान।

भावार्थ—मैं उस मानव की प्रशंसा करता हूं और उस पर अपने आप को न्योछावर करता हूं जो सार-असार से परिचित है या उनका परखने वाला है। परंतु मैं उस नादान की क्या प्रशंसा करूं जिसने शकर लादने के लिए बयाना दिया है और जब माल तौलाना हुआ तब नमक तौलने तथा लादने लगा। अर्थात सत्यज्ञान पाने के लिए गुरुओं की सेवा की, परन्तु उनसे ज्ञान के नाम पर भ्रांति का बोझा लादने लगा॥ 132॥

व्याख्या—कबीर देव की हर वाणी में क्रांति है। वे उसकी प्रशंसा करते हैं जो परिचित तथा परखनहार है। परिचित तथा परखनहार ये दोनों शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। परिचित वह है जिसने सार-असार, स्व-पर, चेतन-जड़, मोक्ष-बंध आदि को परख लिया है; और परखनहार वह है जिसका परखना चालू है, जो वर्तमान में छानबीन कर रहा है कि क्या सार है, क्या असार है, तथा क्या स्व है, क्या पर है आदि।

अपने स्वरूप का परिचय पा लेना, अपनी आत्मा को पहचान लेना एवं अपने आपा को परख लेना जीवन में सर्वोच्च ज्ञान है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य जड़वर्ग है उसकी भी परख कर लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि उसी में बराबर भ्रम होता है। चेतन की तरह ही जड़-दृश्य भी अनादि-अनन्त है और अपने अनादिनिहित गुण, धर्म, क्रियादि से स्वतः स्वचालित है। उसमें किसी प्रकार की दैवीशक्ति की कल्पना करना अज्ञान का फल है। जड़प्रकृति के अपने अनादिसिद्ध स्वभाव एवं गुण-क्रियाओं से जगत की व्यवस्था अबाधगति से निरन्तर चल रही है और आगे चलती जायेगी। जड़दृश्यों से भिन्न चेतन सत्ता है जो संख्या में अनेक एवं असंख्य हैं और उनके गुण-धर्म एक ज्ञान है। सारी जड़वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का सार है। यह बोध जड़-चेतन का परिचित

स्वरूप है। दूसरे लोग हैं जो इनकी परख करने में लगे हैं। अथवा जो व्यक्ति जड़-चेतन से पूर्ण परिचित हो गया, उसे भी जीवनभर परखनहार बने रहना तो पड़ता ही है। क्योंकि जीवनपर्यन्त संसार सामने है। संसार में नयी-नयी बातें, नये-नये बन्धन एवं नयी-नयी उलझनें आने की संभावना रहती है। इसलिए विवेकवान नर-नारी परिचित होते हुए भी जीवनपर्यन्त परखनहार है। "सदा विचार करहु तुम भाई। जब लग देह बिखरि नहिं जाई॥ पारख ऊपर थिर होय रहना। सकल परखना ना कछु गहना॥"[1] सद्गुरु ऐसे लोगों की प्रशंसा करते हैं और उन पर अपने आप को न्योछावर कर देते हैं, जो धर्म के नाम पर कही गयी बातों को आंख मूंदकर मानता नहीं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर उन्हें देखता है, परखता है, तब मानता है। कबीर देव अन्धा अनुगामी नहीं चाहते, तर्कशील साथी चाहते हैं। उस सत्यपरायण साथी को वे अपना दास न बनाकर उसके प्रशंसक हो जाते हैं। और इतना ही क्या, वे तो ऐसे व्यक्ति को कह बैठते हैं—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

परन्तु कबीर देव ऐसे लोगों से बहुत उदास और दुखी होते हैं जो विवेक का प्रयोग नहीं करना चाहते। "वी वाक बाई फ़ेथ, नॉट बाई साइट" के वे घोर विरोधी हैं। अर्थात जो लोग कहते हैं कि हम विश्वास से चलते हैं, देखकर नहीं, कबीर साहेब उनको पसंद नहीं करते। वे कहते हैं कि बिना देखे-भाले एवं बिना जांचे-परखे विश्वास पर विश्वास कैसे कर लें ! यह ठीक है कि अध्यापक के कहे हुए क माने कबूतर तथा ख माने खरगोश पर बच्चा विश्वास कर ले, परन्तु अध्यापक उसे कब तक बच्चा बनाये रखना चाहेगा ! धार्मिक लोग प्रायः जनता को हर समय बच्चा ही बनाये रखना चाहते हैं। यह भी ठीक है कि जिज्ञासु का हृदय बच्चे के समान सरल होना चाहिए, परन्तु इसके साथ उसे पारखी भी होना चाहिए।

सद्गुरु ने उन भक्तों पर इस साखी की दूसरी पंक्ति में करारा व्यंग्य किया है जो "साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार" बयाना देते हैं शकर लेने के लिए, परन्तु भोले नमक लेते हैं। गुरुओं की सेवा की सत्यज्ञान पाने के लिए, परन्तु धर्म के नाम पर भावुकों ने नाना भ्रांतियों को लाद लिया। धर्म और भक्ति के नाम पर ज्यादातर चमत्कार, अन्धविश्वास तथा बे-सिर-पैर की बातें ही हांकी जाती हैं। अधिकतम गुरु इन्हीं का प्रचार करते हैं और भक्तों के पल्ले यही पड़ता है। गुरुओं को इन्हीं सब बातों में अधिक धन और जन मिलते हैं। इसलिए वे अपने भक्तों को विवेक नहीं देना चाहते। अधिकतम

---

1. सद्गुरु पूरण साहेब, निर्णयसार।

गुरुजन धर्म और भक्ति की ऐसी ही घुट्टी पिलाते हैं जिससे भक्तजनों के चिन्तन और विवेक की शक्ति खो जाती है। इसलिए धार्मिक क्षेत्र में घोर अन्धविश्वास व्याप्त है। यद्यपि धर्म के अर्थ विश्व के नियम, कारण-कार्य-व्यवस्था, मनुष्य के कर्तव्य एवं नैतिकता हैं, तथापि अन्धविश्वासियों एवं स्वार्थियों ने उसका अर्थ पोंगापंथीपन बना दिया है। आदमी श्रद्धा के नाम पर आंखें मीच लेता है। वस्तुतः श्रद्धा का अर्थ है सत्य को धारण करने वाली मानसिक शक्ति; श्रत=सत + धा=धारण करना। परन्तु लोगों ने मान रखा है धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर बुद्धि-विवेक में ताला लगा देना और केवल गुरुओं के बताए पथ पर आंख मूंदकर चलना। निश्चित है यह खतरनाक रास्ता है। कबीर देव कहते हैं कि सत्यासत्य परखो। सदैव सार-असार पर विचार करो। बिना विचार किये कुछ भी मत मानो। वही प्रशंसनीय है जो परिचित तथा परखनहार है।

काल कला सब परखि ले, जेते हैं सब फाँस।
बिन पारख सोइ बीज है, जन्म मरण के गाँस॥ पंचग्रन्थी, टकसार॥

भय के कारण विषयासक्ति और अहंकार

विष के बिरवे घर किया, रहा सर्प लपटाय॥
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय॥ 133॥

शब्दार्थ—बिरवे=वृक्ष। जागत=दिन। रैनि=रात। बिहाय=बीतना।

भावार्थ—किसी ने जहर के पेड़ पर अपना निवास स्थान बनाया, जिसमें सांप लिपटे हैं। इसलिए उसके जी में भय समाया है और वह भय में ही रात और दिन बिता रहा है। अर्थात अहंकार-सर्प से लिपटे हुए विषयों में जीव आसक्त है। इसलिए उसके रात-दिन भय में बीत रहे हैं॥ 133॥

व्याख्या—विष का पेड़ हो और उसमें जहरीले तथा भयंकर सांप लिपटे हों, यदि उस पर कोई अपना निवासस्थान बनाये, तो वह भय का कारण बनेगा ही। ऐसे पेड़ पर रहने वाले के रात-दिन भय में बीतेंगे। वीतराग कबीर देव उक्त चुभता हुआ उदाहरण देकर विषयासक्तों तथा देहाभिमानियों की आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाते हैं। मनुष्य विषयासक्तिरूपी विष-वृक्ष में चिपका है जिसमें अहंकार के भयंकर सांप लिपटे हैं। अलंकार के जंजाल को हटाकर अर्थ होगा कि जीव विषयासक्ति तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार में डूबा है। इस विषयासक्ति तथा अहंकार के कारण ही वह सदैव भयभीत रहता है। उसके दिन और रात भय में ही बीतते हैं।

सुख तथा सम्मान न मिलने या उनके छूट जाने का भय, रोग लगने, बुढ़ापा आने तथा प्रियजनों के बिछुड़ने का भय, अन्ततः मृत्यु का भय क्यों

होता है ! इन सारे भयों के मूल में है देह-गेहादि तथा प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का होना ! विषयासक्ति जहर है तथा देह-गेहादि सांसारिक ऐश्वर्य का अहंकार सांप है। इन दोनों को पालकर कोई सुख से सो नहीं सकता। विषयासक्ति एवं देहाभिमान में चिपककर कोई निर्भयता का सुख पा ही नहीं सकता। आदमी की नींद खुलती है और वह भय को छाती से लगाये हुए उठता है। पहला भय होता है घर में चोरी न हो गयी हो। दूसरा भय होता कि खाट के नीचे पैर रखते ही सांप न डस ले। फिर तो भय का सिलसिला शुरू हो जाता है। कहीं चले तो एक्सीडेंट का भय सवार हो जाता है। बच्चा स्कूल गया तो उसके लौटने तक मन में खतरा का भय बना रहता है। व्यापार रुकने, नौकरी छूट जाने, खेती डूब जाने का भय बना ही रहता है। भय की संख्या करना बेकार है। देहाभिमानी जीव के रात-दिन केवल भय में बीतते हैं। इन सबों का मतलब यह नहीं है कि आदमी कहीं सावधान न रहे। सावधान तो हर जगह रहना चाहिए, परन्तु भय पालना एक मानसिक बीमारी है। जो कुछ भवितव्य है, रुक नहीं सकता। उसके लिए भय पालना अपने आप को विक्षिप्त बनाना है। भय करने से लाभ तो रत्तीभर नहीं होता, केवल हानि होती है। निर्भय रहने से हानि बिलकुल नहीं, किन्तु केवल लाभ-ही-लाभ है।

हम निर्भय कैसे हों जब विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं में रात-दिन डूबे हैं और रत्ती-रत्ती चीजों में अहंता-ममता बना रखे हैं। जो विषयों की गुदगुदाहट को प्राणों के समान प्रिय मानते हैं उन्हें रात-दिन दुखों की भट्ठी में जलना ही है। राग भय का कारण होता है और वैराग्य निर्भयता का। भर्तृहरि का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है "वैराग्यमेवाभयम्"—वैराग्यम्-एव-अभयम्—वैराग्य ही निर्भयता है। इसीलिए कबीर देव कहते हैं—"चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह। जिनको कुछ नहिं चाहिए, सोई शाहंशाह॥"

आदमी स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, देह-गेहादि में निरन्तर आसक्त है। इसलिए वह रात-दिन उनकी चिन्ता में डूबा हुआ पीड़ित रहता है। उसके भय और चिन्ता ही में रात-दिन जाते हैं। "जागत रैनि बिहाय" का अर्थ इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि दिन तो दिन ही, उसकी रात भी चिन्ता एवं भय में जागते-जागते बीत जाती है। अधिकतम धनवानों को रात में नींद कहां पड़ती है ! बिरले धनी अपनी स्वाभाविक नींद में सोते हैं। वे नींद की गोली खाते हैं तब उन्हें मुर्च्छा-जैसी नींद आती है। संसार में करोड़ों रुपयों की लागत में नींद की गोलियां बनती हैं और उनकी खपत प्रायः धनवानों में ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गरीब लोग विषयासक्ति तथा अहंकार से छूटे होते हैं। वे भी आसक्ति एवं अहंकार में डूबे हैं; परन्तु उनके पास आसक्ति तथा

अहंकार करने के साधन थोड़े हैं, इसलिए वे उतने चिंतित एवं भयभीत नहीं हैं जितने धनी कहलाने वाले। अंततः तो अबोधग्रसित सारे प्राणी अहंता-ममता में डूबे रात-दिन चिन्ता एवं भय के शिकार हैं।

"जागत रैनि बिहाय" को हम इस ढंग से समझ सकते हैं कि सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, जाग्रत एवं सावधान होकर अज्ञानरूपी रात को समाप्त कर, अर्थात नष्ट कर !

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साध न होय॥
सकल सम्पदा ले गये, विष भरि लागा सोय॥ 134॥

शब्दार्थ—हैगा=है। साध=साधु, महात्मा। सम्पदा=ज्ञान तथा सद्गुण धन, दैवी संपदा। सोय=आसक्ति एवं अहंकार।

भावार्थ—जो सांप का घर है, वह साधु का घर नहीं है। अर्थात विषयासक्ति और देहादि का अहंकार साधना का पथ नहीं है। ये विषयासक्ति और अहंकार तो जीव की सारी आध्यात्मिक शक्ति नष्ट कर देते हैं और सांसारिकता का विष लेकर उसमें चिपक जाते हैं॥ 134॥

व्याख्या—विषयासक्ति और देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता सर्प है। सांप का घर साधु का घर नहीं हो सकता। जिसके मन में विषयासक्ति तथा अहंकार निवास करते हैं, उसके मन में साधुत्व कैसे रह सकता है ! वैसे विषयासक्ति तथा देहाभिमान सभी जीवों के मन में अनादि अभ्यस्त हैं। इसलिए ये सबके मन में हैं। परन्तु एक होता है जो इन्हें नष्ट करने की साधना करता है और दूसरा है जो इन्हें निरन्तर पालता है। दोनों में बड़ा अन्तर है। जो व्यक्ति अपने मन में विषयासक्ति तथा देहाभिमान-सर्पों को पालेगा वह साधना के पथ में नहीं चल सकता और साधुत्व की स्थिति नहीं पा सकता। साधक तो वह होता है जो विषयों को विष के समान जानकर उनसे दूर रहता है और समस्त अहंकारों का क्षण-क्षण त्याग करता है। जीव भूलवश क्षण-क्षण देह-गेहादि संसार की वस्तुओं में अपने आप को जोड़कर उनका अहंकार करने लगता है। विवेकवान मन में उठी हुई अहंता-ममता को क्षण-क्षण त्यागते रहते हैं।

ये विषयासक्ति तथा अहंकार ऐसे सर्प हैं जो अपने दंसन से जीव की सारी दैवीसंपत्ति को विनष्ट कर देते हैं। जिसके मन में जितनी मात्रा में विषयासक्ति तथा अहंकार होंगे उसका मन उतनी मात्रा में सद्गुणों से वंचित होगा। शील, दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, निर्भयता, स्वच्छता, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण एवं दैवीसंपदा ही तो मनुष्य के जीवन में सुगंधी भरते हैं, और जो इन्हीं से खाली हो जायेगा, उसके जीवन में सुख-शांति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। "सकल संपदा ले गये" जिसकी सारी संपत्ति चोर

उठा ले गये हों, उसकी जो दशा होती है वह तो दूसरों की सहायता से भी तुरन्त सुधर सकती है, परन्तु जिसकी सारी सद्‌गुण-संपत्ति नष्ट हो गयी हो उसकी क्षतिपूर्ति दूसरा कौन कर सकता है! ये विषयासक्ति तथा अहंकार जीव को दीन बना देते हैं और अंततः "विष भरि लागा सोय" विष भरकर जीव को लग जाते हैं। अर्थात इन दोनों का विकराल विष जीव पर चढ़ जाता है। जिनका उतरना सरल नहीं है। अतएव सद्‌गुरु चेतावनी देते हैं कि विषयासक्ति तथा अहंकार सांप हैं। इन्हें निर्दय होकर मारो, तभी सुख से सो सकते हो।

शरीर-निर्माण, काल का पड़ाव है

घुँघुँची भर के बोइये, उपजा पसेरी आठ॥
डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात॥ 135॥
मन भर के बोइये, घुँघुँची भर नहिं होय॥
कहा हमार माने नहीं, अन्तहु चले बिगोय॥ 136॥

शब्दार्थ—घुँघुँची=घुंघची, एक लता का लाल या सफेद रंग का बीज, गुंजा। डेरा=पड़ाव, निवास। बिगोय=नष्ट।

भावार्थ—पुरुष द्वारा नारी-क्षेत्र में थोड़ी मात्रा में सजीव वीर्य सिंचन से पांच विषय एवं तीन गुण से सम्बन्धित मानो आठ पसेरी एवं मन भर का शरीर पैदा हो जाता है। और शरीर के पैदा होते ही मानो उसमें काल का पड़ाव पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं और शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई पांच विषय एवं तीन गुणयुक्त इस आठ पसेरी के निर्जीव शरीर को गाड़ दे और इससे चाहे कि एक देहधारी का पिंड पैदा हो जाये तो असम्भव है। जीवन-निर्माण का एक प्राकृतिक-क्रम है। सब कुछ या कुछ भी अचानक नहीं हो जाता है। परन्तु लोग मेरी कारण-कार्य-व्यवस्था के विचारों को नहीं समझते, अतः वे भौतिकवादी दृष्टि अपनाकर अन्त में अपने आप को खोकर चलते हैं।

अथवा सकाम कर्मों के थोड़ा बीज बोने पर भी शरीर का निर्माण हो जाता है, और शरीर का निर्माण होने के बाद मानो उसमें काल का डेरा पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं तथा शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई बहुत ज्यादा कर्म करे, किन्तु उसमें सकाम-भावना न हो तो वे ज्यादा कर्म भी जन्म के थोड़ा भी कारण नहीं बनते। परन्तु लोग मेरे विचारों पर ध्यान नहीं देते और सकाम कर्मों में डूबकर अपने आप को जन्मादि चक्कर में डालकर नष्ट करते हैं॥ 135-136॥

व्याख्या—ऊपर की दोनों साखियां एक विषय की हैं। इसलिए इन्हें एक साथ रखकर समझने की चेष्टा की गयी है। इन्हें दो तरीके से समझने का प्रयास किया गया है, जो ऊपर द्रष्टव्य है। शरीर धारण करने के दो बीज होते हैं, एक शरीर का बीज (वीर्य) एवं दूसरा मन का बीज (सकाम कर्म); इसलिए इन दोनों को लेकर ऊपर की दोनों साखियों को समझना चाहिए।

जीवन केवल भौतिक पदार्थों से नहीं बनता है; परन्तु इसमें जड़ और चेतन दोनों का योग होता है। जड़ पदार्थों से शरीर बनता है और चेतन जीव उसमें रहकर द्रष्टा, भोक्ता एवं कर्ता के रूप में स्वामित्व करता है। "घुँघुँची भर के बोइये" थोड़ा-सा वीर्य नारी-क्षेत्र में सिंतन करने से यह आठ पसेरी का शरीर पैदा होता है। यहां घुंघची भर से यह मतलब नहीं है कि ठीक घुंघची की तौल में वीर्य से शरीर बनता है। यहां घुंघची का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि थोड़े-से वीर्य से गर्भ ठहरकर शरीर का निर्माण हो जाता है, क्योंकि वह थोड़ा वीर्य भी सजीव है। उसमें जीव का निवास है जो जड़ के लक्षणों से रहित एवं अभौतिक है। कहने का अर्थ यह है कि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन नहीं निर्मित होता है। वहां जीव की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन धारण हो तब तो मनुष्य के मरने पर उसके मृतक शरीर को ही कहीं गाड़ दिया जाये और उससे कोई देहधारी पैदा हो जाना चाहिए। या यों ही भौतिक पदार्थों को इकट्ठाकर जीव का निर्माण कर लेना चाहिए। अतएव जीवन यों ही नहीं खड़ा हो जाता है। जीवन धारण करने की एक कारण-कार्य-व्यवस्था है, एक अनादि नियम है और वह है सजीव वीर्य का नारी क्षेत्र में पहुंचना। सद्गुरु कहते हैं कि मेरी इन बातों को वे लोग नहीं मानते जो केवल भौतिकवाद के चश्मे से जीवन को देखते हैं। परन्तु इस तथ्य को न मानने का फल होता है उनका विनाश। वे देह ही को सब कुछ मानकर अपनी आत्मा को, अपने अविनाशी चेतनस्वरूप को भूलते हैं। अपने आपा को भूलने वाला पतित ही होगा।

जीवन धारण का दूसरा बीज है कर्मवासना। मनुष्य सारे कर्म विषयासक्तिपूर्वक करता है। इन्हीं कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं। थोड़ा भी सकाम कर्म जीव के लिए पुनः देह धराने में कारण बनता है। इसलिए कोई भवबंधनों से छूटना चाहे तो वह सारे सकाम कर्मों का त्याग करे। यदि उसके मन में थोड़ा भी सकाम कर्म रहा, थोड़ी भी विषयासक्ति रही, तो उसे भवाब्धि में भटकना पड़ेगा। उसके जन्म-मरण के चक्कर नहीं मिट सकते। परन्तु यदि कोई बहुत कर्म करे, किन्तु उसमें उसका अपना स्वार्थ-भाव न हो, केवल दूसरे के कल्याण का भाव हो, तो वह उसके जन्म-मरण का कारण

नहीं बनेगा। सकाम कर्म थोड़ी मात्रा में हो, तो भी वह जीव को बांधता है और निष्काम कर्म अधिक मात्रा में हो तो भी वह नहीं बांध सकता। इस रहस्य को जो नहीं समझते वे या तो सकाम कर्मों में रात-दिन डूबे रहते हैं या सारे कर्मों को छोड़कर रात-दिन निठल्ले बने बैठे रहते हैं और यह ढोंग करते हैं कि हम त्यागी हैं जबकि वे मन से प्रपंचों का ही स्मरण करते हुए जन्म-मरण के बीज ही बनाते हैं। ऐसे लोग अंततः विनष्ट होते हैं।

कर्म न करने से तो जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता। हमारे जीवन-निर्वाह में अन्य हजारों लोगों का सहयोग है, इसलिए हमें कुछ ऐसे कर्म करने चाहिए जो दूसरे लोगों के कल्याण में सहयोगी हों। कर्म से ही जीवन, समाज तथा संसार में रौनक है, नहीं तो संसार श्मशान बन जाये। इसलिए हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए कर्म करे। बस, कर्म करने में इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि वह सकाम न हो। यहां सकाम का अर्थ है विषयासक्ति। हमारे कर्म इंद्रिय और मन के मलिन भोगों के लिए नहीं होने चाहिए, किन्तु अनासक्तिपूर्वक शुद्ध देहनिर्वाह, आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए होने चाहिए। उदाहरणार्थ, भोजन, भूख-ज्वाला को शांत करने के लिए हो, जीभ-स्वाद के लिए नहीं। सारा सम्बन्ध, सम्बन्धों से मुक्त होने के लिए हो, बंधनों में बंधने के लिए नहीं। नाना व्यसन, राग-रंग, मैथुन, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सर्वथा त्याग हो। अनासक्त जीव ही स्वरूपस्थिति के राज्य में प्रविष्ट हो सकता है।

"डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात" यह पंक्ति बड़ी हृदयस्पर्शी है। माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना शुरू होती है और मानो उसके साथ ही वहां काल का पड़ाव पड़ जाता है। जितने क्षण बीतते हैं जीवन क्षीण होता है। "साँझ सकारे जात"—"सुबह होती है शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है"। सबेरा हुआ और शाम हुई, ऐसे देखते-देखते जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह जीव जन्म-मरण में पड़ा हुआ सदैव क्षणभंगुरता की धारा में बहता है। शरीर का निर्माण होना ही मानो काल का डेरा पड़ना है। शरीर काल-कवलित है और जीव कालातीत है। शरीर में आना काल के चक्कर में पड़कर बारम्बार पीड़ित होना है और स्वरूपज्ञान होना काल से मुक्त होकर अमर स्थिति में पहुंचना है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह देहाभिमान को छोड़कर अमर आत्मस्वरूप की स्थिति में विराजमान हो। निजस्वरूप की स्थिति ही अमृत है, अविचल पद है और अनन्त जीवन है।

रहनी के पंचामृत

आपा तजै हरि भजै, नख सिख तजै विकार॥

सब जीवन से निर्बैर रहै, साधु मता है सार॥ 137॥

शब्दार्थ—आपा=अहंकार। साधु मता=सुविचारित पथ, उत्तम विचार, शील स्वभाव, त्याग भाव, मानवता।

भावार्थ—अहंकार को छोड़े, हरि का भजन करे, नख से शिखा तक के विकारों का परित्याग करे, सभी जीवों से निर्वैर रहे और उत्तम विचारों के पथ पर चले, यही जीवन में सार है॥ 137॥

व्याख्या—यह साखी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जीवन-कल्याण के लिए पांच उत्तम बातें बतायी गयी हैं, जिनके आचरण से जीवन महान हो जाता है। वे पांच बातें हैं—अहंकार का त्याग, हरिभजन, सर्वदोषों का त्याग, सबसे निर्वैरत्व तथा साधुमत। हम इन पर अलग-अलग विचार करें।

"आपा तजै"—आपा के तीन अर्थ हैं। आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप एवं अपना स्वत्व है, दूसरा अर्थ अहंकार है और तीसरा अर्थ सुध-बुध एवं होश है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप है। आपा कहते ही हैं अपने आप को, अपनी सत्ता एवं अपने स्वरूप को। परन्तु जब भूलवश जड़ देह को अपना आपा मान लिया जाता है कि मैं शरीर हूं, तब यह अशुद्ध ज्ञान हो जाता है। यहां पर जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया गया। इसलिए यह आपा अहंकार कहलाता है। इसी आपा एवं अहंकार को छोड़ने की बात बतायी गयी है। यद्यपि इस साखी में तीसरी बात है नख से शिखा तक के सारे विकारों को छोड़ना; जिसमें अहंकार एक विकार होने से वह आ ही जाता है। परन्तु अहंकार का सर्वाधिक महत्त्व होने से सद्गुरु ने इसे अलग से और पहलेपहल रखा है। अहंकार सारे बंधनों की जड़ है। देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों में मैं-मेरा मान लेने के बाद ही सारे बंधन बनते हैं और सारे दुखों की उत्पत्ति होती है, और मात्र एक अहंकार के छूट जाने पर सारे बंधन समाप्त हो जाते हैं।

जो अपना नहीं है उसे अपना मानना अनैतिकता है और यही बंधन बनाता है। किन्तु जो अपना हो उसे अपना मानना ठीक है। जैसे कोई मकान मेरा नहीं है, यदि मैं उसे अपना मानता हूं, उसमें घुसकर रहना चाहता हूं तो यह एक अनैतिक काम है। इससे मैं पकड़ा जाकर जेल जाऊंगा। क्योंकि मैं उस पर कब्जा करना चाहता हूं जो अपना नहीं है। परन्तु मैं जमीन खरीदकर अपना मकान बना लूं, तो वह मेरा अपना है। उसमें से मुझे न कोई निकाल सकता है, न जेल भेज सकता है और न कोई परेशान कर सकता है; क्योंकि वह तो मेरा अपना है। उसमें मैं सुखपूर्वक रह सकता हूं। यह तो उदाहरण हुआ। विचार करके देखा जाये तो मेरी अपनी आत्मा के अलावा यहां मेरा कुछ भी नहीं है। और-तो-और, यह अपनी मानी देह भी अपनी नहीं है।

अतएव यदि हम देह को अपनी मानते हैं, इसमें अहंता-ममता करते हैं, तो हम तात्त्विकदृष्टि से अनैतिक व्यवहार करते हैं। क्योंकि जो अपनी नहीं है उस देह को अपनी मानने का अपराध करते हैं। अतएव इसके फल में हमारा जेल होगा ही, हमें बंधन मिलेगा ही। सद्गुरु ने इस साखी में आपा तजने की बात कही है। इसलिए यहां के आपा का अर्थ न अपना स्वरूप है, न सुध-बुध है। क्योंकि इन्हें त्यागने की बात तो कही ही कैसे जायेगी ! बल्कि इन्हें रखना ही जीवन है। अतएव इस साखी के आपा का अर्थ है अहंकार। सद्गुरु कहते हैं कि सारे अहंकारों का परित्याग करे। देहादि के अहंकार में पड़कर ही सारा संसार जल रहा है। इसे त्यागकर ही शीतलता मिलेगी।

यहां 'हरिभजै'[1] का अर्थ विधिपरक है। मान लो हरि का अर्थ भगवान है। तो भगवान क्या हो सकता है ! भगवान के दो भेद माने जाते हैं सगुण और निर्गुण। सगुण भगवान देहधारी होता है। वह देहधारी भगवान मनुष्य है। इसलिए हरि का एक अर्थ कोशकारों ने मनुष्य भी माना है। यदि मनुष्य हरि है तो उसकी सेवा करना हरिभजन है, क्योंकि भजन का मुख्य अर्थ सेवा है। वैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य पवित्रात्मा होते हैं जिन्हें हम सन्त कहते हैं। प्राणिमात्र एवं मानवमात्र की सेवा हरि सेवा है। उसमें सन्तों की सेवा हरि सेवा है ही। यही सगुण भगवान का भजन है। प्राणिजगत ही सगुण भगवान है और उसकी सेवा ही हरिभजन है। जो लोग जीव से अलग हरि की कल्पना करते हैं, वे भी जब कहते हैं कि हरि की सेवा करना चाहिए, तब यही कहते हैं कि जीव की सेवा ही हरिसेवा है। जब जीव से हरि अलग है, तब जीव की सेवा हरिसेवा कैसे है ! वे जीव से अलग हरि की कल्पना भले करते रहें, किन्तु जीव को हटाकर हरि कुछ हाथ में आ नहीं सकता। अतएव प्राणिसेवा, मनुष्यसेवा, जीवसेवा ही हरिसेवा एवं हरिभजन है।

दूसरा हरि का स्वरूप निर्गुण है जो मानसिक तथा भौतिक आयाम से परे शुद्ध चेतन है। वह मनुष्य का अपना आपा है, अपना चेतनस्वरूप है। उसका भजन है स्मरण। भजन का एक अर्थ स्वत्व तथा एक अर्थ विभाजन भी है। अतएव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप का प्रकृति से विभाग करके, अलग करके उस स्वत्व में स्थित हो जाना ही निर्गुण हरि का भजन है। मन और भौतिक क्षेत्र से अलग शुद्ध चेतन ही निर्गुण है। वह शुद्ध चेतनस्वरूप ही तो मेरा अपना आपा एवं स्वत्व है। उसमें स्थित हो जाना ही हरिभजन है। इसलिए अन्ततः स्वरूपस्थिति ही हरिभजन है। अतएव यथाशक्ति प्राणियों की सेवा करना, संतपुरुषों की सेवा करना और अपने स्वरूप में स्थित होना, यही

---

1. 'हरि' का ऐतिहासिक अध्ययन 34वें शब्द की व्याख्या में देखें।

हरिभजन है। "कर से काम, मन से राम। कहहिं कबीर सरै दोउ काम॥" हाथ से परसेवा तथा मन से स्वरूपस्मरण एवं स्वरूपस्थिति, यही परिनिष्ठित हरिभजन है।

सगुण क्षेत्र में निर्जीव मूर्तियों, चित्रों एवं कब्रों की आरती उतारना, उनको भोग लगाना भले कोई सगुण हरिसेवा माने; परन्तु सजीव प्राणियों की सेवा ही असली हरि की सेवा है। इसी प्रकार निर्गुण क्षेत्र में अपनी आत्मा से अलग मन की कल्पनाओं एवं शून्य में भले कोई हरि को देखता फिरे, परन्तु स्वरूपस्थिति ही असली हरिभजन है। कबीर साहेब का हरि मन की कल्पनाओं का नहीं, किन्तु हृदयनिवासी आत्मस्वरूप चेतन है।

"नख सिख तजै विकार"—एड़ी से चोटी तक के सारे दोषों का सर्वथा परित्याग करे। संतजन सारे विकारों को तीन वर्गों में बांटते हैं वे हैं शरीर, वाणी और मन। शरीर के तीन दोष—चोरी, हत्या एवं व्यभिचार; वाणी के तीन दोष—गाली, निंदा और झूठ तथा मन के चार दोष—ईर्ष्या, क्रोध, मान और छल। इन सब का त्याग जीवन की विशेषता है। सद्गुरु कहते हैं कि नख से शिखा तक के सारे विकारों को त्यागना ही सच्चा भजन है। भजन की, भक्ति एवं ज्ञान की यह कसौटी है। यदि जीवन निर्दोष है तो यही जीवन की ऊंचाई है। विद्वान, बुद्धिमान, शास्त्रज्ञानी, पूज्य, प्रतिष्ठित व्यक्ति श्रेष्ठ एवं सुखी नहीं होता, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है। किसी भी वाद, किसी भी सिद्धांत, किसी भी सम्प्रदाय का अहंकार एकदम थोथा है, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है, जीवन की निर्दोषिता के समान न कोई भौतिक उपलब्धि है और न कोई सुख। निर्दोष जीवन ही स्वरूपस्थिति के साम्राज्य में प्रवेश करता है। श्रुति वचन है "यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" अर्थात आत्मसाक्षात्कार वही करता है जो धीरे-धीरे यत्नपूर्वक क्षीणदोष हो गया है। जिसने सारे दोषों को नष्ट कर दिया है, वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

"सब जीवन से निर्बैर रहे"—जीवन में 'सब' विशेषण लगाकर सद्गुरु ने सार्वभौमिक प्रेम, करुणा एवं दया करने की प्रेरणा दी है। किसी से भी वैर न करे। पर-मत वालों से वैर, पर-जाति एवं पर-वर्ण वालों से वैर, पर-घर, पर-परिवार, पर-समाज, पर-दोष वालों से ही नहीं, किन्तु किसी जीव से भी वैर न रखे। सब जीवों से निर्वैरत्व की भावना रखे। इसी में सुख है, शांति है, विजय है और समृद्धि है। आदमी मान्यता का एक घेरा बना लेता है और उस संकीर्णता में अपने मन को बन्द कर लेता है। इसलिए वह किसी से ममता तथा किसी से वैर करने लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी संकीर्णता छोड़ दो। जो व्यक्ति तुमसे वैर करता है उससे भी तुम वैर न करो। "निर्बैरी बरते

जग माहीं। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं॥"

"साधुमता"—साधुमत का अर्थ है उत्तम विचार, शील स्वभाव एवं त्यागभाव। सद्गुरु कहते हैं कि सुविचारित पथ पर चलो। अपने मन, वाणी तथा इंद्रियों का ऐसा व्यवहार करो कि दूसरे को यथासम्भव कष्ट न हो, और त्याग-भाव से रहो। साधुमत का अर्थ यह भी है कि जैसे मानवमात्र की एक जाति है, वैसे उन्हें एक जाति का समझो। ऊंच-नीच, छुआछूत आदि का पाखण्ड दूर करो। निर्जीव पदार्थों एवं पुतलों को न पूजो, किसी व्यक्ति को जगतकर्ता मत समझो। अर्थात जातिवाद, वर्णवाद, छुआछूतवाद, मूर्तिपूजावाद, अवतारवाद, देवी-देवतावाद से रहित शुद्ध आत्मज्ञानी एवं सदाचारी बनो।

उक्त पांचों बातों के हो जाने पर सद्गुरु कहते हैं कि तब जीवन का मानो सार प्राप्त हुआ। स्वरूपस्थिति-रहनी के ये पंचामृत हैं। इन्हें अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करो।

निर्पक्ष होय के हरि भजै

पछापछी के कारने, सब जग रहा भुलान॥
निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान॥ 138॥

शब्दार्थ—पछापक्षी=पक्ष-अपक्ष, लगाव तथा वितृष्णा, रुझान और उदासीनता, राग और द्वेष।

भावार्थ—मनुष्य किसी मत में तो पक्षपात एवं मोह करके उसकी सड़ी-गली बातों से भी चिपका रहता है और अन्य मतों से उदासीनता ही नहीं घृणा भी करने लगता है, इसलिए उनकी सच्ची बातों पर भी ध्यान नहीं देता। इसी राग-द्वेष के कारण सारा संसार भटका हुआ है। सद्गुरु कहते हैं कि वही प्रबुद्ध संत है जो निष्पक्ष होकर हरि-भजन करता है॥ 138॥

व्याख्या—कबीरदेव की एक-एक बात इतनी धारदार एवं शतप्रतिशत तथ्यपूर्ण होती है कि मन मूक होकर उसे सोचता ही रह जाता है। सच तो है, केवल संसारी ही नहीं, धार्मिक लोग भी राग-द्वेष में भटके हुए हैं। मनुष्य मजहब, समाज, पंथ एवं सम्प्रदाय की एक सीमा बना लेता है और उस सीमा के भीतर जो कुछ होता है उसे परम सत्य मान लेता है। चाहे उसमें कुछ बड़ी ही भोड़ी एवं निरर्थक बातें हों, परन्तु वह उन्हें छाती-पेट लगाये रखता है। किन्तु दूसरे मतों की अच्छी-से-अच्छी बातें भी नहीं स्वीकार पाता, क्योंकि वह उन मतों को तुच्छ समझता है। लोग बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि हमारे मत ईश्वर-प्रदत्त हैं, हमारी किताबें ईश्वर की वाणी हैं तथा हमारे इष्ट एवं पंथाचार्य ईश्वर के अवतार, ईश्वर के पुत्र या ईश्वर के संदेशवाहक हैं। परन्तु वे बहादुर लोग दूसरे अन्य मतों एवं ग्रन्थों को मानवकल्पित मानते हैं। वस्तुतः

वेद, बाइबिल, कुरानादि संसार की सारी किताबें मानवों की रचनाएं हैं। सारे मत-मजहब मानव के निर्धारित हैं एवं राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद आदि सारे महापुरुष केवल मानव हैं। इसलिए किसी की किताबें तथा मजहब स्वतः प्रमाण नहीं। सब की बातों पर परख की कसौटी लगाकर ही उनमें सार तथा असार का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। महाभारतकार ठीक कहते हैं—"नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" अर्थात केवल एक ऋषि नहीं है, जिसका मत प्रमाण मान लिया जाये। ऋषि बहुत हैं, इसलिए सबकी बातों पर विचार करके ही उनमें से मान्य-अमान्य किया जा सकता है। वेद-ऋचाओं के बहुत ऋषि हैं। उपनिषदों के अनेक ऋषि हैं। वैदिक छह शास्त्रों के ही कपिल, कणाद, जैमिनि, पतंजलि, गौतम, वादरायण छह ऋषि हैं और छहों के विचारों में केवल अन्तर ही नहीं, कहीं-कहीं विरोध भी है। फिर बुद्ध, महावीर, जरथ्रुस्त्र, कनफ्यूसियस, लाओत्जे, ईसा, मोहम्मद कितने नाम लिये जायें ! इनमें से किसका सत्कार तथा किसका तिरस्कार किया जाये ! इनमें से कौन अपना है, कौन पराया है ! इसलिए निष्पक्ष व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह किसी की बातों को आंख मूंदकर न माने और किसी की बातों को बिना विचार किये तिरस्कृत न करे। किन्तु परखकर सार का ग्रहण एवं असार का त्याग करे।

मनुष्य दूसरे मतों की तर्कहीन बातों को बड़ी शीघ्रता से समझ लेता है कि यह तर्कहीन है; परन्तु अपने मत की तर्कहीन बातों में चिपका रहता है। या तो उसकी तर्कहीनता पर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, या जाती भी है तो वह उसे बाहर से स्वीकार नहीं कर पाता। एक उदाहरण लें। उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में गाजीमियां की कब्र है। लोगों को अंधविश्वास है कि उस कब्र के दर्शन तथा उसके धोये हुए जल के स्पर्श से अन्धे को आंख, वंध्या को संतान एवं कोढ़ी को नीरोग्यता मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं—"बहराइच में जाकर तथा गाजीमियां के मजार एवं कब्र के दर्शन कर किस अन्धे ने आंखें पायीं, किस वंध्या ने पुत्र पाया तथा किस कोढ़ी ने नीरोग्यता पायी?"[1] दूसरे के अंधविश्वास पर इतना वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने

---

1. लही आंख कब आंधरे, बांझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ॥ दोहावली॥
अयोध्या के पश्चिमोत्तर कोण पर स्थित बहराइच शहर है जो उस क्षेत्र का जिला-कार्यालय है। इस शहर में सैयद सालारगंज मसऊद गाजी (गाजीमियां) की दरगाह है। हर साल जेठ महीने में यहां बहुत विशाल मेला लगता है। यहां कोढ़ी, अंधे, वंध्या आदि अपनी नाना इच्छाओं की पूर्ति के लिए आते हैं और चढ़ावा-बजावा करते हैं। सैयद सालारगंज मसऊद गाजी महमूद गजनवी का भांजा था। वह गाजी (वीर) बनने के लिए अवध की ओर बढ़ आया था। श्रावस्ती के राजा

वाले गोस्वामीजी अयोध्या की महिमा में लिखते हैं—"मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि चारों खानियों के अपार जीवों में से जितने जीव अयोध्या में शरीर छोड़ते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।"[1] अतः दूसरे मतों में निहित अंधविश्वास को समझना सरल है, अपने मत में निहित अंधविश्वास को समझना बड़ा कठिन है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है, केवल पक्षपात कारण है। कितने कबीरपंथी महापुरुष हैं जो एक सांस में राम, कृष्ण, व्यास, वसिष्ठ, हनुमान, ईसा, मुहम्मद सब को गिना देते हैं कि सब मर गये। परन्तु वे ही, जब कबीर पर बात आती है तब भावुक हो जाते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब का शरीर पांचभौतिक नहीं था। वे तो जब चाहे संसार में आते-जाते रह सकते हैं। न वे कभी माता-पिता से पैदा हुए और न मरण को प्राप्त हुए। वे तो पक्की देह के हैं। ये सारी बातें बेवजह का बखेड़ा है। इसमें न किसी की बड़ाई है न छोटाई। ये सब मनुष्य हैं। सब ने माता-पिता से देहधारण किया है और सब की देह एक दिन छूट गयीं हैं। उन महापुरुषों की विशेषता उनके ज्ञान एवं आचरण से है। मोक्ष किसी नदी, तालाब एवं नगर में मरने से नहीं, किन्तु स्वरूपज्ञान एवं वासना-त्याग से है। बाकी सारी महिमाएं मनुष्यों को पथभ्रष्ट करने वाली हैं।

"निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान" सद्गुरु कहते हैं कि वही ज्ञानी सन्त है जो सारे पक्षपातों को छोड़कर हरिभजन करता है। हरिभजन क्या है। इसका समाधान पिछली 137वीं साखी में किया जा चुका है। राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, हनुमान, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कबीर, नानक, बुद्ध, महावीर, दयानन्द, विवेकानन्द आदि किसी के पक्ष में सटना या इन सब में किसी को भजना-जपना हरिभजन नहीं है। किन्तु निष्पक्ष हरिभजन है प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सेवाभाव एवं यथासाध्य सेवाक्रिया, सन्तसेवा एवं स्वरूपस्थिति। निष्पक्ष हरिभजन है "कर से काम, मन से राम।" प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही "निर्पक्ष होय के हरि भजै" का अभिप्राय है। इसमें किसी के मजहबी क्रियाकलापों, देवी-देवताओं, कल्पित भगवानों का सत्कार-तिरस्कार नहीं है। किन्तु सबका सार, निष्पक्ष, तथ्यपूर्ण स्थिति है।

चमार और ब्राह्मण कौन?

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार॥
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥ 139॥

सुहृददेव के हाथों वह मारा गया था। इसी की कब्र बहराइच में बनी है जिसे लोग पूजते हैं।

1. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजै तन नहिं संसारा॥ मानस॥

शब्दार्थ—चारों बरन=चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

भावार्थ—कितने बड़े कहलाने वाले अपने मिथ्या बड़प्पन के मद में नीचे गिर गये, क्योंकि उनके रोयें-रोयें में अहंकार भरा था। सद्गुरु के द्वारा स्वरूपज्ञान पाये बिना दैहिक बुद्धि रखने वाले चारों वर्ण के लोग चमार हैं, क्योंकि उनकी समझ चाम की देह तक है॥ 139॥

व्याख्या—मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है भौतिक पदार्थों का अहंकार करना। धन, विद्या, पद, काल्पनिक जाति, शरीर, जवानी, सौंदर्य आदि भौतिक पदार्थों में मनुष्य अपना इतना तादात्म्य कर लेता है कि इन क्षणिक वस्तुओं को लेकर इतराता रहता है। सारे अहंकारों की जड़ शरीर है और उसके गलते तथा विनशते देर नहीं लगती। फिर आदमी किस चीज का मद करता है! शरीर विनशते ही सारे प्राणी-पदार्थों से जीव का संबंध कट जाता है। फिर उसका क्या रह जाता है! कुछ ईंट, पत्थर, धातु एवं कागज के टुकड़ों को बटोरकर आदमी अपने आप को धनी मान लेता है। पेट की ज्वाला शांत करने के लिए थोड़ा अन्न, तन ढकने के लिए दो टुकड़े कपड़े तथा सिर ढकने के लिए थोड़ी छत, यही तो जीवन-निर्वाह के लिए चाहिए। इससे अधिक धन का क्या घमण्ड है! मूढ़ मानव कुछ लोहा-लक्कड़ एवं कूड़ा-कबाड़ बटोरकर अपने आप के लिए धनी होने का घमण्ड कर लेता है। किसी ने ठीक कहा है—

नशा दौलत का जिस पर आन चढ़ा।
सर के शैतान पर एक और भी शैतान चढ़ा॥

विद्या का क्या घमण्ड! कुछ काल्पनिक रूढ़ियों को भाषा तथा सांकेतिक चिह्नों को लिपि कहते हैं। इन्हीं को रट-रटाकर विद्वान होने का घमण्ड होता है। सारी तथाकथित विद्याएं वस्तुओं को जानने तथा जनाने के लिए हैं। अनपढ़ उन्हें अपनी भाषा में जानते-जनाते रहते हैं। पशु-पक्षी आदि बिना भाषा का प्रयोग किये अपना शरीर-निर्वाह करते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्या नहीं पढ़ना चाहिए। अर्थ है कि सारी विद्याओं का फल है अपना और समाज का उनके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण करना, न कि उनका घमण्ड करना। घमण्ड करने से तो विद्या अविद्या बन जाती है।

सुन्दरता बहुत जल्दी मिट जाती है। जवानी जाते देर नहीं लगती। पद और अधिकार केवल दो दिन की चांदनी है। पूज्यता-प्रतिष्ठा क्षणिक हैं। इन स्वप्नवत पदार्थों का अहंकार करना भोलापन है, बचपना है। वर्णों एवं संप्रदायों का घोर अहंकार होता है। कितने स्वामी लोग दूसरे त्यागी-से-त्यागी का भी नमस्कार कर ही नहीं सकते। उन्हें कोई नमस्कार करे और वे उसकी ओर ताक दें तो बड़ी बात है। परन्तु उनको पता नहीं है कि उनको तुच्छ

समझने वाले दूसरे संप्रदायाभिमानी उनसे बढ़-चढ़कर हैं। यहां तो सब तथाकथित ईश्वर एवं सत्य के इकलौते पुत्र एवं ठेकेदार हैं। अमुक संप्रदाय का नाम लेना बेकार है, घमण्ड राजा, जिसके अन्दर केवल भूसी एवं भंगार है, सबके ऊपर खड़ा गरजता है।

वर्णव्यवस्था की लाश सड़ गयी है और उसमें से केवल बदबू निकल रही है, परन्तु उसको लेकर अहंकार में कमी नहीं है। तथाकथित ब्राह्मण ही अहंकारी हों ऐसी बात नहीं है। दूसरे वर्ण एवं जाति के कहलाने वाले लोग भी अहंकार के बुखार से पीड़ित हैं। आज भी एक आदमी दूसरे आदमी को जन्मजात अछूत मानने का पाप करता है। जबकि दोनों हाड़-मांस के ढांचे हैं। दोनों के पेट में टट्टी-पेशाब भरी है। जब तक अविनाशी स्वरूप-राम का बोध नहीं है, जब तक यह माना जाता है कि मैं देह हूं, तब तक चारों वर्ण के लोग चमार हैं। कबीर देव तीखे वचन कहते हैं "सद्गुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार।" सारे अहंकारों का मूल देह है, अतः जब तक आदमी जाति, वर्ण आदि का अहंकार करता है, तब तक वह केवल चमार है। जीव एवं आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धादि नहीं है। वह शुद्ध चेतन है। वर्ण, जाति आदि के सारे भेद देह में ही कल्पित किये जाते हैं, इसलिए वर्णादि का अहंकार करने वाले चाम की देह की बुद्धि रखने वाले हैं, इसलिए वे चमार हैं। कबीर साहेब ने एक वर्ण को चमार नहीं कहा। उन्होंने सारे देहाभिमानियों को चमार कहा।

एक मनोरंजक कहानी है। मिथिला में राजा जनक की सभा लगी थी। सभा में ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मजन विद्यमान थे। वहां एकाएक अष्टावक्र मुनि आ गये। उनके आठों अंग टेढ़े थे। वहां सभी ज्ञानी राजा जनक को ब्रह्मज्ञान देने आये थे। अष्टावक्र भी जनक को ज्ञान देने ही गये थे। अष्टावक्र को देखकर पूरी सभा हंस पड़ी। अष्टावक्र ने भी सभा को देखकर हंस दिया। सभा के ज्ञानियों ने अष्टावक्र से पूछा—"आप क्यों हंसे?" अष्टावक्र ने उलटकर ज्ञानियों से पूछ लिया कि आप लोग क्यों हंसे? ज्ञानियों ने कहा—"हम लोग यह सोचकर हंसे कि अष्टावक्र आठों अंगों के टेढ़े हैं और ये राजा जनक को ज्ञान देने आये हैं।" अष्टावक्र ने कहा—"मैं यह सोचकर हंसा कि ये चमारों की मण्डली राजा जनक को ज्ञान देने के लिए बैठी है।" सभा के लोग अष्टावक्र पर क्रुद्ध हो गये कि आपने हमें चमार क्यों कहा! अष्टावक्र ने कहा कि जो चाम की बुद्धि रखता हो वह चमार नहीं तो क्या है! आप लोग मेरे चाम की देह ही को तो देखकर हंसे हैं कि यह टेढ़ी-मेढ़ी है। गन्ना टेढ़ा होकर भी उसके अन्दर का रस टेढ़ा नहीं होता। नदी टेढ़ी होने पर भी उसका पानी टेढ़ा नहीं होता। महत्त्व देह का नहीं, ज्ञान का है।

अष्टावक्र के सटीक उत्तर पाकर ब्रह्मसमाज लज्जित हो गया।

अतएव एक मानव जाति में यदि भेद किया जाये तो केवल दो जातियां बनती हैं एक चमार तथा दूसरा ब्राह्मण। जो अपने आप को देह मानता है वह चमार है और जो अपने आप को चेतन आत्मा मानता है वह ब्राह्मण है।

बिना अहंकार का त्याग किये मोटी माया का त्याग निरर्थक है

माया तजे क्या भया, जो मान तजा नहिं जाय॥
जेहि माने मुनिवर ठगे, सो मान सबन को खाय॥ 140॥

शब्दार्थ—माया=मोटी चीजें, घर-परिवार। मान=अपने में बड़प्पन का घमण्ड एवं पूज्य होने का भाव। माने=मान्यता, अहंता-ममता।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, घर, धन त्यागकर कोई साधुवेष धर लिया तो क्या विशेषता हो गयी, यदि उसने अपने माने हुए बड़प्पन का घमण्ड नहीं छोड़ा। जिस बड़प्पन के अहंकार ने बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों को पथभ्रष्ट कर दिया, वही अहंकार आज भी सबको भ्रष्ट कर रहा है॥ 140॥

व्याख्या—पिछली साखी में सद्गुरु ने ज्यादातर वर्ण-जाति के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में विरक्त नामधारियों के अहंकार पर चोट है। साधु का वेष ही मृतक का चिह्न है जिसमें पूरी विनम्रता है। जो संसार से मर गया, उसे क्या अहंकार हो सकता है! संसार में जीव देह को छोड़कर चला जाता है तब उसे मरना कहा जाता है, और साधु दशा में मन के सारे अहंकार जब समाप्त हो जाते हैं तब उसे साधुत्व कहा जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि कितने लोग साधु का वेष धारण करने पर अहंकार की महामूर्ति हो जाते हैं। धन का नशा, विद्या का नशा, पद का नशा तो होता ही है, त्याग का भी नशा आ जाता है। सारे नशा जीव को पतित करने वाले हैं। आप पुराण तथा महाकाव्य पढ़िये तो पता चलेगा कि ऋषि-मुनि कैसे थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर एक दूसरे को शाप देते, मारा-मारी करते, एक दूसरे के आश्रम जलाते थे। वसिष्ठ विश्वामित्र का तथा विश्वामित्र वसिष्ठ का विध्वंस करते हैं। जितना त्याग और तप उससे कहीं ज्यादा क्रोध और अहंकार! बाहरी त्याग तब तक निरर्थक है जब तक मन पूर्ण अहंकार का त्यागी नहीं होता।

अहंकारी आदमी भ्रांति में जीता है। कोई अपने मत को पुराना तथा युक्तियुक्त बताता है तो कोई अपने मत को। कोई अपने मत को ईश्वर की नाक की सिधाई में बताता है तो कोई अपने मत को अल्लामियां की आवाज। वे अलग-अलग समझते हैं कि केवल वे ही सत्य को समझ सके हैं। आज तक लोगों ने केवल ईश्वर के विषय में कल्पनाएं की हैं, ईश्वर ने किसी को अपना कोई संदेश नहीं दिया है। परन्तु ऐसा भी मिथ्याभिमान किया गया है

कि हमने ईश्वर से मुलाकात की है। उसने हमें ही संसार को तारने की ठेकेदारी दी है। संसार में हजारों मत हैं। उनमें अधिकतम ऐसे हैं जो अपने आप को आस्तिक तथा दूसरे को नास्तिक माने बैठे हैं। ये सारे अहंकार मिथ्या हैं। सभी मनुष्य मूलतः समान हैं। जो जितना ही प्रेम, समता, एकता, निर्मानता, सर्वभूतहित की भावना रखता है वह उतना ही वास्तविकता को समझता है।

माया से वैराग्य

माया के झक जग जरे, कनक कामिनी लाग॥
कहहिं कबीर कस बाँचिहो, रुई लपेटी आग॥ 141॥

शब्दार्थ—झक=सनक, खब्त, धुन, पागलपन, ताप, आंच, आग की लपट। कनक=धन, अर्थ। कामिनी=काम-मद वाली स्त्री, कामवासना। लाग=आसक्ति।

भावार्थ—संसार के लोग अर्थ और काम-भोग में आसक्त होकर माया रूपी आग की लपट में जलते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य ! तुम उसी प्रकार माया में आसक्त होकर जलने से बच नहीं सकते, जैसे आग में लिपटी हुई रुई नहीं बच सकती॥ 141॥

व्याख्या—सद्गुरु ने 139वीं साखी में वर्णाभिमान पर एवं 140वीं साखी में त्यागियों के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में वे मोटी माया की आसक्ति पर चोट करते हैं। मोटी माया को व्यंजित करने के लिए हिन्दी-जगत में कनक-कामिनी शब्द मानो एक मुहावरा बन गया है। वैसे बृहत् हिन्दी कोश में कनक के अर्थ गेहूं का आटा, सोना, धतूरा, पलाश, कालीय वृक्ष, नाग केशर और चम्पा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कनक का स्थूल अर्थ सोना है। इसी प्रकार कामिनी के अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री, कामनायुक्त स्त्री, सुन्दरी स्त्री, भीरु स्त्री, मदिरा, दारुहल्दी तथा बांदा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कामिनी का अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री है। कनक का यहां शाब्दिक अर्थ केवल सोना माना जाये तो विचारकर देखिए कि आज कितने लोग हैं जो सोना में आसक्त हैं ! ज्यादातर लोग कागज के रुपये, मकान, जमीन, कपड़े, बरतन, गहने आदि में आसक्त हैं। इसलिए यहां सोना का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करना चाहिए, वह है जड़ पदार्थ, जिसे धन के रूप में माना गया है। कामिनी का यहां शाब्दिक अर्थ है स्त्री। परन्तु आखिर स्त्री भी तो जीव ही है। उसके लिए भी तो माया ही बन्धन है। यदि पुरुष के लिए स्त्री की आसक्ति बन्धन है, तो स्त्री के लिए पुरुष की आसक्ति बंधन है। अतएव यदि पुरुष के

लिए स्त्री माया है, तो स्त्री के लिए पुरुष माया है। पुरुष वैराग्य-पथ का पथिक अधिक हुआ। पुरुष के मन में स्त्री-देह की आसक्ति है। इसलिए जब उसके मन में स्त्री-देह के लिए आकर्षण आया, तब उसने अपने मन को उससे विरत करने के लिए स्त्री-देह में दोषदर्शन किया, उसे माया तथा आग कहा। विरक्त पुरुष ही ज्यादातर लेखक हुए। इसलिए उन्होंने कनक के साथ कामिनी शब्द का प्रयोग करके धन और स्त्री से विरक्त होने के लिए कविताएं लिखीं। यहां स्त्री को गलत मानने का अभिप्राय नहीं है; किन्तु कामासक्ति से मुक्त होने का अभिप्राय है। इसलिए कबीर साहेब ने कनक-कामिनी के नाम जहां लिये, वहां उन्होंने उसे माया कहा। परन्तु जब उन्होंने नर-नारी की समानता की बात कही तब उन्होंने कहा "को पुरुषा को नारी"[1] तथा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।"[2]

इस विचार-मंथन से यहां कनक-कामिनी का लक्षणार्थ है अर्थ और कामभोग। संसार के स्त्री और पुरुष अर्थ और कामभोग में डूबकर माया की आग में जल रहे हैं। प्राणी-पदार्थ माया हैं, यह कथन सापेक्ष है। वस्तुतः जब हमें प्राणी और पदार्थों में मोह हो जाता है तब वे हमारे लिए माया बन जाते हैं। इसलिए हमारे मन का मोह ही माया है। यदि हमें कहीं मोह न हो तो, हमारे लिए कहीं माया नहीं है। आदमी इन्द्रियों के भोग में आसक्त होता है। आसक्तिवश उसे अधिक धन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस प्रकार विषयासक्त आदमी कामभोग और धन में आसक्त होकर रात-दिन उसकी आग में जलता है। इच्छा, तृष्णा, अपूर्ति, खिन्नता, अभाव, असंतोष, क्षीणता, वियोग आदि ही तो माया की आग है। जो धन और भोगों में आसक्त होगा वह इन सब की आग में जलेगा ही। सद्गुरु ने इसके लिए अत्यन्त सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दिया है "रुई लपेटी आग"। रुई आग में लिपट जाये, तो उसका जलना निश्चित है। इसी प्रकार जो धन और काम-भोग में लिपटा है उसका माया की आग में जलना निश्चित है। 'झक' का अर्थ सनक भी है। इससे अर्थ होगा कि माया के पागलपन में पड़कर आदमी जलता है।

विवेकवान कामभोग का एकदम त्याग कर देता है और धन से अनासक्तिपूर्वक केवल शरीर-निर्वाह लेता है। वह सभी नर-नारियों को सजाति जीव जानकर सबसे विवेकपूर्वक बरताव करता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को त्यागकर जीते जी मुक्त होकर कालपेक्ष करता है।

माया जग साँपिनि भई, विष ले पैठि पताल॥

---

1. शब्द 48, 75।
2. शब्द 97।

सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काछ॥ 142॥

शब्दार्थ—माया=विषयासक्ति। पताल=हृदय, मन। काछ=त्याग, बचाकर अलग हो जाना।

भावार्थ—संसार में माया भयंकर सर्पिणी हो गयी है जो विषयासक्ति रूपी विष को लेकर मनुष्य के हृदय में पैठ गयी है। संसार के सारे लोग इस बन्धन में बंध गये हैं, परन्तु कबीर इससे अपने आप को बचाकर अलग हो गये॥ 142॥

व्याख्या—कबीर तीव्र विरक्त पुरुष थे। उनको गृहस्थ बताने वाले गहरी भूल में हैं। कबीर की वाणी-वाणी में वैराग्य की तीव्रता है। वे कहते हैं कि संसार के सांप सांप नहीं हैं। उसके काटने से तो केवल शरीर मर सकता है। परन्तु यह माया भयंकर सर्पिणी है। माया है कामभोग, माया है प्राणी-पदार्थों का लोभ-मोह। इस माया सर्पिणी के डसने से जीव अपने कल्याण से दूर हो जाता है। माया आसक्ति का जहर लेकर मनुष्य के हृदय में घुस जाती है। "विष ले पैठि पताल" बड़ा मार्मिक वचन है। किस तरह विषयों का अध्यास मनुष्य के हृदय की गहराई में धंस जाता है, इसे विवेकवान ही समझता है। विषयासक्त मन पूरी जागृति अवस्था में विषयों का चिन्तन करता है, स्वप्न में उसी का विलास करता है तथा सुषुप्ति में उसी के बीज उसमें लीन रहते हैं। विषयसुख जो वस्तुतः सर्प है, विष है, फांसी है और इन सबसे भी भयंकर है, अज्ञानवश जीव ने उसे ही अमृत मान रखा है। इसलिए वह मलिनता से अपने आप को छुड़ा नहीं पाता! तीव्र घृणादृष्टि हुए बिना विषयों के अध्यास नहीं छूट सकते। यह मानसिक नियम है कि जिससे तीव्र घृणा होती है हृदय से उसी का अभाव होता है। विषय-वासना ही माया है। इसका पूर्ण त्याग हुए बिना स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती और विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग तभी होगा जब उनसे घृणा हो, उनमें दोष-दर्शन हो।

सारा संसार विषय-वासना में डूबा है। बिरले सुज्ञ जीव इससे मुक्त होने का प्रयास करते हैं। नीम के कीड़े नीम में आनन्द मानते हैं, गोबर के कीड़े गोबर तथा मल में ही आनन्द मानते हैं, इसी प्रकार जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में इतना डूब गया है कि उसे विषय ही सुखप्रद लगते हैं, जबकि सारी पीड़ाओं का कारण विषय-वासना ही है। जैसे तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट, गांजा-भांग एवं शराब की आदत में डूबे आदमी उनसे नाना दुख पाकर भी उन्हीं में लीन रहते हैं, वैसे विषयों से ही सारा कष्ट पाते हुए भी जीव व्यामोहवश एवं मायावश पुनः-पुनः उन्हीं में डूबता है।

"चले कबीरू काछ" इसमें कबीरू और काछ दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। 'कबीरू' शब्द का सद्गुरु अपने आप के लिए भी प्रयोग कर सकते हैं और

सामान्य मुमुक्षु के लिए भी। यह तो निर्विवाद है कि सद्गुरु ने 'कबीर' शब्द का प्रयोग बीजक में अपने नाम के साथ-साथ सामान्य जीवों के लिए भी किया है, जिसे आप 86वें शब्द में देख सकते हैं। जिसमें एक बार 'कबिरा' तथा चार बार 'कबीरा' शब्द का प्रयोग करके अन्त में छठवीं बार 'कहहिं' के साथ 'कबीर' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां का अर्थ है कि कोई मुमुक्षु जीव ही विषय-वासनाओं से बचकर या उन्हें त्यागकर अलग हो जाता है। वह संसार में धन्य है जो विषय-सर्प को मारकर अपनी स्वरूपस्थिति रूपी गुहा में विराजमान होता है।

साँप बिच्छू का मन्त्र है, माहुरहू झारा जाय॥
विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय॥ 143॥

शब्दार्थ—मन्त्र=राय, सलाह। माहुर=विष, जहर। झारा=गिराया। पाले=वश में, चंगुल में।

भावार्थ—सर्प तथा बिच्छू के काट और छेद लेने पर उनके विष को दूर करने के लिए वैद्य एवं डॉक्टरों की अनेक राय हैं। खाया हुआ विष भी औषध देकर टट्टी एवं वमन द्वारा गिराया जा सकता है। परन्तु भयंकर स्त्री के चंगुल में फंस जाने पर उसके विष से छुटकारा पाना कठिन है। वह पुरुष का कलेजा निकालकर खा लेती है॥ 143॥

व्याख्या—यह प्रश्न किया जा सकता है कि कबीर साहेब यह मानते हैं कि सांप तथा बिच्छू के काटने एवं छेदने पर उसके विष को दूर करने के लिए मन्त्र होते हैं। इस प्रकार कबीर साहेब मन्त्र को मानते हैं। इसका उत्तर है कि मन्त्र का जो अर्थ 'चल छू' मान रखा है वह एक महाभ्रम है। मन्त्र का मुख्य अर्थ ही है राय एवं सलाह। कबीर साहेब ने सारे पाखण्डों का खण्डन किया है तो वे छू मन्तर को कैसे मान सकते हैं! "मन्त्र तन्त्र सब झूठ है, मत भरमो जग कोय" यह साखीग्रन्थ की साखी छूमंतर के पाखण्ड को एकदम काटती है। विवेक और विज्ञान दोनों छूमंतर का खण्डन करते हैं। मान लो किसी को बिच्छू ने छेद लिया, तो झाड़ने वाले ने मन्त्र पढ़ना शुरू किया "छ कारी, छ पियरी, छ भूरी, अठारहों चली गंगा नहाय। बिच्छू उतरे पोढ़-पोढ़, बिच्छू उतरे नख के पोढ़, गौरा पारबती की दोहाई, लोना चमाइन की दोहाई, चल छू...।" तो क्या इतने शब्द कहने से विष उतर जायेगा? विष द्रव्य होता है। वह रक्त में घुल जाता है। वह कुछ शब्द कहने से उतर कैसे जायेगा! वह दवा करने से ही उतरेगा। जहां मन्त्र से झाड़ने से विष उतरता दिखे, वहां समझना चाहिए कि या तो वे बिच्छू या सर्प जहरीले नहीं थे या तो झाड़ते समय झाड़ने वाले ने चुपके से किसी दवाई का प्रयोग किया है। संपेरों को

जब सांप काटता है, तब वे झाड़ते नहीं, किन्तु दवा करते हैं। वे दूसरों को बेवकूफ बनाने के लिए उन्हें भले झाड़ते हों, परन्तु अपने लिए मन्त्र से न झाड़कर दवा ही करते हैं। विज्ञान झाड़-फूंक को बिलकुल नहीं मानता। वह दवा को ही मानता है। इन पंक्तियों के लेखक के सामने की कई घटनाएं हैं जिनमें मनुष्य को विषधर सर्प ने काटा और लोग झाड़ते-फूंकते रह गये, परन्तु आदमी मर गया और जहां दवा की गयी, आदमी बच गया। आजकल सर्प के विष का ही इंजेक्शन होता है जो बड़े नगरों के अस्पतालों में होता है। उसके लग जाने पर सर्प से डसा आदमी बिलकुल बच जाता है।

जादूगर मन्त्र के बल पर मिठाई, रुपये, घड़ी आदि तुरन्त बना देते हैं। वे हाथ आकाश में लहराते हैं और मन्त्र के बल पर उनके हाथ में उनकी मनचाही वस्तुएं आ जाती हैं—ऐसी बातें केवल भ्रमपूर्ण हैं। मन्त्र से कोई वस्तु नहीं बन सकती। मिठाई बनाने के लिए शकर, घी, मैदा, बेसन, कढ़ाई, चूल्हा, आग तथा हलवाई चाहिए, तब मिठाई बनती है। घड़ी बनाने की बात लो। उसके लिए पहले लोहा जिस पत्थर से मिलता है, उस पत्थर को तोड़कर लोहा के कारखाने में लाना होता है। पत्थर गलाकर उसे शुद्ध कर ढालते हैं, पीछे छड़ बनाते हैं। फिर पतली सींक। उसके बाद छोटे-छोटे पुर्जे बनते हैं। तब उसके बाद घड़ी बनायी जाती है। सिक्के ढालने की बात भी ऐसी ही है। केवल आकाश में हाथ लहराकर मन्त्र फूंक देने से कुछ भी नहीं बन सकता। परंतु धूर्त ऐसे-ऐसे झांसे में संसार को डालते हैं और मूर्ख इस झांसे में पड़ते हैं। नकली नोट बनाते कोई पकड़ा जाये तो सरकार उसे कड़ा दण्ड देती है। परन्तु जादूगर नामधारी कचहरियों के सामने ही हाथ की सफाई से नोट दिखाकर कहते हैं कि हमने मन्त्र के बल पर इन्हें बना दिये हैं और उन्हें सरकार नहीं पकड़ती। क्योंकि सरकार जानती है कि हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट, दवाई आदि से जादूगर कुछ-का-कुछ दिखाते हैं। इसमें कोई सार नहीं है।

धूर्त लोग ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए मन्त्र सिद्ध करने का झांसा देकर मूर्खों को ठगते हैं। भला, किन्हीं शब्दों को दोहरा देने से संसार की धन-दौलत वहां कैसे आ जायेगी ! मान लो, किसी ने मन्त्र पढ़ा "ओम् लवंग चले, सुपारी चले, चन्द्रमा-सूरज का बहन चले, तैंतीस करोड़ देवता का बहन चले, आगे अगाड़ी, पीछे पछाड़ी ताला तोड़ भण्डार खोल, रिद्धि-सिद्धि खींच लाओ मेरे पास, गुरु सकत मेरी भगति। पुरो मन्त्र ईश्वरम् वाचा।" क्या इस तथाकथित ऋद्धि-सिद्धि के मन्त्र को बारम्बार दोहराने से मनचाही धन-दौलत तुरत-फुरत में मिल जायेगी? बिलकुल झूठ। धन-दौलत के लिए मनुष्य को परिश्रम करना चाहिए। अतएव मन्त्र-तन्त्र सब धोखा है, जो

मनुष्य को ठगने के लिए है। इतना ही क्या, फलित ज्योतिष का ढकोसला मनुष्य को ठगता है। इस व्यामोह से अखबार वाले भी नहीं बचे हैं। करीब-करीब हर अखबार में राशिफल दिया जाता है जो केवल मनुष्य को बेवकूफ बनाने वाला है। इसी प्रकार दिशाशूल, शकुन, अपशकुन, स्वप्न-विचार, अंग फड़कने का विचार आदि सब मानसिक भ्रम है। शरीर में हवा है, इसलिए कभी-कभी वायुविकार होने से अंग फड़कते हैं। उनमें शकुन-अपशकुन मानना निरर्थक है।

"माहुरहू झारा जाय" का अर्थ यही है कि किसी ने विष खा लिया है तो उसे दवाई खिलाकर, उसे टट्टी एवं उलटी कराकर उसके शरीर से जहर निकाल दिया जा सकता है। परंतु "विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय" भयंकर स्त्री के चंगुल में फंसे हुए पुरुष का वह कलेजा निकालकर खा जाती है। यहां पहला अभिप्राय है कबीर साहेब का वैरागीपन। वे अखण्ड वैराग्यवान पुरुष थे। जहां काम-भोग का प्रसंग आता है वे स्त्री-देह की तीव्र आलोचना करते हैं। इसमें स्त्रियों के प्रति द्वेष एवं घृणा का अर्थ लगाना वैरागीपन की मानसिकता को न समझना है। स्त्री-देह की प्रशंसा करने वाले ही स्त्रियों को नरक में ढकेलने वाले होते हैं। वे स्त्रियों को भोग की मशीन मानकर उनके साथ अत्याचार करते हैं। परन्तु स्त्री-देह से घृणा करने वाले वैराग्यवान संत स्त्री को मां-स्वरूपा मानते हैं। वे उनको कभी संताप नहीं देते। संत कभी स्त्री जाति के पतन में कारण नहीं होते, बल्कि उनकी उन्नति के कारण होते हैं। इसलिए कबीर साहेब जैसे तीव्र वैरागी संत ने अपने ग्रन्थ-रत्न बीजक में नर-नारी की समानता को मुक्त कंठ से सराहा है। उन्होंने कहा है "को पुरुषा को नारी" अथवा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा"[1] आदि।

स्त्री-देह की निंदा वैरागी-पुरुषों की अपनी मानसिक कमजोरी है। कितने वैरागी संत पूर्ण अनासक्त हैं; परन्तु वे दूसरे वैरागी पुरुषों को सजग रहने के लिए स्त्री-देह में घृणा उत्पन्न कराने के लिए ऐसे शब्द कहते हैं। परन्तु यही सब बातें कल्याणार्थी नारियों को पुरुषों के प्रति भी चाहिए। वस्तुतः न नारी के लिए नर दोषी है और न नर के लिए नारी दोषी है। दोष है अपने-अपने मन की आसक्ति का। उसे विवेकपूर्वक ध्वंस करना चाहिए। फिर इस साखी में "बिकट नारी" कहने से कर्कसा नारी का भी अभिप्राय हो सकता है। जिसको कर्कसा स्त्री पत्नी के रूप में मिल जाती है उसका जीवन पीड़ित हो जाता है। एक कवि ने कर्कसा स्त्री का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

---

1. शब्द, 48, 75, 97।

सासु के देखे सिंहनी सी जमुहाई लेत,
ससुर के देखे डाकिनी सी डरपावती।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठि,
देवर के देखे बाघिनी सी मुख बावती।
भनत प्रधान मूंछें जारति परोसिन की,
खसम के देखे खाँव-खाँव करि धावती।
कर्कसा कसाइन कुबुद्धिन कुलक्षिनि ये,
कर्म के फूटे घर ऐसी नारि आवती।

परन्तु उक्त कुलक्षणों से संयुक्त पुरुष भी होते हैं, जो अपनी पत्नी के लिए दुर्भाग्यस्वरूप होते हैं। अच्छे संस्कारों से संयुक्त नर तथा नारी भी होते हैं जो एक दूसरे के लिए सहयोगी एवं मित्र होते हैं। इतना तो तय है कि जो स्त्री या पुरुष मुमुक्षु हैं, उनके लिए पति या पत्नी की अनुकूलता फांसी एवं विष के तुल्य है। क्योंकि वे एक दूसरे की अनुकूलता के चक्कर में फंसकर विषय-वासना की फांसी से नहीं उतर सकते। इसलिए वैराग्यवान नर तथा नारी को विरोधी आलंबन से सदैव दूर रहना चाहिए।

तीनों गुणों पर विजयी बनो

तामस केरे तीन गुण, भँवर लेइ तहाँ बास॥
एकै डारी तीन फल, भाँटा ऊख कपास॥ 144॥

शब्दार्थ—तामस=अंधकार, जड़, तमःप्रधान माया। तीनगुण=सत, रज तथा तम। भँवर=मन, अर्थात मनवशी जीव। बास=गंध, वासना, निवास, आसक्ति। एकै डारी=माया, जड़-प्रकृति। भाँटा=तमोगुण। ऊख=सतोगुण। कपास=रजोगुण।

भावार्थ—तमःप्रधान माया के सत, रज तथा तम तीन गुण हैं। इन्हीं में वासनावशी जीव आसक्त हैं। एक ही डाली में भांटा, ऊख और कपास फले हों तो यह अद्‌भुत घटना होगी। माया एवं प्रकृति में यही घटना घटी है। यहां सत, रज और तम एक ही प्रकृति में विद्यमान हैं॥ 144॥

व्याख्या—तामस कहते हैं अंधकार को, सर्प को एवं माया को। "माया जग साँपिनि भई" यह 142वीं साखी में देख आये हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि सत, रज तथा तम—तीनों गुण माया के पेट में हैं। अथवा एक माया की डाली में ये तीनों गुणरूपी फल फले हैं जो परस्पर विरोधी हैं। आप किसी एक डाली में भांटा, ऊख और कपास को फले हुए देखें, तो आश्चर्य अवश्य होगा। माया एवं प्रकृति की डाली में यही बात है। इसमें परस्पर विरोधी तीनों गुण एक साथ रहकर जगत का कार्य संपादित करते हैं। आप जानते हैं कि

तेल, बत्ती और आग परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, परन्तु वे इकट्ठे होकर प्रकाश बन जाते हैं और लोगों को प्रकाश देते हैं। इसी प्रकार सत, रज एवं तम गुण विरोधी होकर भी जगत के कार्यों का संपादन करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव का मन-भंवरा इसी त्रिगुणात्मक जगत के पदार्थों में गंध लेता रहता है। यह इन्हीं मलिन विषयों में निरन्तर रमता रहता है, और इसके फल में सुख-दुख भोगता रहता है। यह ठीक है कि सत, रज एवं तम गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु हैं सब क्षणिक। गीताकार कहते हैं—"सतोगुण उच्च गति को, रजोगुण मध्य गति को तथा तमोगुण निम्न गति को ले जाते हैं।"[1] इसलिए गीताकार तीनों गुणों के कार्यों से अलग होने की राय देते हैं "हे अर्जुन! सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार की ही व्याख्या करने वाले हैं। इसलिए तुम वेदों के उपदेशरूप तीनों गुणों के आयाम से अलग हो जाओ। तुम द्वन्द्वरहित, नित्य सत्य में स्थित और भौतिक पदार्थों के संग्रह तथा उनकी रक्षा से विरत होकर अपने आत्मा में लीन हो जाओ।"[2] श्री रामरहस साहेब कहते हैं—"पारख सबकी थीर पद, ठहरि रहे सत्संग। मन माया कृत गुणन को, देखे मिथ्या भंग।"[3]

प्रश्न होता है कि ज्ञानी-से-ज्ञानी पुरुष भी जब तक शरीर में है तब तक उसे तीनों गुणों के कार्यों में बरताव करना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके शरीर और मन तीनों गुणों के कार्य हैं। केवल समाधि काल ही गुणातीत-अवस्था है जो थोड़े समय के लिए होती है। वस्तुतः विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका बरताव करते हैं। दुरुपयोग करने से अच्छी वस्तु भी बुरा परिणाम देती है और सदुपयोग करने से बुरी वस्तु भी अच्छा परिणाम देती है। अन्न अमृत है, परन्तु उसका दुरुपयोग किया जाये, उसे ज्यादा खा लिया जाये या उसे गलत पकाकर खाया जाये तो वह जहर बन जायेगा और स्वास्थ्य के लिए अहितकर होगा; परन्तु कालकूट भयंकर विष है, उसे शोधकर औषध बना लिये जाने पर वह अमृत का काम देता है।

सतोगुण के कार्य ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता हैं। विवेकवान पुरुष इनका स्वरूपज्ञान, चित्त की स्वच्छता एवं समाधि के लिए प्रयोग करता है। रजोगुण के कार्य इच्छा एवं क्रियाशीलता हैं। विवेकवान इसका अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह तथा दूसरों की सेवा के कार्यों में उपयोग करता है। तमोगुण के

---

1. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
   जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ गीता 14/18॥
2. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ गीता 2/45॥
3. पंचग्रन्थी, गुरुबोध 217।

कार्य आलस्य, निद्रा तथा निष्क्रियता हैं। विवेकवान इनका उपयोग अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए निद्रादि में करता है।

इस प्रकार विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका अनासक्तिपूर्वक अपने तथा दूसरे के आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण में उपयोग करता है। इसलिए उसके लिए तीनों गुण बन्धन न बनकर कल्याण में सहायक हो जाते हैं।

मन-हाथी पर विवेक-अंकुश चाहिए

मन मतंग गइयर हने, मनसा भई सचान॥
जन्त्र मन्त्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान॥ 145॥

शब्दार्थ—मतंग=हाथी। गइयर=हाथीवान, महावत। हने=मारता है। मनसा=मन से उत्पन्न, इच्छाएं। सचान=बाज पक्षी। जन्त्र=यंत्र, अंक या अक्षरों से युक्त विशेष आकार का कोष्ठ जिनमें देवताओं का वास मानते हैं, यामल नाम के ग्रन्थ में तन्त्र का वर्णन है। मन्त्र=कुछ वह शब्दसमूह जिसके जप से किसी देवता की सिद्धि या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति होना मानते हैं।

भावार्थ—मन उन्मत्त-हाथी के समान है, यह जीवरूपी महावत को मारता रहता है और इच्छाएं बाज-पक्षी के समान हैं, वे उड़-उड़कर मनुष्य को खाती रहती हैं। इन पर यन्त्र-मन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता॥ 145॥

व्याख्या—जीव अविनाशी चेतन है और मन एक आभ्यासिक वृत्ति मात्र है; किन्तु जीव अपने स्वरूप को भूलकर दीन बन गया है और उसकी बनायी वृत्ति ही उसके ऊपर सवार हो गयी है। महावत हाथी पर सवार होकर गजबाज एवं अंकुश से उसको अपने वश में रखता है। परन्तु यदि हाथी उन्मत्त हो जाये तो वह महावत को गिराकर मार देता है। हाथी एक प्राणवान स्वतंत्र देहधारी है, इसलिए वह महावत को मार सकता है। परन्तु मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो जीव को बलात मार दे। मन तो इसलिए जीव को परेशान करता है क्योंकि जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में ही लीन रहता है। यदि जीव अपने स्वरूप को पहचान ले और अपने आप में स्थिर हो जाये तो मन उसका गुलाम हो जायेगा। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जो इच्छाओं को छोड़ देता है, मन उसके अधीन हो जाता है। परन्तु ऐसा न होने से जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता और विषयों में डूबा रहता है। इसलिए उसे मन उद्वेगित करता रहता है और उसकी विषय-इच्छाएं बाजपक्षी की तरह उस पर झपट्टा मारती रहती हैं।

सद्गुरु ने मन और उसकी इच्छाओं के लिए क्रमशः उन्मत्त हाथी और बाजपक्षी के सुन्दर एवं सटीक उदाहरण दिये हैं। मन और इच्छाएं यद्यपि

हाथी और बाजपक्षी के समान कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखते; वे केवल जीव के आभास मात्र हैं, तथापि जीव के अपने अज्ञानवश मानो वे स्वतन्त्र बलशाली होकर जीव को गिराने में समर्थ हो गये हैं। बीड़ी और तम्बाकू की आदत कौन-सी स्वतन्त्र शक्तिवान इकाई है, परन्तु जीव उसमें पड़कर उसी से अपने आप को परास्त पाता है। अविवेकी मनुष्य मन और वासनाओं में निरन्तर उलझा हुआ उनका गुलाम बना रहता है।

सद्गुरु कहते हैं—"जंत्र मंत्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान" जैसे बाजपक्षी उड़-उड़कर कमजोर पक्षियों को मार-मार कर खा रहे हों, वैसे मनुष्य की अपनी ही बनायी इच्छाएं उसे खा रही हैं। इसमें यंत्र-मंत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सिद्धि के रूप में माने गये यंत्र-मंत्र झूठे हैं और केवल मूर्ख मनुष्यों को फंसाने के लिए षड्यंत्र हैं। सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े मंत्र-तंत्रधारी मन एवं वासनाओं के गुलाम होते हैं। मन को जीतने में ऐसे पाखंडपूर्ण मंत्र-तंत्र काम नहीं देते।

सार अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य को विवेकज्ञान न हो तो उसके सारे उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। मन और इच्छाओं पर विजय पाने के लिए विवेक-ज्ञान की आवश्यकता है। इसका संकेत सद्गुरु अगली साखी में करते हैं।

मन गयन्द माने नहीं, चले सुरति के साथ॥
महावत बिचारा क्या करे, जो अंकुश नाहीं हाथ॥ 146॥

शब्दार्थ—गयन्द=गजेन्द्र, बड़ा हाथी। सुरति=सुरत, ध्यान, याद। महावत=हाथीवान, हाथी को हांकने वाला। अंकुश=लोहे का एक प्रकार का भाला जिसे महावत हाथी के सिर पर कोंचकर उसे चलाता तथा अपने वश में रखता है।

भावार्थ—मनरूपी उन्मत्त हाथी नियंत्रण नहीं मानता, वह तो विषयों की याद के साथ चलता है। जीव रूपी महावत बेचारा क्या करे जब उसके हाथ में विवेक का अंकुश नहीं है॥ 146॥

व्याख्या—उन्मत्त हाथी पर बैठना और हाथों में अंकुश न होना अपनी जान को जोखिम में डालना है। इसी प्रकार विवेक के बिना मन के साथ रहना खतरे से खाली नहीं है। साधारण-से-साधारण आदमी भी सायकिल में, मोटरकार में तथा गाड़ी में ब्रेक लगाते हैं, परन्तु अपनी इच्छाओं एवं मन में ब्रेक लगाना भूल जाते हैं।

मन विषयों की याद के साथ चलता है। वह सहज नियंत्रण नहीं मानता। यह सबका अपना अनुभव है। जीव के मन में अनादिकाल से पांचों विषयों के राग हैं। अतएव विषयों की याद होते ही मन उसके साथ चल देता है और विकारपूर्ण स्मरण कराता रहता है। विषयों का रागात्मक स्मरण ही बंधन है।

विषय-स्मरण से आगे चलकर मनोविकार तथा स्थूल इंद्रियों की मलिन क्रियाएं होती हैं। इसलिए मन पर नियंत्रण होना अत्यंत आवश्यक है। मन पर नियंत्रण करने के लिए विवेक का अंकुश चाहिए। विवेक जितना गहरा होता जाता है, उतना ही विषयों के सारे आकर्षण समाप्त होते जाते हैं। विवेक होने पर हर वस्तु की वास्तविकता का बोध होता है। वास्तविकता का बोध हो जाने पर आकर्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। हम सच्चाई न जानकर ही विषयों में खिंचते हैं। यदि हमें विषयों की वास्तविकता का बोध हो जाये तो उनमें हमें नीरसता एवं व्यर्थता के अलावा कुछ नहीं लगेगा। मन के भटकने का एकमात्र कारण है विषयों के प्रति व्यामोह। उसके हट जाने पर मन न उन्मत्त हाथी रह जाता है न बाजपक्षी। तब मन जीव का अनुगामी बन जाता है। अतएव विवेक के अंकुश से मन को चलाने का अभ्यास करना चाहिए।

विवेक परम प्रकाश है। विवेक दिव्यदृष्टि है। जो साधक निरन्तर विवेक के प्रकाश में रहता है, उसके भटकने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

माया ही भंगिनि है

ई माया है चूहड़ी, औ चूहड़ों की जोय॥
बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय॥ 147॥

शब्दार्थ—माया=अहंता-ममता, विकार। चूहड़ी=भंगिनि। चूहड़ों=भंगियों। जोय=जोरू, पत्नी। बाप पूत=जीव और मन या समस्त मनुष्य।

भावार्थ—टट्टी साफ करने वाले भंगी या भंगिनी नहीं हैं। वे तो पवित्र मानव हैं। भंगिनी तो यह माया है और यह मलिन मनरूपी भंगी की जोरू है। यह जीव और मन को परस्पर उलझाकर किसी के साथ में नहीं होती॥ 147॥

व्याख्या—टट्टी करके जगह को गंदी कर देने वाले पवित्र मानव कहलाते हैं और टट्टी को हटाकर जगह को साफ कर देने वाले लोग गंदे भंगी कहलाते हैं। यह कैसी उलटी बुद्धि का फल है! भंगी या निम्न कहे जाने वाले लोग तो इसलिए गंदे दिखते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है और साथ-साथ उनमें शिक्षा का अभाव होने से उच्च संस्कार नहीं हैं। कोई टट्टी साफ करने से गंदा नहीं होता, किन्तु सफाई न रखने से गंदा होता है। इधर भंगी कहे जाने वाले बंधुओं का भी जीवन-स्तर सुधरा है, तो वे भी साफ-सुथरे दिखने लगे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय नामधारी भी जो अर्थ और शिक्षा से वंचित हैं, उनका जीवन-स्तर स्वच्छ नहीं है।

भंगी नाम यदि गंदगी का वाचक है तो वह भंगी नाम की जाति नहीं है, किन्तु माया है। यह माया ही गंदगी है। माया है मन का विकार। काम, क्रोध,

लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मलिनता माया है। इसलिए यह मलिनता जिसके सम्पर्क से उत्पन्न होती है उसे भी माया कहा जाता है। माया के पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी भी कहे जाते हैं जो अगली साखी में आयेंगे। 59वें शब्द में सद्गुरु ने माया को महाठगिनी बताते हुए कहा है कि माया केशव के घर में कमला, शिव के भवन में भवानी, ब्रह्मा के घर में ब्रह्मानी, पंडा के घर में मूर्ति, तीर्थ में पानी, योगी के घर में योगिनि, राजा के घर में रानी, धनी के घर में हीरा, गरीब के घर में कौड़ी कानी तथा भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर बैठी है। इन सब का अर्थ यही है कि जीव जिन-जिन माध्यमों से अपने आप को भूलकर विचलित हो जाये, वह सब माया है। मूलतः विचलन ही माया है, भटकाव ही माया है। परन्तु जिनको लेकर तथा जिनमें खिंचकर जीव भटकता है वह सब भी मानो माया ही है। ऐसा विचार आये बिना मन में आकर्षण-प्रधान वस्तुओं से वैराग्य नहीं हो सकता और मन में वैराग्य हुए बिना कोई माया से, विचलन एवं भटकाव से बच नहीं सकता।

सद्गुरु कहते हैं कि माया भंगिनि है, मैली है, गंदगी से भरी है और "चूहड़ों की जोय" है। विषयासक्त मन चूहड़ है, भंगी है, मैला है, गंदा है। माया उसी की जोरू है। वैराग्यप्रवर सन्त कबीर देव माया को कितनी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं इसका स्पष्टीकरण उनकी वाणियों में पदे-पदे होता है और बीच-बीच में इसका विदग्धात्मक रूप सामने आ जाता है।

मैला मन भंगी है और मन की मलिनता भंगिनि है। जब मन में कामवासना आये तब वह भंगी का रूप होता है। जब मन में क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आ जाते हैं, उस समय हमारा मन भंगी बन जाता है। जिस समय मनुष्य का मन भ्रमित हो, वह जानो उस समय माया से पूर्ण है। और यही कबीर देव की भाषा में भंगी होना है। अब जरा हर आदमी अपने भीतर टटोलकर देखे कि उसका मन कब-कब भंगी बनता है। तथाकथित बड़े-बड़े पंक्तिपावन ब्राह्मण, दंडी, महात्मा, जन्मजात वर्णव्यवस्था के पक्षधर लोग अपने मन की परख करेंगे तो लगेगा कि उनका मन कितने समय तक भंगी बना रहता है। इसी प्रकार दूसरे लोग भी देखें और अपने अन्दर के भंगी को निकाल बाहर फेंके। 139वीं साखी में सद्गुरु ने बताया है कि जिन्हें सद्गुरु से अपने अविनाशी स्वरूप का परिचय नहीं प्राप्त हुआ है वे सब चर्मदेह की बुद्धि रखने वाले मानो चमार ही हैं, भले ही वे तथाकथित चारों वर्णों में से किसी वर्ण के हों। इस प्रकार वैज्ञानिक तथा मानवता का दृष्टिकोण रखने वाले कबीरदेव की भाषा में देहाभिमानी मन चमार है तथा माया एवं विकारों में लिप्त मन भंगी है। चाम कमाना तथा टट्टी साफ करना तो समाज का

रचनात्मक एवं पवित्र काम है। वस्तुतः देहाभिमानी तथा मलिन मन वाला होना चमार और भंगी होना है।

"बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय"। बाप जीव है और मन जीव द्वारा निर्मित होने से मानो जीव का पुत्र है। इस प्रकार माया जीव तथा मन को उलझा देती है, और यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। मायावश ही जीव अपने मन के जाल में उलझ जाता है। बाप-पूत का अर्थ समस्त मनुष्य भी किया जा सकता है, क्योंकि बाप-पूत के भीतर ही पूरा मानव समाज होता है। अतएव यह माया, यह भ्रम, यह मन का विकार मानवमात्र को केवल भटकाने में कारण है। यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। अथवा जिन प्राणी-पदार्थों में उलझकर हम अपने कल्याण से वंचित रह जाते हैं, वे अंततः हमारे साथी नहीं होते। अतएव हम माया से सावधान रहें।

कनक-कामिनी से सावधान

कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग॥
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥ 148॥

शब्दार्थ—सुरंग=उत्तम रंग, ज्ञानस्वरूप। दुहेलरा=दुखदायी। केंचुलि=केंचुली, सर्प के शरीर पर का झिल्लीदार पतला चमड़ा जो प्रत्येक वर्ष जाड़े में सूखकर गिर जाता है। भुवंग=सर्प।

भावार्थ—हे ज्ञानस्वरूप जीव ! धन-ऐश्वर्य और स्त्री-पुत्रादि की चमक-दमक देखकर तू मत भूल ! सांप के शरीर में केंचुली आने और उसके जाने—दोनों में जैसे उसे कष्ट होता है, वैसे माया के प्राप्त करने तथा उसके बिछुड़ने—दोनों में जीव को कष्ट होता है॥ 148॥

व्याख्या—कबीरदेव की सारी बातें प्रायः उदाहरण सहित तथा सटीक होती हैं। वे कहते हैं कि हर वर्ष सांप के शरीर पर रहा हुआ झिल्लीदार चाम सूखकर जाड़े में उखड़ जाता है और निकल जाता है और भीतर से नया चाम शरीर पर आ जाता है। उसे केंचुली कहते हैं। जब सांप की केंचुली सूख जाती है तब उसे असुविधा होती है। उसे उससे कष्ट मिलता है, और जब केंचुली शरीर से उतर जाती है, तब भीतर का कोमल चाम कांटे-कंकड़ों एवं कठोर घास-फूसों में लगकर कष्ट पहुंचता है। उसके कोमल चाम को चींटियां काटती हैं। इस प्रकार केंचुली के आने पर तथा शरीर पर से उसके उतर जाने पर—दोनों में सांप को कष्ट होता है। इसी तरह संसार की माया के संग्रह में कष्ट होता है। बहुत परेशानी उठाकर ही माया इकट्ठी की जाती है और जब चली जाती है तब भी जीव को बड़ा कष्ट होता है।

सद्गुरु ने यहां माया के लिए पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी का प्रयोग

किया है जो बहुत प्रसिद्ध है। कंचन का शाब्दिक अर्थ सोना तथा कामिनी का अर्थ काममद में मतवाली स्त्री है। परन्तु यहां शाब्दिक अर्थ नहीं है; किन्तु लाक्षणिक अर्थ होने से उसका अभिप्राय व्यापक है। कंचन का अभिप्राय समस्त जगत-पदार्थ है जो धन तथा ऐश्वर्य के रूप में माना जाता है तथा कामिनी से अभिप्राय है काम-वासना का आलंबन, अर्थात जिसके सम्पर्क में आने से काम-वासना के प्रदीप्त होने की सम्भावना हो। प्रायः युवती स्त्री के सम्पर्क से पुरुष के मन में तथा युवक पुरुष के सम्पर्क से स्त्री के मन में काम-वासना का उद्दीपन होने की सम्भावना रहती है। अतएव स्त्री-पुरुष मानो एक दूसरे के लिए कामिनी बन सकते हैं। पुरुष ज्यादा वैराग्य-प्रधान हुआ है, इसलिए उसने कामिनी कहकर स्त्री को ही ज्यादा माया माना है। परन्तु स्त्री कोई निर्जीव पदार्थ तो नहीं है। उसके भीतर भी वही चेतन है। उसके लिए भी काम-क्रोधादि बंधन हैं। अतएव मुमुक्ष्वी एवं कल्याणार्थी स्त्रियों के लिए कामवासना उद्दीपक पुरुष ही कामिनी है, माया है। वस्तुतः न स्त्री माया है और न पुरुष। माया तो अपने मन की अविद्या है, विकार है, मोह है। हम मोहग्रस्त होते हैं तो बाहरी स्त्री-पुरुषों को देखकर आकर्षित होते हैं। यदि हमारे मन का मोह मिट जाये तो कंचन-कामिनी क्या है! सारे धन धातु, पत्थर एवं कागज के टुकड़े तथा मिट्टी-गोबर हैं और सारे नर-नारी हाड़-मांस के ढांचे हैं। मन की माया मिट जाने पर संसार में आकर्षण की कोई बात ही नहीं रह जाती।

यह सब सच होने पर भी जीव अनादि अविद्या-वश होने से वह जिन प्राणी-पदार्थों को देख-सुनकर भूलता है उनके संक्षित नाम कंचन-कामिनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू सुरंग है, ज्ञान रंग है। तेरा स्वरूप दिव्य है। तू अपने आप को भूलकर ही कंचन-कामिनी में मोह करता है या उन्हें देख-सुनकर, उनमें मोहित होकर अपने आप को भूलता है। कबीर देव कहते हैं कि हे मनुष्य, तू कंचन-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। इनको प्राप्त करने में भी परेशानी है, रक्षा करने में भी तथा इनके छूट जाने में भी केवल दुख है। बड़े परिश्रम एवं जुगाड़ के बाद संसार के प्राणी-पदार्थ इकट्ठे होते हैं। इसलिए इनके संग्रह में कष्ट झेलना पड़ता है। फिर इनको बनाये रखने में काफी चिंता एवं परेशानी है और इनके छूट जाने पर तो केवल दुख का अनुभव होता ही है। फिर दुनिया के प्राणी-पदार्थों के व्यामोह में पड़कर हम क्यों दुख उठायें! सद्गुरु हमें सावधान करते हैं कि कनक-कामिनी में एवं प्राणी-पदार्थों में विमोहित नहीं होना, सबसे अनाकृष्ट होकर अपने स्वरूप में स्थित होना।

सब शरीरधारी प्रकृति के अधीन हैं

माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्ण महेश॥
नारद शारद सनक सनन्दन, गौरी पूत गणेश॥ 149॥

शब्दार्थ—शारद=शारदा, सरस्वती।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, सरस्वती, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार तथा गौरी के पुत्र गणेश—सब मायिक प्रकृति के अधीन हुए॥ 149॥

व्याख्या—क्रांतिकारी तथा सत्यद्रष्टा कबीर देव सारी भ्रांतियों को चोट देकर मानो उन्हें भहरा देना चाहते हैं। धार्मिक ग्रन्थों में ऐसा लिख दिया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादि नित्य हैं। नारद जब चाहें जहां आयें-जायें। वे भी सदैव हैं और लोक-लोकांतर चलते रहते हैं। इसी प्रकार अन्य काल्पनिक देवी-देवताओं की नित्यता का भ्रम है। गणेश सबके मंगल करने वाले हैं और नित्य विद्यमान हैं आदि।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह सब भ्रम है। कितने ही देवी-देवता तो मनुष्यों ने समय-समय से मन की कल्पनाओं से गढ़ डाला है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ये तीनों ही क्रमशः रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। गणेश भी काल्पनिक ही हैं। इनका रूप ही एक व्यंग्य चित्र के अनुसार बड़ा पेट, एक दांत, हाथी की सूंड़ और चूहा का वाहन है। सब-का-सब काल्पनिक। नारद, सनकादि व्यक्ति रूप कभी हुए होंगे। परन्तु सबके शरीर मायामय एवं प्रकृति निर्मित रहे हैं। इसलिए सब एक दिन जन्म लेकर अपने जीवन के क्रिया-कलाप करके संसार से चले गये। कोई भी यहां शरीर से अजर-अमर होकर रहने वाला नहीं है। किसी देवी-देवता आदि के नाम की माला फेरकर हम भवबंधनों से मुक्त नहीं हो सकते और न सांसारिक उन्नति ही कर सकते हैं। इन सबके लिए सही दिशा में परिश्रम तथा जीवन-सुधार ही शंबल है।

कोई काल्पनिक देवता हमारा किसी प्रकार का कल्याण नहीं कर सकता। हमारा मंगल काल्पनिक गणेश नहीं कर सकते, किन्तु हमारे मंगल में हमारे अच्छे कर्म ही कारण हैं। इसलिए काल्पनिक देवी-देवताओं की आशा छोड़कर अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो।

परमात्मा तुम्हारा स्वरूप है

पीपरि एक जो महा गम्भानि, ताकर मर्म कोइ नहिं जानि॥
डार लम्बाय फल कोइ न पाय, खसम अछत बहु पीपरे जाय॥ 150॥

शब्दार्थ—पीपरि=पीपल, बरगद की जाति का एक पेड़, तात्पर्य में वाणी। गम्भानि=फैला, बढ़ा। मर्म=रहस्य, भेद। लम्बाय=विस्तार, फैला हुआ, झुकाना। खसम=पति, मालिक। अछत=विद्यमान, रहते हुए।

भावार्थ—जैसे एक वृक्ष विशालरूप में फैला हो, परन्तु उसका रहस्य लोग न समझते हों, सब उसकी डाली पकड़कर झुकाते हों कि फल तोड़ें, परन्तु उसमें फल न मिलता हो, वैसे वाणी का एक विशाल वृक्ष संसार भर में फैला है। उस वाणी में परमात्मा या मोक्ष फल मिलने की बात बतायी गयी है, परन्तु उसका रहस्य लोग नहीं जानते। अतः वे उस वाणी-जाल में मोक्ष या परमात्मा खोजते हैं। सब लोग उसकी शाखारूप नाना शास्त्रों का मंथन करते हैं, परन्तु इससे किसी को परमात्मा एवं मोक्षरूपी फल नहीं मिलता। मोक्ष या परमात्मा तो जीव का स्वरूप ही है। जीव ही जीव का मालिक है, खसम है, परन्तु ऐसा न समझकर जीव अपने पति को, अपने से अलग बहुत-से वाणी-जाल एवं देवी-देवताओं में खोजता है॥ 150॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहां वाणी-जाल के विस्तार को विशाल पीपल एवं बरगद के वृक्ष के उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है। पीपल या बरगद का पेड़ बहुत विशाल होता है, परन्तु उसमें ऐसा कोई फल नहीं होता है जो मानव को तृप्ति दे सके। वाणी का वृक्ष तो बहुत विशाल है, संसार की एक-एक किताब उसकी एक-एक शाखा है। अब सोचो कि वाणीरूपी वृक्ष की कितनी अगणित शाखाएं हैं। यह वाणी का वृक्ष संसार में इतना विशालरूप में फैला कि इसमें पड़कर सब चकित हो गये। इस वाणी में सर्वाधिक महत्त्व परमात्मा को पाने का फैला। सर्वाधिक धार्मिक ग्रन्थों में इसी बात की महिमा फैली कि परमात्मा को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। अब इस परमात्मा को पाने के लिए कोई वेदों में उसे खोजने लगा, कोई बाइबिल एवं कुरान में, कोई गीता में, कोई रामायण में तथा कोई अन्य-अन्य ग्रन्थों में। कोई वाणियों के प्रमाण से अनेक देवी-देवताओं में उस परमात्मा को खोजने लगा, कोई नाद, बिन्दु, ज्योति, त्रिकुटी, हठयोग या काल्पनिक स्वर्गलोक में खोजने लगा। वाणी-वृक्ष की लम्बी-लम्बी डालियों में सब लोग उसे खोज रहे हैं। अथवा जैसे कोई पीपल की डालियों को झुका-झुकाकर उसमें सुस्वादु फल खोजे, परन्तु ऐसा कुछ भी उसमें न मिले, वैसे लोग ग्रन्थों का मंथनकर उसके प्रमाण से बाहर से परमात्मा पाना चाहते हैं। नाना मजहबों के ग्रन्थों में लिखा है कि परमात्मा सांवला है, गोरा है, कमलों के समान उसके हाथ, पैर, मुख, आंखें, छाती, कपोल आदि हैं। वह दो हाथ वाला, चार हाथ वाला, आठ हाथ वाला तथा हजार हाथ वाला है। वह सातवें तपक पर रहता है, स्वर्गलोक में रहता है। वह सर्वत्र रहता है और सच्चे दिल से पुकारते ही आकर सामने खड़ा हो जाता है। उसने खम्भा फाड़कर तथा हिरण्यकश्यपु को मारकर प्रहलाद को बचाया है, ध्रुव को दर्शन दिया है। बहुतों को दर्शन दिया है। वह परमात्मा जो चाहे वही कर सकता है। वह

चाहे तो सूरज को कमल-फूल बना दे और कमल-फूल को सूरज। सच्चे दिल से पुकारो, वह आ जायेगा और तुम्हें अपनी गोद में उठाकर ब्रह्मलोक में ले जायेगा, जहां दिव्य भोग हैं। और भी वाणियों में खुदा, ईश्वर, गॉड, परमात्मा एवं ब्रह्म के लिए जो वर्णन है वह बड़ा रोचक है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान, न्यायी तथा दयालु है। इतने सारे महत्तम गुण केवल परमात्मा की कल्पना में ही हैं। वस्तुतः परमात्मा जैसी सुन्दर कल्पना दूसरी नहीं है। परन्तु खेद यह है कि ऐसा परमात्मा कहीं नहीं है, अन्यथा वह अपने ही नाम पर लड़ने वाले तथा दूसरों का खून बहाने वाले भक्तों को अवश्य समझा देता। नाना मजहब वाले ईश्वर के नाम से लड़ते हैं, परन्तु ईश्वर मौन है। डाकू, हत्यारे, चोर, व्यभिचारी, घूसखोर, कालाबाजारी करने वाले आदि को वह कुछ भी नहीं रोकता है। अन्यथा क्या सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान ईश्वर का वश न चलता इनको सुधारने में। वह चाहता तो अवश्य इनको ठीक कर देता। वस्तुतः कुछ ऐसा है नहीं। तथ्य यह है कि मनुष्य यह चाहता है कि ऐसा सर्वसमर्थ कोई होता तो हमारा कल्याण कर देता। यह केवल भले मनुष्य की चाहना है। धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर के विषय में सनकी ढंग से अत्यन्त भावुकतापूर्वक लिख दिया गया है, इसलिए उसे पढ़-पढ़कर भावुक लोग उसकी तलाश में पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"डार लम्बाय फल कोइ न पाय" सब भावुक लोग ईश्वर को खोजते हैं, परन्तु उसे कोई नहीं पाता। वह मिल नहीं सकता। जीव से अलग ईश्वर या परमात्मा कहीं कुछ भी नहीं है तो वह मिलेगा कैसे! मिलने-बिछुड़ने वाली वस्तु तो माया होती है। "खसम अछत बहु पीपरे जाय" मालिक विद्यमान होते हुए भी उसे बाहर खोजा जा रहा है। परमात्मा मौजूद है और उसे बाहर खोजा जा रहा है। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है! यह जीव ही शिव है। यह आत्मा ही परमात्मा है। यह मनुष्य का 'स्व' एवं स्व-स्वरूप चेतन ही उसका अपना आप स्वामी है। परन्तु इसे न समझकर वह "बहु पीपरे जाय"। बहुत-सी वाणियों एवं कल्पनाओं में भटके जीव अलग-अलग अपना पति खोज रहे हैं। परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से अलग खोजना ही भ्रम है।

कुसंग से बचो

साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौ हीत॥
तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ॥ 151॥

शब्दार्थ—साहू=साहु, साधु, सज्जन, भला आदमी, जीव। चोरवा=चोर, कल्पनाएं, मन का संदेह। हीत=हित, रखा हुआ, गृहीत, अनुकूल, मित्र।

भावार्थ—मनुष्यजीव मूलरूप से शुद्ध साधु एवं निर्मल है, परन्तु इसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से इसके मन में संदेह का चोर पैदा हुआ और उसी संदेह को इसने अपना मित्र मान लिया। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव ! तुम्हें तब पता चलेगा जब इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा॥ 151॥

व्याख्या—मनुष्य का मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है। परन्तु संसार में धर्मशास्त्रों के नाम से अपार वाणीजाल का विस्तार है, और उनमें रोचक, भयानक के अंश पर्याप्त मात्रा में भरे हैं। मनुष्य उन्हें पढ़-सुनकर दिग्भ्रमित हो जाते हैं। उसके मन में नाना संदेह पैदा हो जाते हैं। संदेह चोर है जो मनुष्य के मन को निरंतर खोखला बनाता है। मनुष्य ने अपने स्वरूप को भूलकर मन में नाना संदेह पैदा कर लिया और पीछे से उन्हीं संदेहों से उसने मित्रता कर ली इसने अपने जीवन में "आपुहि बरि आपन गर बन्धा" वाली बात चरितार्थ कर ली। जीव ही तो अपने स्वरूप को भूलकर अपने ऊपर नाना देव-गोसैयां की कल्पना एवं स्थापना करता है। मनुष्य ने ही भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन एवं नाना देवी-देवताओं की कल्पनाकर उन्हें अपने ऊपर मान लिया है।

धर्मशास्त्रों से हटकर कामशास्त्र भी बने जिनमें कामवासना की बड़ाई की गयी। शृंगारिक वाणियों का विस्तार कामशास्त्र ही में नहीं किन्तु अनेक धार्मिक ग्रन्थों में भी हुआ। मनुष्य ने अपने स्वरूप के अज्ञान से नाना कल्पनाओं एवं कल्पनापूर्ण वाणियों का विस्तार किया और अपने ही बनाये हुए कल्पना-जाल में स्वयं अधिकाधिक उलझता गया। परन्तु इन सब का दुखद परिणाम तो जीव पर ही आना है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—"तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ" अपनी कमाई का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। लोकोक्ति भी है "अपनी कमाई आप को, ना माई ना बाप को।"

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि मानो कोई सज्जन-स्वभाव का आदमी हो, उसने प्रसंगवशात चोरों से मित्रता कर ली हो और उन चोरों का साथ करने से वह भी चोर बन गया हो, तो सद्गुरु ने उसे समझाया हो कि हे मनुष्य ! इसके परिणाम का पता तुम्हें तब होगा जब तुम राजकर्मचारियों द्वारा पकड़े जाकर पीटे जाओगे।

सज्जन से सज्जन व्यक्ति भी कुसंग में पड़कर पतित होते हैं। चोरी करना, व्यभिचार करना, शराब, मांस, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू, पान आदि का सेवन करना, गाली देना, मसखरापन करना, जुआ-ताश आदि खेलना, थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर जगह-जगह लड़ाई-झगड़े करना तथा इन-जैसे बहुत-से दोष एवं दुर्गुण मनुष्य कुसंग में पड़कर सीखता और करता है। आदमी जैसी संगत करता है वैसी ही उसे रंगत लगती है। इसलिए सद्गुरु

हमें सावधान करते हैं कि हे मनुष्य, तू कुसंग और कुकर्मों से अपने आप को बचा, अन्यथा उसका फल तुझे दुखदायी होगा।

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि यदि मनुष्य साधु-सज्जनों से चोर बनता है अर्थात उनसे अपना मुख छिपाता है और चोरों, बदमाशों एवं गलत आचरण वालों से मित्रता करता है तो इसका परिणाम उसके लिए दुखद होगा। उसे सावधान हो जाना चाहिए और कुसंग से हटकर साधु-संगति करना चाहिए।

सद्‌गुरु की अनिवार्यता

ताकी पूरी क्यों परे, जाके गुरु न लखाई बाट॥
ताके बेड़ा बूड़ि हैं, फिरि फिरि औघट घाट॥ 152॥

शब्दार्थ—पूरी=पूर्णता, आप्तकामता, सिद्धि, कल्याण। बाट=रास्ता, सत्यज्ञान का पथ। बेड़ा=लट्ठों एवं तख्तों से बनायी हुई नाव। औघट घाट=दुर्गम स्थल, पतनपथ।

भावार्थ—उस मनुष्य का कल्याण कैसे होगा जिसको सद्‌गुरु ने सत्य का रास्ता नहीं बताया है। उसकी नाव तो बारम्बार कुघाट में डूबेगी। वह उत्तरोत्तर पतनपथ में जायेगा॥ 152॥

व्याख्या—कुछ लोग कहते हैं कि किसी गुरु की क्या आवश्यकता ! गुरु तो अन्दर बैठा है। सद्‌ग्रन्थ पढ़ लें और संतों के प्रवचन सुन लें, बस इतने से ज्ञान प्राप्त करके हम अपना कल्याण कर सकते हैं। किसी गुरु से जुड़ने की क्या जरूरत है ! यह सब जब पढ़े-लिखे लोग कहते हैं तब और अजीब लगता है। किसी अध्यापकरूपी गुरु से जुड़े बिना कोई किसी भाषा एवं लिपि का ज्ञान नहीं पा सकता। साइकिल का पंचर बनाने का ज्ञान भी हमें तब होता है जब उसे कोई उस्ताद बताता है। हम जिसके ग्रन्थ पढ़कर ज्ञान पाते हैं, वह हमारा गुरु हुआ ही। जिसके प्रवचन से हमें प्रेरणा मिलती है वह भी हमारा गुरु हुआ। यह ठीक है कि हमारे अन्दर विवेकरूपी गुरु बैठा है, परन्तु बाहरी गुरु के बिना विवेक का सर्वथा जग जाना भी बड़ा कठिन है। चकमक में आग है, परन्तु बिना घिसे वह प्रकट नहीं होती। जड़ और चेतन का पृथक ज्ञान तथा स्वरूप का सच्चा बोध प्राप्त करने के लिए सत्संग और विवेक दोनों चाहिए। स्वरूपज्ञान हो जाने के बाद उसमें ठहरने के लिए दिव्य रहनी का बल चाहिए और यह किसी रहनीसंपन्न सद्‌गुरु-संत की उपासना से अधिक सुकर होती है। विशाल देव ने सच कहा है—"वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं बैराग। संगत हू फल ना मिले, बिन साँचा मन लाग।" डॉक्टर के साथ डॉक्टरी का अभ्यास सफल होता है, वकील के साथ वकालत का,

विद्वान के साथ विद्वता का। इसी प्रकार अन्य दिशा में भी समझ लें। इसी ढंग से सद्गुरु के द्वारा पथ-प्रदर्शन पाये बिना कोई जीवन में पूर्णता नहीं पा सकता।

पूरी पड़ना एवं जीवन में पूर्णता होना क्या है? वस्तुतः बुद्धि और हृदय को संतोष मिलना ही पूर्णता पाना है। बुद्धि को तब संतोष मिलता है जब अन्धविश्वास, चमत्कार तथा अनर्गल बातों से हटकर कारण-कार्य-व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों तथा प्रकृति के गुण-धर्मों का यथार्थ बोध होता है। ऐसी अवस्था आ जाने पर मनुष्य किसी भी बुद्धिविरोधी बात में नहीं उलझता, वह चाहे किसी धर्मशास्त्र की हो या जनश्रुति की हो या कहीं की भी हो। संसार में सब कुछ नियमतः ही होता है। वह समझता है कि कोई प्राणधारी सूरज को नहीं निगल सकता, किसी स्त्री को एक साथ हजारों बच्चे नहीं पैदा हो सकते, कोई साधु-महात्मा नामधारी मुरदे को नहीं जिला सकता। वह वर तथा शाप की झुठाइयों को समझ लेता है। वह समझता है कि मनुष्य के अपने शुभकर्म उसके लिए वर तथा अशुभ कर्म शाप बनते हैं। वह तर्कहीन, युक्तिविरुद्ध तथा विश्व के नियमों के विरुद्ध बातों को नहीं मानता, भले ही वह धर्म, भगवान, देवी-देवता तथा महात्मा से जुड़ी हो। जड़ और चेतन का ठीक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को पूर्ण बौद्धिक संतोष मिल जाता है। जब अपनी आत्मा के अलावा कहीं कोई दिव्यशक्ति खोजने की बात नहीं रहती, तब पूर्ण बौद्धिक संतोष होता है।

दूसरा है हार्दिक संतोष, हृदय को संतोष। यह तब प्राप्त होता है जब जीवन पवित्र एवं दिव्य रहनी से संपन्न हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, कपट तथा मन की सारी मलिनताएं जब समाप्त हो जाती हैं, तब मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। सारतः, स्वरूपज्ञान से बौद्धिक संतोष तथा स्वरूपस्थिति से हार्दिक संतोष होते हैं। परन्तु यह सब रहनी एवं बोधसंपन्न सद्गुरु के पथ-प्रदर्शन में ही संभव है। जिसने सच्चे सद्गुरु द्वारा अपना पथ-प्रदर्शन नहीं पाया, उसकी नाव कुघाट में डूबती है। कुघाट में या औघट में डूबना क्या है? भूत, प्रेत, देवी, देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह, लगन, जादू, टोना, चमत्कार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, विषय-वासना आदि में उलझ जाना नाव का कुघाट में डूबना है। सच्चे सद्गुरु की भक्ति एवं ज्ञान से वंचित व्यक्ति नाना संदेहों, भ्रमों तथा मानसिक सागर में बारम्बार डूबता रहता है। अबोधी तथा गुरुविमुख व्यक्ति को संसार में डूबना ही है।

"बिना रे खेवइया नइया कैसे लागे पार हो।"

जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन॥

अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन॥ 153॥

शब्दार्थ—गौन=गमन, यात्रा। राह=रास्ता, सत्पथ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गंतव्य का रास्ता स्वयं न जानता हो और दूसरे जानकारों से पूछा भी न हो, इस प्रकार बिना रास्ता को समझे-बूझे उसने अपनी यात्रा आरम्भ कर दी हो, वह आंख का अंधा भी हो और संयोग से उसे रास्ते में अन्धा व्यक्ति मिल जाये, तो उसे सही रास्ता कौन बतायेगा ! इसी प्रकार जिसे स्वयं जड़-चेतन का ठीक बोध नहीं है और वह किसी यथार्थ सद्गुरु की शरण में विनम्रतापूर्वक जाकर तथा उनकी सेवा-भक्ति करके उनसे पूछा भी नहीं है। इस प्रकार जो बिना परमार्थ को ठीक से समझे-बूझे चल दिया हो, वह स्वयं तो अबोधी है ही, उसे रास्ते में दूसरे भी अबोधी ही मिलते हैं, फिर उसे कल्याण का रास्ता कौन बतायेगा !॥ 153॥

व्याख्या—कितने अहंकारी जीव हैं वे किसी गुरु के चरणों में न झुकना चाहते हैं और न उनकी सेवा कर उनके अधीन होकर विनम्रतापूर्वक कुछ सीखना चाहते हैं। बस, वे धर्मग्रन्थों की कुछ उलटी-सीधी सुनी-सुनाई बातों को ले उड़ते हैं और इतने ही में अपने आप को धर्मधुरंधर तथा परमार्थपथ के गहरे अनुभवी समझने लगते हैं। वे अपने सरीखे ही अधूरे लोगों में बैठकर धर्म एवं परमार्थ के नाम पर कुछ अधूरी और छिछली बातें करते हैं और "सब अंधरन में कनवे राजा" की तरह अपने आप को बहुत बड़ा मान लेते हैं।

कुछ परमार्थ-पथ के पथिक विनम्र एवं सच्चे दिल के होते हैं, परन्तु वे धर्म के नाम पर केवल अंधश्रद्धा के पुजारी होते हैं। वे पोथी, परंपरा, गुरुजन, समाज आदि की लकीरों से हटकर स्वतंत्र छानबीन नहीं करना चाहते। वे अपने स्वतंत्र विवेक का आदर नहीं करना चाहते। पोथी, परंपरा, गुरु, सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक का भी तो आदर करना चाहिए। क्यों, कैसे, कौन, कहां, क्या आदि तर्क के बिना कभी भी सत्य का बोध नहीं हो सकता। तर्क उन्मादपूर्वक नहीं, किन्तु विवेकपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा और बुद्धि दोनों का समन्वय चाहिए। उन गुरुओं तथा संतों से सत्य का बोध नहीं हो सकता जो सदाचारी तथा विद्वान भले हों, परन्तु जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर अपनी आंखों में पट्टी बांध रखी है। जो गुरु शास्त्रों की दोहाई एवं केवल शब्दप्रमाण पर अपनी मान्यताओं को शिष्यों एवं श्रोताओं पर लादना चाहता है उससे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर स्वयं अपनी आंखें बन्द कर रखीं हैं वे दूसरों की आंखों का प्रकाश नहीं बन सकते। अतएव जिज्ञासु को श्रद्धा एवं विवेकपूर्वक सत्य का खोजी होना चाहिए।

जाका गुरु है आँधरा, चेला काह कराय॥
अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय॥ 154॥

शब्दार्थ—आँधरा=जड़-चेतन के विवेक से रहित।

भावार्थ—जिसका गुरु ही जड़-चेतन एवं सार-असार के विवेक से रहित है, वह शिष्य बेचारा क्या करे! अंततः गुरु-शिष्य दोनों विवेकहीन बने अंध-परंपरा में एक दूसरे को ठेलते हुए अज्ञान एवं कल्पना के कुएं में पड़े रहते हैं॥ 154॥

व्याख्या—कबीर साहेब गुरु को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं, परन्तु अंधविश्वासपूर्वक नहीं। कबीर साहेब विवेकहीन गुरु को छोड़ देने की राय देते हैं—"झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार। द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥" जो गुरु नामधारी विवेकहीन है, स्वार्थ में अंधा और राग-द्वेष में डूबा है उससे शिष्यों का क्या उद्धार होगा! मान लो, वह सदाचारी तथा ईमानदार है, परन्तु उसे जड़ तथा चेतन क्या हैं, दोनों के गुण, धर्म, स्वभावादि क्या हैं; मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, मेरी स्थिति क्या है—इन सब बातों की कोई जानकारी नहीं है, वह अंध परंपरा से हटकर स्वतंत्र सोचना भी नहीं चाहता है, तो ऐसे गुरु से शिष्य का कल्याण कैसे होगा! शिष्य प्रथम अबोध में रहता ही है, तभी वह बोध पाने के लिए गुरु की शरण में जाता है। अब यदि गुरु भी अबोधी है, तो वह शिष्य का कल्याण कैसे करेगा! जैसे दो अन्धे एक दूसरे को ठेलते हुए दोनों कुएं में गिर पड़ें, वैसे विवेकहीन गुरु और चेले दोनों एक दूसरे से अविवेक की बातें करते-करते अज्ञान तथा कल्पना के कुएं में ही पड़े रहते हैं।

शिष्य को सही रास्ता वही गुरु बता सकता है जो सत्य स्वरूप का बोधवान, पवित्र रहनी से संपन्न तथा निष्पक्ष विचारक है। परन्तु जो स्वयं विवेकहीन है वह दूसरे को क्या रास्ता बतायेगा!

महिमा के भेड़ियाधंसान में मत पड़ो

लोगों केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय॥
एकै खेत चरत हैं, बाघ गधेहरा गाय॥ 155॥

शब्दार्थ—अथाइया=अथाई, भीड़। बाघ=रजोगुणी। गधेहरा=गधा, तमोगुणी। गाय=सतोगुणी।

भावार्थ—जहां निर्णय नहीं है ऐसी भीड़ में किसी सत्यइच्छुक जिज्ञासु को दौड़कर नहीं घुसना चाहिए। वहां तो एक ही खेत में बाघ, गधा और गाय एक साथ चरते हैं। अर्थात वहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है॥ 155॥

व्याख्या—सद्गुरु सत्यज्ञान के इच्छुक को सावधान करते हैं कि वह

किसी भीड़ को देखकर तथा उसकी महिमा में प्रभावित होकर उसमें न घुसे। हर समय में ऐसे गुरुनामधारी होते हैं जो मनुष्यों की भीड़ जुटाने के लिए अपने व्यक्तित्व में चमत्कार जोड़ते हैं। वे किसी तथाकथित ईश्वर एवं भगवान के अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं, चमत्कार के नाम पर जालसाजी करते हैं, योग के नाम पर भोगों की छूट देते हैं। वे हजार झूठी-झूठी बातें गढ़-गढ़ कर समाज में फैलाते हैं और इस वातावरण में संसार के अन्धे लोग उनके पास इकट्ठे हो जाते हैं। अन्धे केवल गंवई तथा अनपढ़ लोग ही नहीं होते, किन्तु शहरी तथा पढ़े-लिखे लोग भी होते हैं। अनपढ़ लोग तो सरल अंधविश्वासी होते हैं, परन्तु पढ़े-लिखे लोग काइयां तथा चतुर अंधविश्वासी होते हैं। वे नाना षड्यन्त्र रचकर तथा विज्ञान का भी दुरुपयोग करके अन्धविश्वास की सिद्धि करते हैं।

जहां चमत्कार के नाम पर जालसाजी है वहां पर पढ़े तथा अनपढ़ भोले लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। उस भीड़ की प्रशंसा करते हुए वे लोग कहते हैं "हमारे गुरु के बड़े-बड़े चेले हैं। सेठ, धनी, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, जज, प्रोफेसर, कुलपति, राजनेता, मन्त्री, विद्वान-पण्डित आदि उनके अनुगामी हैं।" परन्तु क्या धनी, पढ़े-लिखे लोग और राजनेता के किसी के शिष्य हो जाने से उनकी महत्ता बढ़ जाती है ! धनी, तथाकथित विद्वान तथा नेता कम अन्धविश्वासी नहीं होते। अतएव किसी गुरुनामधारी के पास मनुष्यों की बड़ी भीड़ देखकर उसमें मोहित न होना चाहिए, किन्तु अपने विवेक की आंखें खोलकर सत्यासत्य समझने की चेष्टा करना चाहिए। जहां ज्यादा धोखाधड़ी होती है, वहीं ज्यादा भीड़ होती है। जहां सत्य का सौदा होता है, वहां प्रायः थोड़े लोग होते हैं। इसलिए साधक को क्वांटिटि नहीं, किन्तु क्वालिटि देखना चाहिए। अर्थात संख्या नहीं, गुण देखना चाहिए। प्रायः लोगों को भीड़ का मोह होता है। लोग समझते हैं कि जहां बड़ी भीड़ है वहां सत्य होगा। यह उनको पता नहीं कि बड़ी भीड़ सदैव प्रायः चमत्कार का झांसा देकर इकट्ठी की जाती है। पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय, प्रतिष्ठा, पद एवं तथाकथित ऋद्धि-सिद्धि पाने के लिए ही अधिक लोग लालायित रहते हैं, और इन सकामियों को धूर्त लोग झूठे चमत्कार का झांसा देकर फंसा लेते हैं। ऐसे लोग सदैव थोड़े होते हैं जिन्हें सत्यज्ञान की इच्छा है, जो रहस्य की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं, जिन्हें जीवन में सद्गुण, स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति प्रिय है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्य के इच्छुक ! तुम भीड़ के मोह में न पड़ना, भीड़ में न घुसना। यदि तुम सत्य का बोध चाहते हो, तो विवेकवान गुरु की खोज करना।

धंधेबाज गुरुओं की एक मुख्य पहचान यह भी होती है कि उनके यहां

बाघ, गधा और गाय एक साथ एक ही खेत में चरते हैं। अर्थात वहां पर सदाचार-दुराचार, भोग-योग, जड़-चेतन, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य किसी का विवेक नहीं होता। ऐसे समाज में सब समय सब लोग मुक्त ही होते हैं चाहे वे जैसा भी व्यवहार करते हों। ऐसे सस्ते नुस्खे में भीड़ इकट्ठी होती ही है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी भीड़ से सदैव बचो। पढ़ा-लिखा समाज, धनी समाज, तथाकथित उच्च वर्ण एवं उच्च वर्ग का समाज—सत्यइच्छुक को इन सबका भी मोह नहीं होना चाहिए। जिसे सत्यज्ञान का मोती चाहिए वह सारे मोह को छोड़कर केवल सत्य का खोजी हो। सत्य निर्णय चाहे बड़े समाज से जुड़कर मिले या छोटे समाज से जुड़कर मिले, तथाकथित उच्च वर्ग से जुड़कर या निम्न कहे जाने वाले समाज से जुड़कर, विद्वान कहे जाने वाले समाज से जुड़कर या अपढ़ कहे जाने वाले समाज से जुड़कर मिले; वही उपासनीय है, वही सेवनीय है। वह आंजन किस काम का जिससे आंखें ही फूट जायें। वह समाज, वर्ग एवं भीड़ किस काम के जिसमें सत्यज्ञान न मिलकर भटकाव मिलता है। काम तो आता है कुआं-नदी का पानी, समुद्र लेकर क्या करेंगे !

जड़तापूर्ण मनुष्य को उपदेश नहीं लगता

चारिमास घन बर्षिया, अति अपूर जल नीर॥
पहिरे जड़ तन बखतरी, चुभै न एकौ तीर॥ 156॥

शब्दार्थ—घन=बादल। अपूर=भरपूर, प्रचुर। जड़=अज्ञान, जड़ता। बखतरी=बकतर, लोहे का कवच।

भावार्थ—बादल चारों महीने वर्षा काल में भरपूर पानी बरसाये, किन्तु ऊसर जमीन में जैसे कुछ न पैदा हो, और किसी द्वारा बाणों की भरपूर वर्षा करने पर भी लोहे का कवच पहने होने से उसके अंग में एक भी बाण न चुभे, वैसे जिसने जड़ता का कवच पहन रखा है उसे ज्ञान की एक बात भी नहीं लगती, चाहे उसके सामने कोई ज्ञान-वाणी की अपार वर्षा करता रहे॥ 156॥

व्याख्या—घनघोर वर्षा होने पर भी ऊसर जमीन में कुछ नहीं पैदा होता। जिनका हृदय जड़ता से पूर्ण है उनकी दशा यही है। जैसे वर्षाकाल के चारों महीनों में निरन्तर वर्षा होती रहे, तो भी ऊसर जमीन ऊसर ही रहती है, वैसे चौमासा संतों के उपदेश सुनते-सुनते भी ज्ञान का जीवन पर यदि कोई असर न हो तो यही माना जायेगा कि हृदय अत्यन्त मलिन है। पुराकाल में संतजन कहीं एक आश्रम पर चौमासा वर्षा रहते थे। वहां रोज सत्संग एवं ज्ञान की चर्चा होती थी। कबीर साहेब के समय में भी ऐसी बात थी। मानो

सद्गुरु कबीर किसी ऐसे ही व्यक्ति को लक्ष्य कर अपनी यह बात कह रहे हों, जो उन सभी के लिए लागू होती है जो स्वभाव से ही जड़तापूर्ण हैं।

दूसरा उदाहरण बाण-वर्षा का है। कोई किसी के ऊपर बाणों की जोरदार वर्षा कर रहा हो, परन्तु जिस पर वह बाण वर्षा कर रहा हो उसने लोहे का कवच पहन रखा हो तो उसे एक बाण भी नहीं लगेगा। इसी प्रकार जिसने अपने मन पर जड़ता का कवच डाल रखा है उस पर ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता।

यह प्रायः सभी उपदेष्टाओं का अपना अनुभव रहता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्द्रिय-लंपट व्यक्ति गुरु-उपदेशों से दूर भागता है

गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार।
कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार॥ 157॥

शब्दार्थ—भेली=भये से, होने से, संगत से अथवा भेली (गुड़-पिंड सदृश) मिष्ट उपदेश से। काया सींचनहार=भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाला। लार=कतार, पंक्ति, लालच, आदत, व्यसन।

भावार्थ—भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाले देहाभिमानी लोग सच्चे सद्गुरु की शरणाधीनता एवं संगत से अथवा उनके मिष्ट उपदेशों से डरते हैं—दूर भागते हैं। कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन एवं भोग-ऐश्वर्य में ही उनका मन बसता है। उन्हें जुआ के व्यसन के समान अंट-संट धन कमाकर उसे भोगने की आदत हो जाती है॥ 157॥

व्याख्या—"गुरु की भेली जिव डरे" में आये हुए 'भेली' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'भेली' अर्थात भये से, होने से, गुरु का होने से, गुरु की शरण जाने से, गुरु की संगत से। भेली का अर्थ गुड़ का पिंड भी होता है, जिससे अर्थ होगा कि भेली के समान गुरु के मीठे उपदेशों से जीव डरता है। दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। सार यह हुआ कि मनुष्य गुरु के कल्याणकारी उपदेशों से दूर भागता है। सद्गुरु कबीर इसका कारण बताते हैं कि मनुष्य 'काया सींचनहार' बन गया है। सींचने का अर्थ है पानी से जमीन को तर करना, अच्छी तरह भिगो देना। जो मनुष्य भोगों से अपनी इन्द्रियों को निरन्तर सींचता है, वह गुरु के मीठे उपदेशों से डरता है। गुरु का उपदेश है कि इन्द्रियों के भोगों का त्याग करो। इसलिए जो भोगों में रात-दिन लीन है वह गुरु के उपदेशों से दूर भागेगा ही। कितने सत्संगी इसलिए संतों के पास आना बंद कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने बीड़ी-तम्बाकू पीना-खाना शुरू कर दिये हैं। उनको डर है कि गुरु-संतों के पास जाने पर हम डांटे जायेंगे।

इन्द्रिय-भोग प्रेय-मार्ग है और गुरु-उपदेश श्रेय-मार्ग है। प्रेय-मार्ग पहले बड़ा प्यारा लगता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर पतन है और श्रेय-मार्ग पहले बड़ा कठिन लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत है, स्थायी शांति है। किन्तु अविद्यावश मनुष्य इन्द्रिय-भोगों में उलझ जाता है। जो व्यक्ति जितना ही विषयों में लीन होगा, वह उतना ही गुरु उपदेशों एवं सत्संग से दूर भागेगा।

"कुमति कमाई मन बसे" अधिक भोगपरायण व्यक्ति का मन कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने में बसता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिक भोग चाहता है वह येनकेनप्रकारेण धन कमाता है। घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, चोरी, डाका—भोगी आदमी सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। लोग धन के लिए गुरु की हत्या करते हैं, माता-पिता को विष देते हैं, भाई की हत्या करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही भोगों को महत्त्व देता है वह उतना ही धन पाने के लिए कुबुद्धिपूर्वक प्रयास करता है। यदि हम नाजायज तरीके से धन कमाते हैं तो इसका मतलब यह है कि हम किसी का हक छीनते हैं। हम स्वयं नहीं चाहते हैं कि कोई हमारा हक छीने। इसलिए हमारी मानवता यही है कि हम किसी का हक न छीनें। परन्तु भोगी आदमी अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधा होता है। वह जो अप्रिय घटना अपने लिए नहीं चाहता, वही दूसरों के लिए करता है। परन्तु दूसरों को कष्ट देकर कोई सुखी नहीं हो सकता। सद्गृहस्थ भोगों में संयम रखता है। वह यथासंभव संयम से चलता है। इसलिए उसे दूसरे के हक को मारने की जरूरत नहीं पड़ती। जब आदमी "काया सींचनहार" बनता है तब उसे 'कुमति कमाई मन बसे" की स्थिति प्राप्त होती है। ये दोनों वाक्यांश बड़े मार्मिक हैं। काया को सींचने वाला इन्द्रिय-लंपट होता है और इन्द्रिय-लंपट क्या-क्या कुकर्म नहीं कर सकता !

इन्द्रिय-लंपटता और कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने की बात को सद्गुरु जुए के व्यसन से समझाते हैं। जिसे जुआ खेलने की आदत हो जाती है, वह उससे अपना पतन देखते हुए भी उसी में चिपका रहता है। इसी प्रकार जिसे इन्द्रिय-भोगों में लंपटता तथा उसके लिए अंटसंट धन कमाने की आदत हो जाती है वह उनमें अपना अधःपतन जानते हुए भी उन्हीं में डूबा रहता है।

जो जितना ही भोगी होता है वह उतनी ही हिंसा करता है। हिंसा का मतलब है दूसरों का हक मारना। भोगपरायणता से वैसे ही बुद्धि मलिन होती है, उसके साथ हिंसा करने से मनुष्य का और अधःपतन होता है। अतएव इनसे छूटने के लिए भोगों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। भोगों के त्याग के लिए विवेकवती बुद्धि चाहिए। इसके लिए गुरु-संतों के उपदेश तथा उनकी संगत की महती आवश्यकता है। अतएव गुरु के जिन उपदेशों से जीव डरता है—दूर भागता है, उन्हीं की उसे अत्यन्त आवश्यकता है, उनके बिना जीव

का दुख कभी नहीं छूट सकता।

जीव का कुशल कहां है?

तन संशय मन सोनहा, काल अहेरी नीत॥
एकै डाँग बसेरवा, कुशल पूछो का मीत॥ 158॥

शब्दार्थ—सोनहा=कुत्ते की जाति का एक जंगली पशु जो बाघ को भी मार डालता है,[1] कुत्ता। काल=कल्पनाएं, अज्ञान। अहेरी=शिकारी। डाँग=जंगल, स्थान।

भावार्थ—शशा, कुत्ता और शिकारी एक ही जगह पर हों, तो शशा का कुशल कहां ! शरीर संशय का घर है, मन कुत्ता है और अज्ञान शिकारी है। ये एक ही जगह पर नित्य रहते हैं, फिर हे मित्र ! कुशल क्या पूछते हो !॥158॥

व्याख्या—"तन संशय का कोट"[2] उक्ति के अनुसार यह शरीर अनेक संदेहों, संशयों एवं भ्रांतियों का किला है। शरीर का गुजर कैसे होगा, बुढ़ापा एवं व्याधि में सेवा कौन करेगा, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, व्यापार रुक न जाये, स्वजन तथा मित्र विमुख न हो जायें, शरीर रोगी न हो जाये, चोर, डाकू तथा शत्रु हमारा सब कुछ छीन न लें, हमारी जान के जोखिम न हो जाये, हमारा समाज में अपमान न हो जाये, कहीं चलें तो एक्सीडेंट न हो जाये—कहां तक गिनाया जाये, अनेक संशयों से मनुष्य निरन्तर पीड़ित रहता है। अनेक आध्यात्मिक संशय भी लगे रहते हैं। मैं शरीर हूं या मन हूं या प्राण हूं या इनसे अलग अविनाशी हूं, मरने के बाद मैं रहता हूं या नहीं, मोक्ष कोई दशा है या नहीं आदि संशय मनुष्यों को बने रहते हैं।

"मन सोनहा" मन तीव्र हिंसक पशु है। यद्यपि मन कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। मन केवल हमारे बनाये संस्कारों का स्वरूप है। परन्तु विषयों के आसक्तिवश वह बलवान बन बैठा है। मन क्षण-क्षण मलिन विषयों पर झपट्टा मारता है। कुत्ते के सूखी हड्डी चूसने के समान मन नीरस विषयों में डूबा रहता है। और "काल अहेरी" है। काल है कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, मान, अपमान आदि की कल्पनाएं मन को निरंतर पीड़ित करती रहती हैं। मूल रूप में अज्ञान ही काल है। इसी से तो कल्पनाएं उठती हैं। अज्ञान ही पीड़ा है, दुख है। सद्गुरु कहते हैं ये सब सदैव जीव के साथ बने रहते हैं, तो हे मित्र ! तुम क्या कुशल पूछते हो !

जीव का कुशल कब है ! जब सारे संशयों का नाश हो जाये। जो कुछ

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. साखी 104।

मिला है, वह छूटेगा, क्षण-क्षण छूट रहा है। सबसे निकट माना गया अपना शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन यह पलमात्र में सदैव के लिए लीन हो जायेगा। जब तक जीवन है इसका गुजर होगा ही। यदि निर्वाह का एक आधार कारणवश छूट जाये तो दूसरा आधार बन जायेगा। मैं शरीर, प्राण, मनादि समस्त जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध अविनाशी चेतन हूं। स्व-स्वरूप ही मेरा अपना निधान है जो स्वभावतः पूर्णकाम है। सारी विषय-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद मैं स्वरूपस्थ परमानंदमय हूं। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[1] इस स्थिति को प्राप्त करके मन निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है और सारी कल्पनाएं शांत हो जाती हैं। ऐसी स्थिति पाकर ही जीव का कुशल है। यदि यह स्थिति नहीं पायी गयी तो जीव का कुशल कहां है !

धोखेबाज एवं अधूरे गुरुओं से सावधान

साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन॥
पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भीन॥ 159॥

शब्दार्थ—साहु=साधु, सज्जन, सत्यवादी, सद्गुरु। चोर=धूर्त, गुरुआ। पारख=परख, गुण-दोष की पहचान। भीन=भिन्न।

भावार्थ—विवेकहीन अंधा मनुष्य यह नहीं पहचानता कि सच्चा सद्गुरु कौन है तथा भटकाने वाला धूर्त गुरुआ कौन है। सारासार न परखने से ही मनुष्य पतनपथ में जाता है। अतएव हे जिज्ञासु ! विचार करके असत्यमार्ग और सारे विजाति तत्त्वों से अलग हो जाओ॥ 159॥

व्याख्या—जैसे श्रेष्ठी शब्द का अपभ्रंश होकर सेठ शब्द बना है, वैसे साधु से साहु शब्द बना हुआ लगता है। साहु का अर्थ ही है जो सत्य का व्यवहार रखता हो। सज्जन एवं ईमानदार को साहु कहते हैं। जो कहीं दूर-दराज से माल लाकर पब्लिक में बेचता था और पब्लिक से माल खरीदकर दूर-दराज देश में ले जाकर बेचता था, उस व्यापारी को सच्चा, ईमानदार एवं सज्जन मानकर उसके नाम साहु (साधु) एवं महाजन (महान मनुष्य) रखे गये थे। खेद है कि अपनी चोरबाजारी, जमाखोरी, मिलावटबाजी, चोरी एवं बेईमानी के कारण वही वर्ग आज सबसे अधिक धोखेबाज, बेईमान एवं चोर माना जाता है। यह भी सच है कि आज भी कितने व्यापारी अपेक्षया ईमानदार हैं। परन्तु धोखेबाज व्यापारियों के गलत आदर्श के कारण उन्हें भी संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

---

1. साखी 322।

गुरुदर्जा तो सर्वोच्च है। गुरु वह है जिसका ज्ञान सच्चा हो तथा आचरण सच्चा हो, परन्तु खेद है कि गुरु नाम से धन्धेबाज ही नहीं धोखेबाज भी अधिक हो गये हैं। वे अपने छूमंतर से शिष्यों के सारे पाप काटते रहते हैं, चमत्कार एवं ऋद्धि-सिद्धि का झांसा देकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं। वे अपने आप को तथाकथित ईश्वर के अवतार घोषित करते हैं। प्रसिद्ध संतों के अवतार बनते हैं। वे आनन-फानन में शिष्यों को ईश्वर-दर्शन कराते हैं, उन्हें मोक्ष देते हैं। कितने गुरु धोखेबाज एवं धन्धेबाज नहीं होते, वे हृदय से सच्चे एवं ईमानदार होते हैं, उनके आचरण भी अच्छे होते हैं; परन्तु उनकी दार्शनिक भ्रांतियां कटी नहीं रहतीं। उन्हें जड़-चेतन का ठीक से भिन्न विवेक नहीं रहता। वे शिष्यों को किसी कल्पित अवधारणा में लगाकर उन्हें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर ही रखते हैं। अतएव वे हृदय से ईमानदार होने पर भी पूरे गुरु नहीं हैं। उनके द्वारा शिष्यों के भ्रम नहीं कट सकते।

कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकहीन व्यक्ति सच्चे सद्गुरु तथा धन्धेबाज, धोखेबाज एवं ज्ञानहीन गुरुओं की परख नहीं कर पाता। ज्यादा शिक्षित-अशिक्षित तो धन्धेबाज, धोखेबाज गुरुओं के चक्कर में ही फंस जाते हैं। उसके बाद के लोगों में अधिक लोग विवेकरहित गुरुओं के पास अटक जाते हैं। कोई बिरले ही सच्चे गुरु की परखकर उनकी शरण में पहुंच पाते हैं। सद्गुरु कहते हैं "पारख बिना बिनाश है" तुम्हें सांच-झूठ की परख न होने से तुम्हारा पतन है। गुरु शब्द के मोह में पड़ना महा मायाजाल है। जो ईमानदार नहीं, जो तर्कयुक्त बात नहीं करता, जिसके जीवन में विसंगतियां हैं, जो समाज को बेवकूफ बनाने पर तुला है, ऐसे गुरु नामधारियों का दूर से ही नमस्कार कर लेना चाहिए। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में दोनों बातें कहीं हैं "झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार" तथा "साँचे गुरु के पक्ष में, दीजे मन ठहराय।"

"कर बिचार होहु भीन" विचार करके सारी भ्रांतियों से अलग हो जाओ। अथवा जड़-चेतन का भिन्न विवेककर अपने चेतनस्वरूप को जड़ से अलग कर लो। जड़-चेतन को एक मान लेना ज्ञान नहीं है, किन्तु चेतन को जड़ से अलग समझना वास्तविक ज्ञान है। सबको परखकर उन्हें छोड़ देना और अपने स्वरूप में स्थित होना ही पारख-विवेक है। अपने स्वरूप से अलग कुछ अवश्य है जिसका विचार करके उससे अलग होने की बात सद्गुरु बताते हैं, वह है जड़-दृश्य। जड़ से अलग होकर ही अपने स्वरूप में स्थिति हो सकती है।

सच्चे गुरु की शरण लो

गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय॥

शब्द छोलना छोलिके, चित दर्पण करि लेय॥ 160॥

शब्दार्थ—सिकलीगर=धारदार हथियारों पर सान रखने वाला। मस्कला=मसकला, सिकलीगरों का औजार जिसकी रगड़ से धातुओं में चमक आती है। छोलना=साफ करने का औजार। दर्पण=शीशा, स्वच्छ।

भावार्थ—जिस प्रकार सिकलीगर मसकला देकर धातुओं को उज्ज्वल कर देता है, उसी प्रकार ऐसे सद्गुरु की शरण लो जो तुम्हारे मन पर विवेक का मसकला देकर, निर्णय शब्दरूपी छोलने से छीलकर और मल, विक्षेप तथा आवरणरूपी मूर्चा को झाड़कर तुम्हारे चित्त को दर्पणवत स्वच्छ बना दे॥ 160॥

व्याख्या—लोकोक्ति है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।" भावुकता में पड़कर और आंखें मूंदकर किसी को गुरु नहीं मान लेना चाहिए। कबीर देव हमें आज्ञा देते हैं कि गुरु अवश्य करो; परन्तु वह ऐसा होना चाहिए जैसे सिकलीगर होता है। सिकलीगर के पास हम चाकू, उस्तुरा या अन्य औजार ले जाते हैं, तो वह उन्हें लेकर मसकला पर चढ़ाता है और मांजकर एकदम उज्ज्वल एवं धारदार कर देता है। इसी प्रकार सच्चा सद्गुरु होता है। वह शिष्य के मन को विवेक के मसकले पर चढ़ाकर उसे माजता है। वह निर्णय शब्दों के छोलने से उसके चित्त को छीलता है। उसके कसर-विकार को निकालता है। साखीग्रन्थ में भी सद्गुरु का यह प्रसिद्ध वचन है "गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट। भीतर हाथ सहार दे, बाहर बाहै चोट॥" कुम्हार मिट्टी के घड़े को सुन्दर, सुडौल एवं विस्तृत बनाने के लिए उसके भीतर एक हाथ का सहारा देकर ऊपर से पीटता है। यदि वह घड़े को बाहर से न पीटे तो वह सुन्दर नहीं बनेगा और यदि पीटते समय भीतर से सहारा न दे तो वह टूट जायेगा। कुशल गुरु शिष्यों को पुत्रवत स्नेह देता है, परन्तु उसे ज्ञान तथा आचरण की कड़ी शिक्षा देकर सुसभ्य बनाता है। वह संकोच एवं मुलाहिजे में पड़कर शिष्यों की गलतियों पर उन्हें छूट नहीं देता। माता अपने बच्चों को जैसे स्नेह देती है, सच्चा सद्गुरु वैसे शिष्यों को स्नेह देता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह उन्हें ढील छोड़ देता है। सच्चा सद्गुरु शिष्यों पर कड़ा अनुशासन रखता है।

गुरु के पास जब तक किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती तब तक वह शिष्यों के मान का मर्दन नहीं कर सकता और शिष्यों का मान मर्दित हुए बिना वे गुरु को सर्वथा समर्पित नहीं हो सकते। शिष्यों की अपेक्षा गुरु में मुख्य बातों की विशेषता होनी चाहिए। गुरु में त्याग, तप, ज्ञान, विद्या, अध्ययन, अनुभव, वक्तृत्व कुछ भी अधिक चाहिए। बिना गुरु में वजनदारी हुए, शिष्य उसके सामने पूर्णतया विनयावनत नहीं होते। गुरु के मुख्य गुण हैं सच्चा

ज्ञान, पवित्र रहनी, स्नेहिल हृदय तथा अनुशासन-प्रियता। शिष्यों को निभाना कोई सरल काम नहीं है। उसमें भी समर्पित शिष्यों को, जो जीवनभर के लिए गुरु के साथ हो जाते हैं। स्वयं लचर गुरु शिष्यों को नहीं निभा सकता। गुरु का काम है कि वह स्वयं अपने बोध एवं स्वरूपस्थिति में पूर्ण हो तथा शिष्यों को उनकी कड़ी सीख दे। गुरु को चाहिए कि वह अपनी तरफ से शिष्यों के प्रति उपदेश देने में तथा उन पर कड़ी निगरानी रखने में कोई कसर न रखे।

जो गुरु शिष्यों की संख्या बढ़ाने के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे को बटोरकर एक दल तो बना लेते हैं, परन्तु वह दल केवल सड़न उत्पन्न करता है। शिष्यों की संख्या बढ़ाने की कोई रुचि नहीं होनी चाहिए। पूर्ण परीक्षा करके तथा अच्छी तरह गढ़-तराशकर ही शिष्यों को स्वीकारना चाहिए। जो अपनी सामाजिक स्थिति के सामान्य नियमों का भी उल्लंघन करता है, वैसे शिष्यों को दूर कर देना ही समाज के लिए कल्याणकर है। जिसमें त्याग, भक्ति, विनयभाव, जिज्ञासा एवं मुमुक्षा भावना है वही गुरु के अनुशासन में रुक सकता है और वही गुरु शिष्य का कल्याण कर सकता है जो अपने जीवन-दर्शन एवं वचनों से शिष्यों को ज्ञान, रहनी और अनुशासन की खरी शिक्षा दे सके।

सद्गुरु ने इस साखी में शिष्य के चित्त को शुद्ध करने के लिए मसकला और छोलना इन दो औजारों का उदाहरण दिया है जो परख और विवेक हैं। शिष्य के शुद्ध हुए चित्त को स्वच्छ दर्पण एवं शीशे से समझाया गया है। गुरु में सिकलीगर का उदाहरण घटाया गया है। इतने सारे आलंकारिक उदाहरणों को देकर सद्गुरु ने अपने कथ्य को सरल और सटीक बनाया है। सबका सार यही है कि जिज्ञासु को ऐसे गुरु की शरण में जाना चाहिए जो शिष्य में आध्यात्मिक चमक लाने के लिए उसे परख एवं विवेक का भरपूर सहारा दे।

मूर्खों को चेताना व्यर्थ है

मूरख के सिखलावते, ज्ञान गाँठि का जाय।
कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय॥ 161॥

शब्दार्थ—गाँठि का=पास का, हृदय का।

भावार्थ—मूर्ख मनुष्य को सीख देने पर उसके द्वारा उसका दुरुपयोग होने के कारण उपदेष्टा के हृदय की शांति भंग होती है। मूर्ख उसी प्रकार हजारों उपदेश देने पर भी शुद्ध नहीं होता, जिस प्रकार सौ मन साबुन लगाकर धोने पर भी कोयला उजला नहीं होता॥ 161॥

व्याख्या—कबीर केवल संतशिरोमणि ही नहीं हैं, किन्तु कवि-कुलभूषण भी हैं। वे पदे-पदे इतने सुन्दर, सटीक और सचोट उदाहरण देते हैं कि

विषय-वस्तु समझना अत्यंत सरल हो जाता है। कबीर के काव्य को पढ़ते समय उनके काव्य-कौशल, अलंकार, उदाहरण तथा सचोट तार्किक कथ्यों पर मन मुग्ध हो जाता है। आलंकारिक काव्य-कौशल प्रदर्शित करने वाले तो दूसरे कवि भी बहुत हैं, परन्तु हर बात में तार्किक चिन्तन देने वाले कबीर हैं।

इस साखी में सद्गुरु ने एक सरल बात पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं, कि यदि मूर्ख मनुष्य को उपदेश दिया जाये तो वह उससे लाभ लेगा नहीं, बल्कि उलटकर उसका दुरुपयोग करेगा। वह अच्छी सीख एवं उपदेश का गुप्त या प्रकट मजाक उड़ायेगा, हंसी करेगा या सीख देते समय उद्दण्डतापूर्वक जवाब देगा, अथवा सीख के उलटे आचरण करके समाज में अपनी वरीयता जाहिर करना चाहेगा। ऐसे लोगों को उपदेश देने से उनके द्वारा उपदेशों की अवहेलना होने के कारण उपदेष्टा में असंतोष आ सकता है और उसकी शांति भंग हो सकती है। यही उपदेष्टा की गांठ का ज्ञान चला जाना है। उपदेष्टा चला मूर्ख को शांति देने, तो उसको कोई लाभ नहीं हुआ, उलटे उपदेष्टा की ही शांति भंग हो गयी।

आप जानते हैं कि कोयला भीतर से बाहर तक स्वरूपतः काला होता है। उसे सौ मन साबुन लगाकर पानी से धोया जाये तो भी वह उजला होने वाला नहीं है। मूर्खों की यही दशा है। वे भीतर से बाहर तक काले कोयले हैं। वे शुद्ध नहीं हो सकते, चाहे उन्हें लाख उपदेश दिये जायें। यह कहा जा सकता है कि कोयला तो जड़ है, किन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपनी दृष्टि बदल दे तो अवश्य सुधर जायेगा। यह तर्क ठीक होने पर भी कहना पड़ता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हजार सीख देने पर भी सुधर नहीं सकते। यह सभी महामनीषियों का अनुभव है। कबीर साहेब के परवर्ती गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज भी कहते हैं—"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरंचि सम। फूले फलै न बेत, यदपि सुधा बरसै जलद॥" गोस्वामी जी ने तो इस सोरठा में इतना ही बताया कि मूर्ख श्रेष्ठ गुरु द्वारा भी नहीं चेत सकता। कबीर साहेब ने उक्त साखी में कहा कि वह चेत तो सकता ही नहीं, उलटकर चेताने वाले की ही शांति भंग होगी। और यह तथ्य है। अतएव गुरुजनों को चाहिए कि शिक्षा पर क्रोध प्रकट करने या उसकी अवहेलना करने वाले शिष्य का परित्याग करे।

"कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय।" इस कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि कोयला सौ मन साबुन से उजला नहीं होगा तो क्या सौ मन से ज्यादा साबुन लगाने पर उजला हो जायेगा? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां सौ मन वजन साबुन से मतलब नहीं है। यह "सौ मन साबुन" भी एक मुहावरा हो गया है। जिसका अर्थ लाक्षणिक है कि चाहे

जितना साबुन लगाने पर भी कोयला उजला नहीं होगा। इसी प्रकार मूर्ख को सौ बार या हजार बार समझाने पर भी वह नहीं चेतेगा। इस कथन में सौ या हजार बार समझाने की बात एक मुहावरा है जिसका लाक्षणिक अर्थ है कि चाहे जितना समझाओ, मूर्ख नहीं चेत सकता।

मूढ़ कर्मिया मानवा, नख शिख पाखर आहि ॥
बाहनहारा क्या करै, जो बान न लागै ताहि॥ 162॥

शब्दार्थ—पाखर=लोहे की वह झूल जो लड़ाई में हाथी या घोड़े पर उनकी रक्षा के लिए डाली जाती है। बाहनहारा=बाण चलाने वाला, तात्पर्य में उपदेशक।

भावार्थ—मूढ़ता का आचरण करने वाले मनुष्य के तो एड़ी से चोटी तक मूर्खता की झूल पड़ी है, फिर ज्ञानोपदेशरूपी बाण चलाने वाले उपदेशक संत-गुरु क्या करें जबकि मूढ़ श्रोता को एक बाण भी नहीं लगता॥ 162॥

व्याख्या—पुराकाल में जब सैनिक हाथी-घोड़े पर बैठकर और धन्वा-बाण चलाकर लड़ते थे, तब वे स्वयं लोहे का बकतर पहनते थे और हाथी-घोड़े को भी लोहे की झूल पहना देते थे जिससे शत्रुओं के बाण उनके अंगों को न बेध सकें। सद्गुरु कहते हैं कि मूर्ख मनुष्य मानो अपने सर्वांग में मूर्खता एवं हठता की झूल पहन रखा है। उसको चाहे जितना उपदेश करो, उस पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। यहां सद्गुरु उपदेष्टाओं को यह बताना चाहते हैं कि जो मूर्ख, अत्यन्त हठी एवं सर्वथा अपात्र हैं, उनको चेताने के पीछे मत पड़ो। इससे उनका कोई लाभ होने वाला नहीं है और तुम्हारी हानि है। एक तो तुम अपने अमोल समय को व्यर्थ में खोओगे, दूसरे उनके द्वारा अपने उपदेशों की अवहेलना देखकर व्यर्थ कष्ट होगा। अतएव जिस व्यापार में अपना और दूसरे किसी का भी लाभ न हो वह क्यों किया जाये !

संसार सेमल फल के समान असार है

सेमर केरा सूवना, छिवले बैठा जाय ॥
चोंच सँवारे सिर धुनै, ई उसही को भाय॥ 163॥

शब्दार्थ—छिवले=ढाक-पलास।

भावार्थ—सेमल-वृक्ष पर रहने वाला सुग्गा उड़कर पलास के वृक्ष पर जा बैठा। उसके फल में भी चोंच मारने पर जब उसकी सारहीनता प्रतीत हुई तो सिर पटककर पश्चाताप करने लगा और सोचने लगा कि यह भी सेमल का भाई-बिरादर है॥ 163॥

व्याख्या—सुग्गा ने सेमल-फल को खाने की आशा से उनका सेवन

किया। सेमल-फल के पकने पर जब उनमें उसने चोंच मारी तो नीरस रुई निकली। अतएव वह वहां से उड़कर पास के पलास के पेड़ पर जा बैठा। उसने उसके फल में चोंच मारी तो वह भी सारहीन तथा कुस्वाद युक्त ठहरा। यह भी उसी के समान है यह विचारकर उसे कष्ट हुआ। मनुष्य की यही दशा है। वह एक भोग से दूसरे भोग के पास जाता है और उसे हर भोग में सेमल के फल के समान सारहीनता का अनुभव होता है। पहले सुग्गा सेमल के फूल एवं फल का सेवन करता है। उनके इर्द-गिर्द मंडराता है। जब फल पकते हैं और उनमें चोंच मारने पर नीरस रुई निकलती है तब उसकी आशा पर पानी फिर जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की दशा है। वह जवानी में काम-भोग के प्रति आकर्षित होता है। परंतु सारी परतंत्रता एवं मलिनता का कारण काम-भोग बनता है। फिर उसे पुत्र-धन से सुख की आशा होती है, परन्तु थोड़े दिनों में उनकी सारहीनता का भी परिचय मिल जाता है। आदमी स्त्री, पुत्र, धन, पद, मान, प्रतिष्ठा आदि एक भोग के बाद दूसरे भोगों की ओर दौड़ लगाता है। पहली बात यह है कि उसे इच्छानुसार भोग मिलते ही नहीं और यदि कुछ लूले-लंगड़े मिल भी गये, तो उनमें उसे संतोष नहीं मिलता। यदि इच्छित भोग भी मिल जायें तो भी उनमें तृप्ति कहां है ! भोगों में लगने पर जीवन में भटकाव के अलावा कुछ नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के भोगों में इतना ही अन्तर है कि कोई सेमल के फल के समान है और कोई पलास के फल के समान। सेमल के फल में एकदम नीरस रुई है और पलास के फल में भी करीब-करीब वही नीरसता है। मन-इन्द्रियों से अनुभव में आने वाले सारे पांचों विषयों के भोगों की दशा यही है। संसार के बड़े-से-बड़े कहे जाने वाले भोग जिनके लिए आदमी सारे पाप करने के लिए तैयार रहता है, एकदम सारहीन हैं।

सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख ॥
ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख ॥ 164 ॥

शब्दार्थ—बेगि=शीघ्र। घनी=बहुत। बिगुर्ची=उलझी।

भावार्थ—हे सुग्गे ! सारहीन फल वाले सेमल के पेड़ को शीघ्र छोड़ दे। सेमल की रुई में तेरे पंख बहुत उलझ गये हैं। ऐसे नीरस सेमल-फल का सेवन वही करता है जिसके हृदय में विवेक की आंखें नहीं होतीं ॥ 164 ॥

व्याख्या—वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर की दृष्टि पारदर्शी है। वे संसार के विषयों में डूबे हुए मनुष्यों को सावधान कर रहे हैं कि हे मनुष्य ! तू इन नीरस भोगों को शीघ्र छोड़ दे। जिन ज्ञान-वैराग्य के पंखों से तू उड़कर भवचक्र से भाग सकता है वे विषयासक्ति में उलझ गये हैं। आदमी जितना भोगों तथा संसार की आशा-तृष्णा में डूबता है उतना ही संसार में उलझता है। संसार में

उलझकर उसे दुख तथा पश्चाताप के सिवा कुछ नहीं मिलता है। संसार के बड़े-बड़े कहे जाने वाले ऐश्वर्य अन्त में मिट्टी में मिल जाते हैं। उनके मोह तथा अध्यास-वश जीव को केवल दुख एवं भव-बंधन मिलते हैं। जैसे सेमल के फूल तथा फल केवल देखने में मनोहर और आकर्षक लगते हैं, परन्तु उनमें सार कुछ भी नहीं है, वैसे धन, परिवार, मान, बड़ाई तथा संसार के ऐश्वर्य देखने में आकर्षक लगते हैं, परन्तु अन्त में उनमें कुछ भी सार नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मूढ़ सुग्गे ! तू शीघ्र सेमल को छोड़ दे। अर्थात हे मूढ़ मानव ! तू जल्दी से इस दिखावे से भरे संसार का मोह छोड़ दे। जिन मायावी प्राणी-पदार्थों के मोह में तू मूढ़ बना है वे अन्ततः कुछ नहीं हैं। सांसारिक माया की निस्सारता के लिए सेमल के फूल-फल के उदाहरण के समान दूसरा क्या हो सकता है ! इतने पर भी हमारी आंखें न खुलें तो दूसरा क्या उपाय है ! कुत्ते दस बार डंडे खाकर भी हंडी में मुंह डालते हैं, वैसे हम संसार से ठोकर खाकर भी उसके मोह में मूढ़ बनते हैं। चारों तरफ से असंतोष पाकर भी मोह-मूढ़ मन नहीं जागता, मोह तथा विषयासक्ति से उसे घृणा नहीं होती तो उसका उद्धार कैसे होगा ! जहां सब कुछ नाशवान है, वहां किससे मोह-ममता की जाये !

सद्गुरु कहते हैं "ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख।" जिसके हृदय की आंखें—विवेक-विचार—नहीं हैं वही इन सारहीन मायावी वस्तुओं में मोह-मूढ़ बनता है। विचारकर देखा जाये तो संसार में कोई बिरला होगा जिसके हृदय की आंखें खुली हैं, अन्यथा सबकी बन्द हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह से जागो ! हृदय की आंखें खोलो !

सेमर सुवना सेइया, दुइ ढेंढ़ी की आस॥
ढेंढ़ी फूटि चनाक दै, सुवना चलै निरास॥ 165॥

शब्दार्थ—दुई ढेंढ़ी=दो फल, लक्षणा अर्थ में कुछ फल, तात्पर्य में दृष्ट और श्रुत भोग।

भावार्थ—सुग्गों ने कुछ फल की आशा में सेमल के फूल और फल का सेवन किया, परन्तु जब सेमल के फूल पककर चटाक से फूटने लगे और उनमें से नीरस रोयें निकलकर उड़ने लगे, तब सुग्गे निराश होकर उड़ चले। इसी प्रकार मनुष्य देखे और सुने हुए भोगों को भोगने की आशा में सांसारिक माया का सेवन करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता और स्वार्थपरता की कलई खुलने पर निराश होकर संसार से चले जाते हैं॥ 165॥

व्याख्या—मनुष्यों को दृष्ट और श्रुत दो प्रकार के भोगों का लालच है। दृष्ट का अर्थ है संसार के पांचों विषयों के भोग जो इन्द्रियों के सामने हैं; और

श्रुत का अर्थ है सुने हुए भोग जो काल्पनिक देव, ईश्वर एवं स्वर्ग से प्राप्त माने गये हैं। श्रुत-भोग तो निरी कल्पना ही हैं, परन्तु जो संसार के दृष्ट-भोग हैं वे भी नश्वर हैं और मनुष्यों की स्वार्थपरता में पड़े हुए चारों तरफ से खींचतान के हैं।

शरीर के गुजर के लिए तो सबको श्रम करना पड़ता है और उसके लिए साधन जुटाना पड़ता है। यह आवश्यक है। इसके बिना जीवन नहीं चल सकता। जीवन-निर्वाह का धन्धा करना बंधन नहीं बनता। जीवन-निर्वाह के अलावा है इंद्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थों से मोह-ममता एवं लोभ-लालच। ये सब जीव के लिए फांसी बनते हैं। मनुष्य का देह-निर्वाह तो थोड़ी-सी चीजों में हो सकता है, वह भोगों के लालच में मारा जाता है। विमोहित मानव संसार के प्राणी-पदार्थों में स्थायी सुख ढूंढ़ता है जो आकाशकुसुम के समान असम्भव है। संसार के प्राणी-पदार्थों से केवल शरीर-निर्वाह होता है। मन का स्थायी सुख तो मन की निर्मलता, स्वच्छता एवं एकाग्रता में है। जितना माया-मोह छोड़ो, उतना सुख है। मूढ़ मन समझता है कि जितनी मोह-माया करो, उतना सुख मिलेगा। जवानी, धन, काम-भोग, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख पाने का महान भ्रम होता है, परन्तु जब प्राणियों की स्वार्थपरता का व्यवहार सामने आता है और बुढ़ापा आने पर सब कुछ की नश्वरता का अनुभव होता है तब मनुष्य का मन निराश हो जाता है; परन्तु तब तक उसके सुनहले अवसर बीत चुके होते हैं। इस प्रकार परमशांति और परमानन्द के अनुभव करने के स्थान रूप मानव-शरीर को जीव गोबर-कीड़े के समान बिताकर संसार से चला जाता है। अतएव उसे अवसर रहते ही चेत जाना चाहिए। 'स्व' तथा 'पर' दो सत्ताएं हैं। 'स्व' का विस्मरण तथा 'पर' का मोह ही पीड़ाप्रद है और 'स्व' का अनुराग तथा 'पर' से विराग सुख-मूल है। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में ठहरने से ही जीव स्थायी सुखी हो सकता है।

दूसरे के भरोसे पर मत रहो

लोग भरोसे कौन के, बैठ रहै अरगाय॥
ऐसे जियरहिं जम लूटे, जस मटिया लुटे कसाय॥ 166॥

शब्दार्थ—अरगाय=अलग होकर, चुप्पी साधकर, हाथ पर हाथ धरकर, आलस्यपूर्वक। जम=यम, वासनाएं। मटिया=मांस।

भावार्थ—संसार के लोग किस देव-गोसैयां के भरोसे हाथ-पर-हाथ धरे एवं चुप्पी साधकर बैठे हैं! ऐसे आलसी मनुष्यों को वासनाएं उसी प्रकार लूटती हैं जैसे कसाई मांस को॥ 166॥

व्याख्या—मैं किंचिज्ञ, अल्पज्ञ और तुच्छ हूं, सर्वथा बलहीन हूं, हरि-माया अति बलवती है, प्रभु ही चाहे तारे और चाहे डुबावे, अथवा माया अनिर्वचनीया, अघटित-घटना-पटीयसी और दुरत्यया है—ऐसी कल्पना कर कितने मनुष्य आत्मविश्वास खो बैठते हैं। यह 'देव-देव आलसी पुकारा' के अलावा और कुछ नहीं है। कुछ भावुकों ने आम जनता को यह पाठ पढ़ाया है—"जीव तुच्छ है। वह कुछ नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा समझ ले और सब ईश्वर के भरोसे छोड़ दे, तो ईश्वर उसका सब कुछ कर देगा।" यह मानव मन को दुर्बल बनाना है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो बिना कमाई किये खेत में फसल दे दे, बुद्धि में विद्या दे दे तथा मन में मोक्ष दे दे। मनुष्य जब तक स्वयं श्रम नहीं करता तब तक उसे कुछ मिलने वाला नहीं है। संत-सद्गुरु भी केवल प्रेरणा देने वाले हैं, साधना-क्षेत्र पर स्वयं चलकर ही मोक्ष पाया जा सकता है। हम सपने में नदी में डूब रहे हैं, बाहर चाहे सैकड़ों नौकाएं बंधी हों, परन्तु बिना अपनी नींद खुले हम उससे बच नहीं सकते। मनुष्य का उद्धार करने वाला न कोई देव है और न कोई ईश्वर। उसे अपना उद्धार स्वयं करना है। यदि कोई देव या ईश्वर उद्धार करने वाले होते तो वे आज तक सारे जीवों का दुखों से उद्धार कर दिये होते। कहते हैं कि जब कोई कातरभाव से उनकी प्रार्थना करता है तब वे उसका उद्धार करते हैं। इतने लापरवाह और खुशामदपसंद देव और ईश्वर जो स्वयं दुर्बलताओं के शिकार हैं, वे दूसरे का क्या उद्धार कर सकते हैं! किसी कल्पित देव और ईश्वर का भरोसा करना अपने मन को क्षणिक सन्तोष देना मात्र है।

मनुष्य अपना कल्याण करने में स्वयं समर्थ है। हमारे पूर्वजों ने भी कहा है "नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः" बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम किसके भरोसे आलसी बनकर बैठे हो! कौन दूसरा तुम्हारा उद्धार कर देगा? वासनाएं जो बंधन हैं, वे तुम्हारे मन में हैं। उन्हें तुम्हीं नष्ट कर सकते हो। उन्हें कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। जो व्यक्ति किसी दूसरे देव तथा ईश्वर के भरोसे बैठकर अपना कल्याण चाहता है, उसे यमराज लूटता है। यमराज है वासनाएं। आलसी मनुष्यों को उनके मन की वासनाएं रात-दिन रुलाती हैं। जिसके हृदय में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा आत्मनियंत्रण नहीं है उसका उद्धार करने वाला दूसरा कोई नहीं है।

संसार का काम दूसरों के भरोसे पर छोड़ना भी पड़ता है, परन्तु आत्मकल्याण का काम तो बिलकुल स्वयं को ही करना पड़ता है। यदि हम घर नहीं बना सके तो हमारे परिवार या समाज के दूसरे व्यक्ति उसे बना लेंगे। इसी प्रकार अमुक काम हम नहीं कर सके तो उसे दूसरा साथी कर लेगा; परन्तु हमारा आत्मकल्याण दूसरा नहीं कर सकता। उसे तो हमें ही करना

पड़ेगा। अतएव अपनी जिम्मेदारी से कतराकर हम छुट्टी नहीं पा सकते। हमें अपना उद्धार स्वयं के पुरुषार्थ से करना है, यह निश्चय कर उसके लिए डट पड़ना चाहिए।

सर्वोच्च सन्त के लक्षण

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय॥
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय॥ 167॥

शब्दार्थ—जड़=मौन, भोलाभाला। बल=अहंकार। पला=पल्ला, आंचल, कपड़े का छोर, दामन, अंगरखे का निचला भाग।

भावार्थ—विवेकवान पुरुष सत्य को भली-भांति समझ-बूझकर भोले-भाले बन जाते हैं और सम्पूर्ण अहंकार को छोड़कर निर्मानी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे निर्मल संत का कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता, अर्थात उन्हें कोई प्रपंची नहीं बना सकता॥ 167॥

व्याख्या—शास्त्रज्ञानी, बौद्धिकज्ञानी एवं वाचिकज्ञानी ही अपने अर्जित ज्ञान का जा-बेजा प्रदर्शन करता रहता है। उसकी "बदो तो पंच न बदो तो पंच" वाली दशा रहती है। वह अनधिकारी के सामने भी अपना ज्ञान झाड़ता रहता है। उसे जनता को यह बताना रहता है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूं। वह जानकारी को ही ज्ञान मानता है और उसका हर जगह प्रदर्शन करते रहना ज्ञान की स्थिति मानता है।

सच्चे ज्ञानी की स्थिति इससे भिन्न होती है। सच्चा ज्ञानी वह है जिसने गलत और सही को, जड़ और चेतन को, बंधन और मोक्ष को तथा प्रापंचिकता एवं दिव्य रहनी के भेद को ठीक से जान लिया है और जानकर त्यागने योग्य को जीवन से त्याग दिया है और पवित्र रहनी में रहकर अपने दिव्य चेतनस्वरूप में रमता है। वह अपने अन्तःकरण और वाणी को विशेषतः मौन रखता है। वह केवल पात्र देखकर उसके कल्याण के लिए कुछ कहता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि सच्चे ज्ञानी का अर्थ वाणी को पूर्णतया मौन कर देना है। वस्तुतः उसका मन मौन हो जाता है। मौन हो जाने का तात्पर्य अनासक्त हो जाने से निर्वात हो जाना है। उसके मन में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। उसके सारे तर्क शांत हो जाते हैं। उसके सारे भौतिक नाम-रूप मिथ्या हो जाते हैं, इसलिए वह अपने नाम-रूप की निंदा-प्रशंसा में आंदोलित नहीं होता। उसके चित्त में द्वन्द्व नाम की कोई बात नहीं होती। अतएव वह जानने योग्य को जानकर तथा करने योग्य को करके भी भोलाभाला बन जाता है। उसका चित्त तरंगरहित सागर की तरह प्रशांत होता है। वह अपने आप को

समस्त भौतिक सत्ता से सर्वथा अलग कर लेता है। इसलिए उसके मन से समस्त भौतिक पदार्थों, पद एवं प्राणियों की अहंता–ममता का सर्वथा अन्त हो जाता है। अतएव वह सारे बल को छोड़ देता है। वह शरीरबल, बुद्धिबल, विद्याबल, शासनबल, स्वामित्वबल, जनबल, धनबल आदि समस्त बलों को अपनी आत्मा से अलग समझकर उनके अहंकार से सर्वथा अलग हो जाता है। वह सब बलों को छोड़कर निर्बल हो जाता है। ऐसा निर्बल व्यक्ति आत्मिक बल से महान बलवान हो जाता है। जो भौतिक बल का अहंकार छोड़ देता है उसका बल अपार हो जाता है।

जिसने वास्तविकता को समझकर सारे अहंकार को छोड़ दिया और भोलाभाला बन गया वह ज्ञानी पुरुष सबकी पकड़ से बाहर हो जाता है। उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। पल्ला का अर्थ है शरीर में पहने हुए कपड़े का छोर। यदि हमें किसी मनुष्य को पकड़कर उसको वश में करना है तो उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ने से वह शीघ्र वश में हो जाता है। उसके हाथ, कमर या पैर पकड़ने से वह झिड़ककर तथा अपने आप को छुड़ाकर भाग सकता है, परन्तु जब उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ लिया जाता है तब वह नहीं छुड़ा सकता।

जो मूर्ख और निर्बल है वह किसी काम लायक नहीं है, परन्तु जो जानने योग्य को जानकर और करने योग्य को करके मूर्ख तथा निर्बल बन जाता है, अर्थात भोलाभाला तथा निर्मानी बन जाता है, वह वस्तुतः महाज्ञानी एवं महा बलवान हो जाता है। उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। अहंकारी आदमी ही फंसता है। जिसके सारे अहंकार बीत चुके हैं उसे कोई फंसा नहीं सकता।

अपने आपको चारों ओर से समेट लेना ही मोक्ष है। ऋषि सनत्कुमार कहते हैं—

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।"[1] अर्थात जहां कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य नहीं सुनता एवं कुछ अन्य नहीं जानता, वह भूमा है।

मौलाना रूम कहते हैं—

चश्म बंदौ गोश बंदौ लब बिबंद।
गर न बीनी सर्रेहक़ बरमन बखंद॥

अर्थात आंखें बंद कर लो, कान बंद कर लो और ओठों को बंद कर लो, इतने पर भी सत्य के दर्शन न हों तो मेरा मजाक उड़ाना।

पहुंचा हुआ सन्त लड़ता नहीं। वह हार मानता है। वह हारकर जीत जाता

---

1. छांदोग्य उपनिषद् 7/24/1।

है और अहंकारी आदमी जीतकर हार जाता है। "हारा सो हरि को मिले, जीता जमपुर जाय।" निर्मान व्यक्ति शांति पाता है और अहंकारी वासनाओं के द्वन्द्व में उलझता है। शांति ही हरि है और वासनाओं का द्वन्द्व ही यमपुर है। अतएव सच्चा सन्त, पूर्ण सन्त निर्मान एवं निर्द्वंद्व होकर विचरता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कितना अच्छा कहा है—

अनुराग सो निजरूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
सन्तोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए॥
निरमल निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दशा ऐसी भई।

(विनय पत्रिका, पद 137/11)

सच्चे सिद्धान्त और मनुष्य की पहचान

हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट॥
कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट॥ 168॥

शब्दार्थ—हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो अत्यन्त कठिन और सफेद चमक वाला होता है, सत्य बात, सत्य सिद्धांत, अच्छा आदमी, पूर्ण संत। घनन=घन का बहुवचन, लुहार का भारी हथौड़ा घन कहलाता है। कुरंगी=कुभावनाओं से भरा। खोट=बुराई, दोष, खोटा-घटिया, दुरात्मा।

भावार्थ—हीरा वही प्रशंसनीय है जो घनों की चोट सहन कर ले और न टूटे। इसी प्रकार बात, सिद्धांत एवं मनुष्य वे ही प्रशंसनीय हैं जो तर्कों तथा द्वंद्वों में न टूटें। परन्तु कपट और कुभावनाओं से भरे मनुष्यों पर, परख की कसौटी लगाते ही वे खोटे निकलते हैं॥ 168॥

व्याख्या—हीरा एकदम उज्ज्वल और बहुत कठोर होता है। उस पर घन की चोट मारने पर भी वह नहीं टूटता। मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें लड़ाया जाता है तब वे एक दूसरे को काटते हैं। हीरा ही हीरे को काटता है। वह घन से नहीं टूटता। यहां हीरे का उदाहरण केवल इतना ही है कि वह घनों की चोट सहता है। उनसे टूटता नहीं। सद्गुरु इस उदाहरण से यह बताना चाहते हैं कि सत्य बात एवं सत्य सिद्धांत इसी प्रकार ठोस होते हैं। वे तर्कों से कटते नहीं। उन्हें कोई न माने यह अलग बात है, परन्तु वे अटल हैं। सिद्धान्त का अर्थ है जो अन्त में सिद्ध हो, सिद्ध + अन्त=सिद्धांत। जो सारे निर्णयों के बाद निष्कर्ष हो वही सिद्धांत है। नाना मतों द्वारा प्रचलित अवधारणाएं सिद्धांत नहीं हैं, किन्तु विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल तथ्य सिद्धांत है। झूठी दैवीकल्पना और धूर्ततापूर्ण चमत्कार सिद्धांत नहीं है, किन्तु वस्तुपरक बुद्धि द्वारा एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों द्वारा उनकी ठीक से परख कर लेने के बाद

स्थिर तथ्य सिद्धान्त है। वह अकाट्य होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—ये पांचों विषय दृश्य और इनके द्रष्टा, विषयी अर्थात विषयों को जानने वाले नाना चेतन हैं, ये परम सत्य हैं। जड़ और चेतन अर्थात प्रकृति और पुरुष दोनों सत्य हैं। जड़ विजाति, विकारी, परिवर्तनशील और मुझ चेतन से सर्वथा अलग है और चेतन निर्विकारी तथा मेरा सहज स्वरूप है। अतएव जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने सहज चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य का परम उद्देश्य है—यही शाश्वत सिद्धांत है। यह अकाट्य है। शक्ति चले तक किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना, किन्तु जहां तक बन सके दूसरे को सुख-सुविधा देना मानव का धर्म है, यह परम सिद्धांत है। हम दुख नहीं चाहते। इसी प्रकार दूसरे प्राणी भी दुख नहीं चाहते; अतएव किसी को दुख न पहुंचाना हमारी मानवता है और यही अपने लिए भी सुरक्षित पथ है। जो दूसरों को दुख देगा या देना चाहेगा, वह स्वयं दुखों से खाली नहीं रहेगा। इसलिए सबके साथ दया और प्रेम का बरताव ही सुरक्षित पथ है। यह अकाट्य बात एवं अटल सिद्धांत है। यह तर्कों से कट नहीं सकता।

इसी प्रकार वह मनुष्य प्रशंसनीय है जो दुख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि से विचलित न हो। संसार में वे ही ऊंचे उठते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर उनसे विचलित न होकर अपने सत्पथ पर बने रहते हैं। बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी आदि अनेक नाम लिये जा सकते हैं जो प्रतिकूलता आने पर उसे सहते रहे और अपने सत्पथ में अडिग बने रहे। प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने झुक जाने वाला व्यक्ति सत्पथ पर नहीं चल सकता। उपर्युक्त सभी नामों में कबीर अत्यन्त निर्भीक नाम है जिसने सबकी गलतियों पर करारा तर्क किया और उन सबके द्वारा प्रतिकूलता पाकर उन्हें अमृत के समान सहा और सब पर विजयी हुआ। "हीरा सोई सराहिये, सहै घनन की चोट" यह पंक्ति, इस पंक्ति के कहने वाले पर ही ज्वलंतरूप से घटती है। जो सुख-सम्मान और जीवन-मृत्यु की परवाह छोड़ देता है उसका रास्ता कोई नहीं रोक सकता। मखमली गद्दे में पड़े-पड़े रबड़ी-मलाई चाटते-चाटते मर जाने वाले बहुत हैं जिनका कोई मूल्य नहीं है। आधा पेट सूखी रोटी खाकर जन-सेवा करने वाले, कांटों की टोपी पहनने वाले, विष का प्याला पीने वाले, क्रास तथा सूली-फांसी पर चढ़ने वाले, खांड़े की धार पर चलने वाले, पिस्तौल की गोली खाने वाले वे धन्य हैं जो जीवनभर किसी भय के सामने अपने सत्पथ से रत्तीभर विचलित नहीं हुए। वे ही संसार में हीरा हैं। जड़ हीरे का उदाहरण तो एक उपलक्षण मात्र है। अविचलित महामानव संसार में सर्वोच्च है।

"कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट" कपट और बुरी भावनाओं

से भरा हुआ आदमी परख लगाते ही खोटा निकल जाता है। जैसे असत्य बातें परख की कसौटी पर कसते ही निरर्थक हो जाती हैं, वैसे कच्चा आदमी भी कसौटी में नहीं ठहरता। ऐसे लोग थोड़ी कठिनाई आने पर सत्पथ छोड़ बैठते हैं। अंग्रेजी शासन के विरोध में कांग्रेस द्वारा चलाये गये सन् 1942 के आंदोलन में जब कांग्रेसी कार्यकर्ता पकड़-पकड़कर जेल ले जाये जाने लगे तब जहां शूरवीर कार्यकर्ता अंग्रेजी शासन को ललकारते हुए हंस-हंस कर जेल जाते थे, वहां कोई ऐसा भी कच्चा निकलता था जो माफी मांगकर जेल जाने से अपने आप को बचा लेता था। ऐसे लोगों की दुनिया में क्या कीमत है! जो कांटों की शय्या से भागता है वह कुछ नहीं कर सकता। 'भुजगशयनम्' होकर भी 'शांताकारम्' रहने वाला ही 'विष्णु' हो सकता है, व्यापक एवं महान हो सकता है। सांप पर सोकर शांत रहना एक आलंकारिक कथन है। इसका मतलब है प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलते हुए भी शांत रहना।

हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट॥
जब आवै जन जौहरी, तब हीरों की साट॥ 169॥

शब्दार्थ—हरि=ज्ञान। जन=नाना मत के गुरुजन। हाट=बाजार, सत्संग। जन जौहरी=पारखी। साट=परख।

भावार्थ—सभी मत के गुरुजनों ने अपने ज्ञानरूपी हीरों को सत्संगरूपी बाजार में फैलाकर दुकानें लगा रखीं हैं। परन्तु जब कोई ज्ञान-हीरे का सच्चा पारखी आयेगा, तब इनके हीरों की परख करेगा। सच्चा पारखी ही असली तथा नकली हीरे की परख करता है॥ 169॥

व्याख्या—नाना मत के गुरुओं ने जो कुछ अवधारणाएं बना रखी हैं उन्होंने उन्हें सच्चा ज्ञान मान रखा है, परन्तु ज्ञान वही सच्चा है जो तर्कयुक्त एवं विवेकपूर्ण है। नाना स्वर्गलोकों की कल्पनाएं, उनमें कल्पित देवी-देवताओं एवं जोरावर ईश्वर के रहने की अवधारणाएं एवं उनकी खुशामद करने वालों को वहां पहुंचकर दिव्य भोगों की प्राप्ति, उन दिव्य भोगों की चरम परिणति हूरों (अप्सराओं, वेश्याओं) और गिल्मों (सुन्दर युवकों) से सहवास—मल-मूत्र का विलास जो इस दुनिया में सूअर, कुत्ते, बन्दर भी यथेष्ठ करते रहते हैं—दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के लोगों का यही परम ज्ञान है!

बहुत-से लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना करते हैं और उसे परम सत्यवत सिद्ध करते हैं। इतना ही नहीं, वे उससे मिलकर परमानंद पाने की भी आशा रखते हैं। कितने लोग किसी देहधारी मनुष्य को जो हजारों वर्ष पहले जन्म कर मर चुका है, अनन्त ब्रह्मांडनायक मानकर

उससे आज मिलने की आशा ही नहीं परम विश्वास रखते हैं और उससे मिलकर सुखी हो जाने की आशा रखते हैं। कितने लोग कवियों तथा भावुकों द्वारा गढ़े गये कल्पित देवी-देवताओं को इतना परम सत्य मान रखे हैं कि वे सब अभी अपनी पूरी शक्ति से विद्यमान हैं और जो चाहें वह कर सकते हैं। उनकी प्रार्थना, खुशामद एवं पूजा करने से वे सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि दे सकते हैं। जबकि उनका पोलखाता यह है कि उनकी मूर्तियां ही मन्दिरों से चोर उठा ले जाते हैं और वे उनका कुछ नहीं कर पाते। कितने लोग मंत्र, तंत्र, भूत-प्रेत आदि की जालसाजी को ही परम विद्या एवं ज्ञान मान रखे हैं जो केवल मक्कारी है। कितने लोगों का ज्ञान है धर्म, भगवान और महात्माओं के नाम पर गढ़ा गया चमत्कार, जो एक जालसाजी है। धर्म, भगवान एवं महात्माओं के नाम पर जहां जो कुछ कह या लिख दिया जाता है उस पर कोई तर्क करने की हिम्मत नहीं रखता। इस प्रकार ज्ञान तथा हीरे के नाम पर बहुत कुछ कूड़ा-कबाड़ बिकता रहता है।

जब ज्ञान का पारखी आता है, तब वह अपनी परख की कसौटी लगाकर सबकी परख करता है। वह तर्क, युक्ति एवं विवेक का सहारा लेता है। वह देखता है कि विश्व के नियम क्या हैं और उनके द्वारा वह सारे ज्ञान को कसता है। जिसने ईश्वर, गुरु तथा धर्मशास्त्र के नाम पर अपनी अक्ल को बेच दिया है वह ज्ञान का सच्चा हीरा कभी नहीं पा सकता। गुरु आदरणीय हैं तथा शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु अपनी विवेकबुद्धि कम आदरणीय नहीं है, बल्कि वही मुख्य है। हम अपनी विवेकबुद्धि से ही गुरुओं एवं शास्त्रों की बातों को समझ पायेंगे। बुद्धिहीन आदमी के लिए गुरु तथा शास्त्र निरर्थक हैं। शास्त्रों की दोहाई देते-देते सच्चा ज्ञान लुप्त हो गया है। सच्चे ज्ञान के लिए तर्क तथा निरख-परख की महती आवश्यकता है।

जड़-चेतन का निर्णय, उनमें निहित एवं स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से जगत की स्थिति, जड़ से भिन्न अपने चेतनस्वरूप का बोध, सदाचार एवं नैतिकता से चित्तशुद्धि, वासनाओं का त्याग कर स्वरूपस्थिति—ये सब सच्चे ज्ञान के हीरे हैं। पारखी इन्हें ही लेते हैं, शेष को परखकर छोड़ देते हैं।

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ कुँजरों की हाट॥
सहजै गाँठी बाँधि के, लगिये अपनी बाट॥ 170॥

शब्दार्थ—कुँजरों=साग-पात बेचने वाले। हाट=बाजार। बाट=मार्ग, रास्ता।

भावार्थ—हीरे की दुकान वहां नहीं लगाना चाहिए जहां साग-पात बेचने वाले कुंजड़ों का बाजार हो। वहां से तो हीरे को धीरे से गांठ में बांध कर अपना मार्ग पकड़ना चाहिए। अर्थात अपात्रों के सामने ज्ञान की बातें करना

निरर्थक है॥ 170॥

व्याख्या—सब्जी मण्डी में यदि कोई जौहरी अपने हीरों की दुकान लगावे तो उसके हीरे बिक नहीं सकते। क्योंकि एक तो साग-पात बेचने तथा खरीदने वाले हीरे की परख नहीं जानते हैं, दूसरी बात उनके पास वहां उतने रुपये होते ही नहीं कि हीरे खरीद सकें। इसी प्रकार जो स्थूल उपासना, स्थूल कर्मकांड एवं मन्त्र-तन्त्र में उलझे हैं वे जड़-चेतन का निर्णय, विश्व के शाश्वत नियम, स्वरूपज्ञान, वासना-त्याग, स्वरूपस्थिति आदि की बातों को समझना ही नहीं चाहते। इसलिए उनके सामने अपनी बातें कहकर अपने समय और शक्ति को क्यों बरबाद करे, क्योंकि वे उनसे कोई लाभ नहीं ले सकते। वे तर्कपूर्ण एवं तात्त्विक बातें इसलिए भी नहीं समझना चाहते कि उनकी काल्पनिक मान्यताएं धराशायी हो जायेंगी। ऐसे लोग सत्य निर्णय से दूर भागते हैं। इसके अलावा कुछ लोग तो ऐसे मूढ़ होते हैं कि वे निर्णय को समझ ही नहीं सकते।

यहां एक प्रश्न उठता है कि यदि साधारण जनता में सत्य नहीं कहा जायेगा तो उनको उसे समझने का अवसर कब मिलेगा? देखा भी जाता है कि जड़-से-जड़ कर्मी-उपासक सत्य को सुनकर जग जाते हैं। पारख सिद्धान्त में आने वाले कितने ही लोग पहले के घोर कर्मी-उपासक होते हैं। यदि जड़ मान्यताओं में उलझे हुए लोगों को खरे निर्णय नहीं सुनाये जायेंगे, तो उनको सत्यज्ञान नहीं हो सकता। अपनी सत्य बात जब जनता में कही जायेगी, तब उसमें से जो पात्र होगा वह ग्रहण कर लेगा। ऐसी बातों का अनुभव भी किया जाता है।

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी कथन प्रायः सापेक्ष होते हैं। अर्थात हर कथन में एक पक्ष होता है, परन्तु उसके साथ दूसरा पक्ष भी होता है। कुंजड़ों की हाट में हीरे नहीं बिक सकते, यह कथन परम सत्य है। इसी प्रकार कहीं-कहीं ऐसा होता है कि वहां सत्य निर्णय करना अपने समय तथा शक्ति का दुरुपयोग करना है। लोकोक्ति है "अंधों के आगे रोना, अपना दीदा खोना" अथवा "भैंस के आगे बेन बजावै, भैंस ठाढ़ि पगुराय"। ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं कि वहां चुप रहना ही ठीक पड़ता है, "सहजै गाँठी बाँधिके, लगिये अपनी बाट।" की बात ही ठीक रहती है, क्योंकि वहां के लोग बिलकुल पात्र नहीं होते। यह भी है कि जो आदमी किसी समय अपात्र होते हैं, दूसरे समय वे पात्र हो जाते हैं। व्यक्तिगत पात्रता देखकर उपदेश करना पड़ता है। समूह तथा सभा में सब प्रकार की बातें कही जा सकतीं हैं। फिर वहां भी यह तो ध्यान रखना ही चाहिए कि सभा के बहुसंख्यक लोगों का मानसिक स्तर क्या है!

इस साखी का सार इतना ही है कि जो व्यक्ति जिस बात का पात्र नहीं है उसके सामने वैसी बात करके अपने तथा उसके समय को बरबाद न करे।

हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय॥
केतेहिं मूरख पचि मुये, कोइ पारखि लिया उठाय॥ 171॥

शब्दार्थ—छार=धूल। पारखि=पारखी, परखने वाला, विवेकी।

भावार्थ—हीरा बाजार में पड़ा है और उस पर धूल लिपट गयी है। कितने मूर्ख मनुष्य उसकी खोज में दुखी होकर उसके आस-पास से आते-जाते हैं और उसे नहीं पहचान पाते। परन्तु जो उसका पारखी है, वह उसे पहचानकर उठा लेता है। अर्थात सत्य का हीरा हम लोगों के बीच में ही है, परन्तु उसे सब नहीं परख पाते, कोई पारखी परखकर ग्रहण करता है॥ 171॥

व्याख्या—सत्य ज्ञान, सत्य पदार्थ हीरा है और वह जीव ही है। मनुष्य के लिए उसकी अपनी आत्मा ही परम सत्य और हीरा है। उसका ज्ञान हो जाना मानो हीरे को पा जाना है। मनुष्य सत्य ज्ञान का हीरा पाना चाहता है। परन्तु उसे हीरे की परख नहीं है। जैसे हीरा धूल में लिपटा हो और अनाड़ी आदमी उसे कांच की गोली समझकर छोड़ दे, वैसे यह हृदय-निवासी जीव मल, विक्षेप तथा आवरणों से लिपटा है, इसलिए संसार के बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले लोग इसे तुच्छ समझते हैं। लोग कहते हैं "यह जीव तो अंश, प्रतिबिंब, आभास आदि है, यह तो इच्छा-द्वेष में लिपटा अल्पज्ञ है। यह तो केवल सत्-चिद् है, सच्चिदानंद इससे अलग है। जीव अपने आप में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। यह तो परमात्मा को पाकर ही पूर्ण हो सकता है, इत्यादि।" यह सारी अवधारणाएं जीव के महत्त्व को न समझने का परिणाम है। यह ठीक है कि जीव अल्पज्ञ है, परन्तु इससे अलग सर्वज्ञ की केवल कल्पना है। अल्पज्ञ और बहुज्ञ देखे जाते हैं, जो जीव हैं। सर्वज्ञ की तो केवल कल्पना है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से दुखी है। परन्तु वह अपने दिव्य स्वरूप को समझकर तथा संसार की इच्छाएं छोड़कर पूर्ण सुखी हो सकता है। हमारे अपने लिए दूसरे से प्राप्त सुख कभी स्थायी नहीं हो सकता। हमारे लिए स्थायी सुख वही होगा जो हमारा अपना है। मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचानता है और न संसार की इच्छाएं छोड़ता है, इसलिए वह अलग ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है कि वह आकर हमें सुख देगा। यदि व्यक्ति अपने ज्ञानस्वरूप को समझ ले और संसार की इच्छाएं छोड़ दे, तो वह स्वयं सुख एवं आनन्द का सागर है। उसे किसी ईश्वर तथा ब्रह्म को पुकारने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं "जीव तो असमर्थ है। यह तो चांद-सूरज का एक टुकड़ा भी नहीं बना सकता, ईश्वर समर्थ है जिसने अनन्त ब्रह्मांड बनाया है।"

ये सारी बातें अज्ञान की हैं। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड अपने गुण-धर्मों से स्वयंसिद्ध पदार्थ है। द्रव्य और गति नित्य हैं। इनसे जगत के पदार्थों के संव्यूहन और विघटन होते रहते हैं। इसे किसी ईश्वर ने बनाया नहीं है। सारा संसार किसी ईश्वर ने बनाया है, यह बच्चों की घोषणा की तरह है। जीव चांद-सूरज का एक टुकड़ा नहीं बना सकता, तो कागज, कलम, किताब, मकान, मशीन, ट्रेन, मोटर आदि तो बना ही सकता है। ईश्वर तो सायकल का एक पंचर भी नहीं बना सकता। क्योंकि जीव से अलग ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है। चाहे अल्पज्ञ कहो या बहुज्ञ या सर्वज्ञ, जो कुछ ज्ञाता है यह जीव ही है। जीव से अलग ज्ञाता नाम की कोई चीज नहीं है। सारे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कारक जीव है ! जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म तो जीव ही की कल्पना है। जीव अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना इसलिए करता है क्योंकि उसे अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वह अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म को पाने का भटकाव छोड़ देता है।

"केतेहिं मूरख पचि मुये" कितने ही अनाड़ी लोग जीवनभर हीरा खोजते रह जाते हैं और वह नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने हीरा को अपने से अलग मान रखा है। उन्हें धूल में लिपटा हीरा, हीरा नहीं लगता। उन्हें भूख-प्यास, हाड़-मांस में लिपटा जीव, शिव नहीं लगता। इसलिए वे जीवनभर जीव की, अपने स्वरूप की अवहेलना ही करते रह जाते हैं। मृगा अपनी नाभि में स्थित सुगंधि के आधार कस्तूरी को जीवनभर बाहर ही खोजते-खोजते अन्त में उसकी अप्राप्ति की अनुभूति ही में मर जाता है। मूर्ख मनुष्य की दशा भी ऐसी ही है। वह परमानंदमय परमात्मा को जीवनभर अलग ही खोजते-खोजते उसकी अप्राप्ति की अनुभूति में ही मर जाता है। यदि वह जान पाता कि परमानन्दमय परमात्मा मैं ही हूं तो उसका भटकाव बन्द हो जाता। अपने चेतनस्वरूप को न समझने तथा विषयों की इच्छा करने से ही सारे दुख हैं। स्वरूपज्ञान तथा इच्छानिवृत्ति के बाद व्यक्ति स्वयं परम कल्याणमय हो जाता है। अतएव "कोइ पारखि लिया उठाय" परम सत्य तथ्य है। जो अपने स्वरूप का पारखी है वह अलग नहीं भटकता। पारखी का भटकाव मिट जाता है।

इस साखी का अर्थ हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—संत रूप हीरा संसार-बाजार में पड़े हैं। उनके ऊपर धूल लिपटी है अर्थात वे भी जल, भोजन, वस्त्र, औषध आदि का सेवन करते हैं, उनके पास भी भौतिक शरीर तथा उसके व्यवहार हैं। इसलिए साधारण बुद्धि वाले मनुष्य संतों को नहीं परख पाते। वे समझते हैं कि साधु वह है, जो खाता-पीता न हो या अलौकिक रूप से रहता हो। परन्तु कोई संतों का पारखी समझता है कि क्या

ज्ञानी तथा क्या अज्ञानी, सब देहधारियों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को लेना ही पड़ता है। संत का संतत्व उसके ज्ञान तथा पवित्र रहनी में है। ज्ञानी तथा अज्ञानी का शारीरिक दृष्टि से कोई बड़ा अन्तर नहीं रहता, किन्तु मानसिक दशा में जमीन-आसमान का अन्तर रहता है। संतों का पारखी ही संतों का मूल्य समझता है, बे-पारखी संतों की अवहेलना करते हैं।

हीरों की ओबरी नहीं, मलयागिरि नहिं पाँत॥
सिंहों के लेहँड़ा नहीं, साधु न चले जमात॥ 172॥

शब्दार्थ—ओबरी=कोठरी। लेहँड़ा=झुंड। जमात=भीड़, समाज।

भावार्थ—उत्तम हीरों से भरी कोठरी नहीं होती, पंक्ति की पंक्ति मलयगिरि नहीं होते, सिंहों के झुंड नहीं होते और पूर्णत्व प्राप्त संतों की भीड़ नहीं होती॥ 172॥

व्याख्या—जौहरियों के यहां उत्तम हीरों से मकान-के-मकान नहीं भरे रहते हैं। उत्तम हीरे तो थोड़ी संख्या में होते हैं। इसी प्रकार मलयगिरि के सही पेड़ पर्वतों में कहीं बिरले होते हैं। उनका कोई बाग नहीं होता। वन में सिंह भी झुंड-के-झुंड नहीं होते। वे कहीं-कहीं इक्के-दुक्के होते हैं। पूर्णत्व प्राप्त संतों की बात भी यही है। वे कहीं-कहीं बिरले होते हैं।

कुछ लोग उक्त साखी को लेकर कुतर्क करते हैं—"साधु न चले जमात—साधु की जमात नहीं होती अर्थात समाज बांधकर संत नहीं चलते। जहां जमात या समाज है वहां संत नहीं, और जहां संत है वहां जमात या समाज नहीं।" ऐसा कुतर्क वही करता है जो अधूरी बुद्धि का होता है। उक्त साखी में संत-समाज का खण्डन नहीं है। यहां "साधु न चले जमात" कहकर सद्गुरु ने साधु शब्द से पूर्णत्व प्राप्त एवं जीवन्मुक्त संतों की ओर इशारा किया है। यह बात सच है कि जीवन्मुक्त संतों की भीड़ नहीं होती। वे बिरले-बिरले होते हैं, परन्तु इससे कोई यह अर्थ लगा ले कि यहां सामान्य साधुओं का तिरस्कार किया गया है, तो गलत है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ बच्चा भी विद्यार्थी है और एम. ए. में पढ़ता हुआ युवक भी विद्यार्थी है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ विद्यार्थी निंदनीय नहीं है। वह भी पढ़ता रहा तो किसी दिन एम. ए. में पहुंच जायेगा। इसी प्रकार साधारण साधना में चलने वाले साधक भी साधु हैं और पूर्णत्व को प्राप्त साधक भी साधु हैं। साधारण साधु निंदनीय नहीं हैं। यदि साधना में लगे रहें तो वे भी एक दिन पूर्णत्व प्राप्त कर लेंगे। अतएव इस साखी में जीवन्मुक्त एवं पूर्णत्वप्राप्त संत की विरलता बतायी गयी है। साधारण साधु की इसमें निंदा या उपेक्षा नहीं है। श्री रामरहस साहेब ने दोनों का समन्वय करके कहा है—

साधु साधु सबहीं बड़े, अपनी अपनी ठौर।

शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर॥ पंचग्रन्थी॥

जिस व्यक्ति ने जानने योग्य को जान लिया, करने योग्य को कर लिया तथा पाने योग्य को पा लिया, वह कृतार्थ हुआ पूर्णत्वप्राप्त संत है। जानने योग्य अपना स्वरूप एवं अपनी आत्मा है, उसे जान लिया; करने योग्य वासना का त्याग है, उसे कर लिया तथा पाने योग्य स्वरूपस्थिति है उसे पा लिया, तो ऐसे मनुष्य को अब न कुछ जानना बाकी रहा, न करना तथा न पाना शेष रहा। ऐसा पूर्ण तृप्त मनुष्य ही पूरा संत है और ऐसे संत विरल होते ही हैं।

सत्यज्ञान सम्प्रदायों से ऊपर है

अपने अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान॥
हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान॥ 173॥

शब्दार्थ—शिरों का=आरम्भ, परम्परा का। हरि=तत्त्व-बोध, यथार्थ ज्ञान। दुरन्तरी=दुर्विज्ञेय, जानने में कठिन, दूर।

भावार्थ—संसार के प्रायः सभी लोग निरख-परख किये बिना अपनी-अपनी परम्परा एवं सम्प्रदाय की बातों को स्वीकार लेते हैं, इसलिए यथार्थ ज्ञान की बातें समझना उनके लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। कोई भी व्यक्ति केवल परम्परावादी बनकर सत्य को नहीं समझ सकता॥ 173॥

व्याख्या—प्रायः हर व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, मजहब एवं परम्परा में जन्म लेता है। जो आदमी जिस परम्परा में जन्म लेता है, वह उसकी रीति तथा नियमों का प्रायः पालन करने लगता है और उसकी निर्धारित बातों को मानने लगता है। यह बात सामान्य लोगों के लिए एक पक्ष में हितकर है, परन्तु आगे चलकर सच्चा ज्ञान पाने के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोधक है। हर परम्परा में जीवन जीने के कुछ अच्छे नियम बताये गये हैं और उनकी कुछ निर्धारित मान्यताएं हैं, जिनमें भले ही बहुत-सी बातें केवल काल्पनिक हों, परन्तु उन बातों से किसी न किसी प्रकार मनुष्य को अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए सामान्य मनुष्य अपनी परम्परा के अनुसार कुछ अच्छे नियमों का पालन करते हुए यदि सदाचार से चल रहा है तो यह ठीक है। हां, यदि धर्म, देवी, देवता तथा ईश्वर के नाम पर वध, बलि या कुर्बानी कहकर जीव-हत्या की जाती है तो यह अत्यन्त पाप है, सबके लिए त्याज्य है। अतएव हत्यादि कलुषित नियम एवं मान्यताएं छोड़कर अन्य नियमों एवं मान्यताओं से मनुष्यों का कुछ लाभ होता है।

इस साखी में सद्गुरु बड़ी ऊंची बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि यदि किसी को सत्यज्ञान का मोती पाना है, तो उसे परम्परा का मोह छोड़ना

पड़ेगा। यह ठीक है कि हर जनसमूह की एक परम्परा बन जाती है और हर परम्परा में कुछ औपचारिक नियम भी होते हैं, और उनका पालन करना ठीक होता है। परन्तु वस्तुज्ञान की जगह पर केवल परम्परा का पुछलग्गू बने रहने से काम नहीं चल सकता। यदि सौभाग्य से अपनी ऐसी परम्परा या सम्प्रदाय है जिसमें सारे ज्ञान निर्दोष, तथ्यपूर्ण एवं ठोस हैं तो अति उत्तम है। परन्तु यदि हम जिस परम्परा में हैं, उसकी अनेक या कुछ बातें तर्कपूर्ण एवं विवेकपूर्ण नहीं हैं तो उन पर पुनर्विचार करना चाहिए। कुछ स्वागत तथा शिष्टाचार के नियम, कुछ वेष, चिह्न तथा कुछ ऐसी ही औपचारिकताएं चलते रहना कोई बात नहीं है; परन्तु यदि वस्तुबोध, आचरण एवं रहनी में ही भ्रांति उत्पन्न करने वाले नियम, मान्यताएं एवं सिद्धांत हैं तो ऐसी परम्परा का मोह पकड़े रहने से जीव का कोई कल्याण नहीं है। हर बात को बेमन से मानते हुए हम इसलिए परम्परा में घसिटते जायें कि उसे हमारे पूर्वजों ने माना है, सत्यज्ञान पाने के पक्ष में महा अवरोधक है।

वैसे परम्परा से हमें बहुत-सी अच्छी तथा सत्य बातें सहज ही मिल जाती हैं। इसलिए न परम्परा का खंडन करने की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा करना चाहिए। परन्तु परम्परा एवं सम्प्रदाय की भक्ति के नाम पर असत्य को पालते रहने से किसी का भी कल्याण नहीं है। यह साखी अत्यन्त मार्मिक है। जरा फिर से पूरी साखी पर ध्यान देते हुए उसका मनन करें—"अपने अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान। हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान॥" सभी मत वालों ने अपनी-अपनी परम्परा-पोषित अवधारणाओं को बिना न-नु-न-च किये मान लिया, इसलिए इन्हें हरि एवं सत्य को समझना कठिन हो गया है। किसी का ईश्वर चार हाथ वाला है, क्योंकि उसकी परम्परा में वही बताया गया है। किसी का ईश्वर धनुर्धारी है, क्योंकि उसके मत में उसी को ईश्वर कहा गया है। किसी का ईश्वर बंशीधारी है, किसी का जटा तथा अर्धचन्द्रधारी। किसी का ईश्वर ब्रह्मलोकवासी है, किसी का गोलोक, किसी का साकेतलोक, किसी का सत्यलोक, किसी का शिवलोक, किसी का सातवें स्वर्ग पर तथा किसी का ईश्वर सातवें तपक पर रहता है। किसी का ईश्वर रास रचाता है तो किसी का ईश्वर नरक तथा रोजकयामत की आग उद्गारता है। किसी के यहां ईश्वर का दूत आया है, किसी के यहां ईश्वर का पुत्र तथा किसी के यहां ईश्वर के अवतार। जिन-जिन की परंपराओं में जो-जो कल्पनाएं गढ़ ली गयी हैं उनमें उन्हीं की लकीर पीटी जाती है। नाना मत के भोले लोगों ने मान रखा है कि हमारी किताबें ईश्वर ने गिरायी हैं। वे बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि केवल उन्हीं के मत ईश्वरप्रदत्त तथा स्वर्ग एवं मोक्ष के रास्ते हैं, शेष के मनगढ़ंत एवं काफिरों तथा नास्तिकों

के रास्ते हैं। जिन मतवादियों को ईश्वर की ठेकेदारी का भूत सवार होता है, उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वे अन्य को काफिर तथा नास्तिक कहते नहीं अघाते, यद्यपि वे स्वयं केवल कल्पनालोक की परी के स्वप्न देखते रहते हैं।

ऐसे लोगों को हरि की बात समझ में नहीं आ सकती। हरि, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, खुदा=खुद-आ, स्वयं चेतन ही है। केवल परम्पराओं का पुछलग्गू बनकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं हो सकता। सारे संस्कारों को हटाकर ही अपने आप को समझा जा सकता है। जो जड़ पांचों विषयों को जानता है तथा अपनी आत्मा से अलग ईश्वरादि की कल्पना करता है, वह सर्व-कल्पक तथा सर्वज्ञाता चेतन ही सर्वोपरि है। परन्तु इस तथ्य को तभी समझा जा सकता है जब परम्पराओं एवं सांप्रदायिक गतानुगतिका को त्यागकर स्वतंत्र विचार किया जाये।

राम जीव से बाहर नहीं

हाड़ जरै जस लाकड़ी, बार जरै जस घास॥
कबिरा जरे रामरस, जस कोठी जरै कपास॥ 174॥

शब्दार्थ—बार=बाल। कबिरा=परोक्ष उपासक जीव। कोठी=बखारी, डेहरी।

भावार्थ—मृत शरीर का दाह करने पर उसकी हड्डी लकड़ी के समान जलती है और बाल घास के समान जलते हैं, परन्तु परोक्ष में राम मानकर उसकी उपासना एवं विरह-वेदना में जीव उसी प्रकार भीतर-भीतर जलता रहा जैसे कोठी में कपास जल जाये और बाहर पता न चले॥ 174॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में शरीर और भ्रांत लक्ष्य की निस्सारता पर एक साथ प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि इस शरीर की क्या विशेषता है! यह देखते-देखते एक दिन निर्जीव हो जाता है तब इसका कोई मूल्य नहीं रहता। इसे लोग मिट्टी में गाड़ देते हैं या पानी में फेंक देते हैं या लकड़ी में रखकर जला देते हैं। यदि इसे मिट्टी में गाड़ दिये तो यह कुछ ही दिनों में सड़कर मिट्टी बन जाता है, यदि पानी में फेंक दिये तो मछली, कछुआ का भोजन बन जाता है और यदि लकड़ी में रखकर जला दिये तो इसकी हड्डी लकड़ी के समान जल जाती है और बाल घास के समान जल जाते हैं। अंततः शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

इधर जीवन का लक्ष्य परमशांति की प्राप्ति रहा, वह सफल नहीं हुआ। क्योंकि मनुष्य को राम का यथार्थ बोध नहीं हुआ। उसे यह ज्ञान ही नहीं हुआ कि राम निज स्वरूप ही है और जड़-वासनाओं को त्याग कर निजस्वरूप में स्थित होना ही राम में रमना या राम को पाना है। जीव तो अपने स्वरूप के

भूलवश राम को अपने से अलग मानकर उसके दर्शनार्थ रात-दिन व्याकुल बना भटकता रहा। जैसे कोठी के भीतर रखी हुई रुई में किसी कारणवश आग लग जाये और वह भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो जाये, वैसे मनुष्य के भीतर-ही-भीतर जीवनभर राम-वियोग की अग्नि धधकती रही और वह उसमें जलता रहा; परन्तु जीव से अलग कोई राम हो, तो वह मिले। जो लोग भ्रमवश अपनी आत्मा से अलग राम मानकर उसके वियोग का काल्पनिक अनुभव करते हैं, वे जीवनभर केवल दुख का अनुभव करते हैं और अपने समय और शक्ति की बरबादी करते हैं। अलग जब राम है ही नहीं तब वह मिलेगा क्या! इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अलग राम की कल्पना छोड़कर अपने स्वरूप को पहचाने, वही राम है, वही रहीम है।

मनुष्य का भटकाव

घाट भुलाना बाट बिनु, भेष भुलाना कान॥
जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान॥ 175॥

शब्दार्थ—घाट=नदी-पार जाने का स्थान, तात्पर्य में मोक्षद्वार। बाट=रास्ता, यथार्थ ज्ञान-पथ। कान=कानि, मर्यादा। माड़ी=धारण करना, सजाना, पूजना, ठानना।

भावार्थ—जैसे रास्ता न मिलने से नदी पार जाने का घाट भूल जाये, वैसे यथार्थ ज्ञान-पथ न मिलने से मोक्ष-द्वार भूल जाता है। मोक्ष-पथगामी तथा मोक्षोपदेशक साधु लोग तो अपने वेष की मर्यादा एवं मान-महंती में भूल जाते हैं और जिस जीव के कर्तव्यों की शोभा संसार में फैली है, मनुष्य को उसकी पहचान नहीं होती॥ 175॥

व्याख्या—किसी नदी को पार जाने के लिए उसके घाट पर जाना होता है। जहां घाट नहीं है वहां से नदी को पार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि घाट का रास्ता ही भूल जाये तो उस पर नहीं पहुंचा जा सकता। मन की उलझनें एक भयंकर नदी है। इससे पार जाने के लिए विवेक घाट है। परन्तु विवेक तक पहुंचने के लिए सत्संग और श्रद्धासंबलित निष्पक्ष बुद्धि का रास्ता चाहिए। आदमी उन्हें ही भूल गया है। बहुधा आदमी न तो विवेकवान संतों की संगत करता है, न श्रद्धापूर्वक निष्पक्ष बुद्धि का प्रयोग करता है। इसलिए न उसके हृदय में विवेक जगता है और न वह संसार-सागर से अर्थात मन की उलझनों से पार पाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, शोक, विकलता आदि मन की उलझनें ही संसार-सागर है। बाहर का स्थूल संसार हमें नहीं बांध सकता यदि हमारे मन का संसार शांत हो जाये।

जिन संतों की संगत से हमें संसार-सागर से पार जाने का रास्ता मिलता

है उनमें से अधिक लोग अपने-अपने वेष की मर्यादा में भूल गये हैं। जिन संतों को चाहिए था कि वे समस्त सांसारिक बंधनों को मायामय, स्वप्नवत एवं तुच्छ समझकर उससे पार जाने का अपने जीवन में उच्च आदर्श चरितार्थ करते और संसार के लोगों के सामने प्रमाणस्वरूप बनते, वे स्वयं मान-महंती, मूलगद्दी-शाखागद्दी तथा ऊंच-नीच के चक्कर में पड़कर राग-द्वेष के शिकार बने हुए हैं। जैसे गृहस्थी में लोग जाति-पांति के पाखंड में उलझे हैं, वैसे प्रायः साधु लोग वेष के पाखंड में उलझे हैं। कौन मूलगद्दी का है, कौन शाखागद्दी का है, कौन बड़े महंत, मंडलेश्वर, आचार्य और स्वामी हैं तथा कौन छोटे; किसकी गद्दी तथा पाटला दायें लगते हैं और किसके बायें, किसका पाटला आधा इंच ऊंचा है और किसका आधा इंच नीचा, भोजन में किसकी थाली पहले आयी और किसकी दो सेकेण्ड पीछे, पूजा के समय किसके गले में पहले माला पड़ी तथा किसके पीछे—इन-जैसी बहुत बातों का मानसरोग से ग्रसित वेषधारियों में बहुत बारीकी से विचार किया जाता है। जो महात्मा और स्वामी लोग संसार को मायामय, स्वप्नवत और तुच्छ कहते नहीं अघाते, वे ही थोड़ी-थोड़ी बातों में मान-अपमान का बोध करते हुए मानस-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं। वे संसार के घर, गृहस्थी, स्त्री, पुत्र, धन आदि को झूठे कहते हैं, परन्तु अपने मठ, मन्दिर, लकड़ी और रुई-कपड़े की गद्दी तथा शिष्य-शाखा को सत्य ही माने बैठे रहते हैं। इस प्रकार बहुधा वेषधारी लोग वेष की मर्यादा में अपने कर्तव्य-पथ को भूल गये हैं। मन की उलझनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए जो आदर्श बन सकते हैं वे वेषधारी लोग स्वयं मान-मर्यादा की उलझनों में उलझे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि मर्यादा की कोई आवश्यकता नहीं है या आज कोई सच्चे संत हैं ही नहीं। संसार में कुछ मर्यादाएं हैं, परन्तु वे बोझिल नहीं होनी चाहिए और न उनमें उलझना चाहिए। दूसरे की मर्यादा का पालन कर देना चाहिए और स्वयं को सरल रखना चाहिए। सब समय में पृथ्वी पर सच्चे सन्त रहते हैं और आज भी हैं। जिज्ञासु और मुमुक्षु को उन्हें पहचानना चाहिए तथा उनकी संगत से लाभ लेना चाहिए।

"जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान।" 'माड़ना' शब्द का अर्थ है धारण करना, सजाना, पूजना एवं ठानना। इसलिए माड़ी का अर्थ हो जायेगा सम्पादित एवं सजाया हुआ। जड़ और चेतन दो सत्ताएं हैं। संसार में इन्हीं की माड़ी है। सारी भौतिक वस्तुओं का धारण करना, उन्हें सजाना एवं सम्पादित करना जड़सत्ता का स्वभाव है और ज्ञान-विज्ञान का धारण करना, उन्हें सजाना, पूजा-सत्कार का भाव प्रकट करना तथा किसी काम को ठानना, निश्चय करके करना—यह सब चेतन जीव का काम है। जगत में जहां तक

जो कुछ होता है इन्हीं जड़-चेतनों की सत्ता का खेल है। परन्तु आदमी तो घाट का बाट ही भूल गया है। इसलिए वह संसार की सारी गतिविधियों में कल्पित देवी-देवताओं की लीला देखता है। भूलवश आदमी ही आदमी को छल रहा है। वेद, बाइबिल, कुरानादि सारे शास्त्रों को मनुष्य ने रचा है, परन्तु उसने उनकी सारी बातों को जनता से मनवाने के लिए यह कहा कि यह ईश्वर के रचे हैं या ईश्वर के भेजे हैं। इस छलावे ने मुख्य दो नुकसान किये, एक तो सारे शास्त्र रचने का श्रेय जो मनुष्य को था उसे उससे हटाकर कल्पित ईश्वर पर लाद दिया गया; दूसरा नुकसान यह हुआ कि वेद, बाइबिल, कुरान एवं धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी किताबें हैं उनकी सारी बातों को मनुष्यों को मानना चाहिए; क्योंकि वे ईश्वरप्रदत्त हैं। शास्त्रों की बातें चाहे जितनी बिना सिर-पैर की तथा युगबाह्य हों; परन्तु उन्हें मानना पड़ेगा। जो नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है। ज्ञान-विज्ञान के धारण करने वाले जीव हैं, परन्तु उन्हें तुच्छ, अल्पज्ञ एवं कठपुतली कहा गया और जो केवल जीव की कल्पनाएं हैं, वे देवी-देवता, ईश्वरादि सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बन गये। पानी का बरसना अथवा न बरसना जड़ प्रकृति की योग्यता-अयोग्यता पर निर्भर करता है, परन्तु उन्हें काल्पनिक ईश्वर पर डाल दिया गया। प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतन की सारी विभूति को कल्पित देवों की विभूति मानकर मनुष्य ने सत्य के साथ कृतघ्नता और असत्य की वकालत की। पथ-प्रदर्शक महात्मा लोग अपनी शास्त्रीय मर्यादाओं में भूलकर जनता के लिए सत्य की ओर प्रेरक न बन सके।

इस प्रकार घाट का बाट भूल जाने से, तथा प्रेरक के ही दिग्भ्रमित हो जाने से मनुष्य का मूल्य गिर गया। न उसे भ्रमरहित दृष्टि मिली और न वह मन की उलझनों से पार हुआ। उसकी बुद्धि भी उलझी रही तथा मन भी उलझा रहा।

अपात्र को उपदेश देने के पीछे मत पड़ो

मूरख सों क्या बोलिये, शठ सों काह बसाय॥
पाहन में क्या मारिये, जो चोखा तीर नसाय॥ 176॥

शब्दार्थ—मूरख=मूर्ख, नासमझ, झूठ का पक्ष लेने वाला। शठ=छली, धूर्त। बसाय=वश चलना, शक्ति चलना।

भावार्थ—मूर्ख से बात करके क्या फल होगा तथा शठ से अपना क्या वश चलेगा! चोखा तीर भी पत्थर में मारने से क्या प्रयोजन हल होगा! पत्थर तो टूटेगा नहीं, तीर ही टूट जायेगा। इसी प्रकार उत्तम उपदेश भी अपात्र का तो कोई लाभ नहीं कर सकेगा, स्वयं व्यर्थ जायेगा॥ 176॥

व्याख्या—जो नासमझ हो उसे मूर्ख कहते हैं और झूठ का पक्ष लेने वाले को भी मूर्ख कहते हैं। धूर्त और छली को शठ कहते हैं। शठ का अर्थ मूढ़ता में चिपके रहना भी है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों को उपदेश देने के चक्कर में नहीं रहना चाहिए जो मूर्ख और शठ हैं। ऐसे लोग पत्थर के समान हैं, जिनमें तीर चुभ नहीं सकते, बल्कि वे स्वयं टूट जाते हैं। कुछ लोग ऐसे मूढ़ होते हैं कि उनको उपदेश देने के पीछे पड़ने से उपदेष्टा के समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है और उनका कोई कल्याण नहीं होता। अतएव अपात्रों को चेताने के पीछे ज्यादा नहीं पड़ना चाहिए।

जैसी गोली गुमज की, नीच परी ढहराय॥
तैसा हृदया मूरख का, शब्द नहीं ठहराय॥ 177॥

शब्दार्थ—गुमज=गुंबद, शिवालय आदि की गोल छत।

भावार्थ—मंदिर के गोल गुंबद पर रखी गोली लुढ़ककर नीचे गिर पड़ती है। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य का हृदय होता है, उसमें निर्णय शब्द नहीं ठहरता॥ 177॥

व्याख्या—आप गुंबद पर गोली रखकर देख लीजिए, वह वहां टिक नहीं सकती। गुंबद भी गोल तथा गोली भी गोल, अतः उसके वहां टिकने का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान की बातें मूर्खों के मन में ठहर नहीं सकतीं। जो व्यक्ति बात को समझ ही नहीं सकता और समझ भी जाये तो उसे मान नहीं सकता, उसके पीछे अपना समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता ! कहा है—

अति खल को शिक्षा नहिं लागत।
दुक्ख परे पर आपुहि जागत॥ विश्राम सागर॥

ऊपर की दोऊ गईं, हियहु की गईं हेराय॥
कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय॥ 178॥

शब्दार्थ—उपाय=युक्ति।

भावार्थ—ऊपर के दोनों चर्मनेत्रों से देखकर जो सत्यज्ञान एवं अच्छे आचरणों से नहीं चलता, और जिसके हृदय के विवेक-विचार रूपी नेत्र भी फूट गये हैं, सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जिसके चारों नेत्र नहीं रह गये, उसके कल्याण का क्या उपाय है !॥ 178॥

व्याख्या—मनुष्य के चार नेत्र होते हैं, दो बाहरी चर्म के और दो भीतरी विवेक-विचार के। बाहरी नेत्रों से देखकर बहुत कुछ समझा जा सकता है और अपने को सुधारा जा सकता है। हम संसार में देखते हैं कि सब जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं। संसार में जो व्यक्ति बुरे कर्म करते हैं, उन्हें देर या सबेर उनके फल भोगने पड़ते हैं। यह प्रकृति का अटल नियम

है कि क्रिया की प्रतिक्रिया, बल का प्रतिबल, ध्वनि की प्रतिध्वनि एवं बिम्ब के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो कुछ करते हैं उनका फल आता ही है, यह संसार में नजरोनजर देखा जाता है। रावण जैसा बलवान एवं विद्वान व्यक्ति परस्त्रीहरण करने से समूल नष्ट हुआ। युधिष्ठिर जैसे नीति-निपुण धर्मज्ञ पुरुष जुए के व्यसन में लीन होने से पूरे परिवार सहित दर-दर ठोकर खाये। दुर्योधन ने भाई के हक को मार लिया, पांडवों को धोखा देकर उनका राज्य जीत लिया और शर्त के अनुसार पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास रहने पर भी उन्हें राज्य नहीं लौटाया, इसके फल में उसका समूल नाश हुआ। राज्य के लोभ में युधिष्ठिर ने बंधु-कौरवों का विनाश किया तो इसके फल में शेष जीवन मानसिक अनुताप में जलते रहे और अन्त दुखद हुआ। हिटलर, मुसोलिनि आदि सबके आततायीपन का अंतिम परिणाम उनके लिए दुखद हुआ। संसार में देखा जाता है कि जो दूसरों को मारता या मरवाता है वह प्रायः मारा जाता है। दूसरों को भय देने वाला स्वयं भय पाता है और जो दूसरों को निर्भयता एवं प्रेम देता है वह दूसरों से निर्भयता एवं प्रेम पाता है।

हम आंखों से देखते हैं कि जवानी के मद में चमकता हुआ मनुष्य एक दिन रोगी और बूढ़ा होकर पके धान के पौधे के समान झुक जाता है। हम जिनका एक दिन घर, परिवार, समाज एवं देश में वर्चस्व देखते हैं उन्हीं का उनमें रहते हुए पतन देखते हैं। हम सभी संग्रहों का विनाश, सभी उन्नतियों का पतन, सभी संयोगों का वियोग तथा सभी जन्में हुए प्राणियों की मृत्यु रोज अपनी आंखों से देखते हैं, फिर भी होश में नहीं आते, मोह से नहीं जागते तो क्या उपाय है! बौद्धगया, नालंदा, कुशीनारा, श्रावस्ती, कौशांबी, सारनाथ आदि में बौद्ध-भिक्षुओं के तथा आगरा, फतेहपुरसीकरी, दिल्ली आदि में मुसलिम सल्तनत के अवशेष देखिए तो उनके अब केवल नाम शेष रह गये हैं।

हम हृदय के नेत्रों से अर्थात विवेक-विचार से देख सकते हैं कि सारे मायावी दृश्यों का परिवर्तन है और जीवों को अपने कर्मों के फल निश्चित ही भोगने हैं। इन बातों को जान-समझ एवं देख-सुनकर भी जो सत्य को नहीं समझना चाहता, उसके उद्धार का कोई रास्ता नहीं हो सकता। अतएव सद्गुरु की यह साखी अत्यन्त मार्मिक है—"ऊपर की दोऊ गई, हियहु की गईं हेराय। कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय॥" ऐसे मनुष्य को समझाकर जगाना बड़ा कठिन काम है जो न देख-सुनकर चेतना चाहता है और न विवेक-विचार करके। अतः उसके चेताने का कोई उपाय नहीं है।

केते दिन ऐसे गये, अनरूचे का नेह॥

ऊषर बोय न ऊपजै, जो अति घन बरसे मेह॥ 179॥

शब्दार्थ—अनरूचे=रुचि न रखने वाले अश्रद्धालु। नेह=प्रेम। घन=बादल। मेह=झड़ी, वर्षा।

भावार्थ—उपदेशक के कितने ही दिन अश्रद्धालु व्यक्ति से प्रेम करने तथा उसे उपदेश देने के चक्कर में व्यर्थ चले जाते हैं। बादल चाहे अत्यंत बारिश करके झड़ी कर दें, परन्तु ऊसर जमीन में बीज बोने से उसमें कुछ उत्पन्न नहीं होता॥ 179॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक है! यदि ऊसर जमीन में खूब पानी बरसे और उसमें बीज बोये जायें तो क्या आशा की जा सकती है कि उसमें फसल होगी, कदापि नहीं! चाहे जितना पानी बरसे तथा चाहे जितने बीज डालो, परन्तु ऊसर जमीन में कुछ पैदा होने वाला नहीं है। इसी प्रकार जिसके हृदय में प्रेम, उत्साह एवं श्रद्धा नहीं है उसको उपदेश देने का कोई फल नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि ऐसे व्यक्ति को यदि बारम्बार उपदेश देने का प्रयास किया जाये तो वह समझने की अपेक्षा रुष्ट हो जाये। जनसभा में भाषण एवं प्रवचन करना एक अलग बात है, परन्तु व्यक्तिगत उसी को सीख देना चाहिए जिसकी रुचि हो। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आप का कल्याण करे। यदि व्यक्तिगत किसी को उपदेश देने की बात हो तो उसी को उपदेश दे जो श्रद्धा रखता हो, जिसे सीख सुनने का उत्साह हो। अपने रत्नतुल्य समय को ऐसे लोगों को उपेदश देने में नहीं लगाना चाहिए जो उपदेश के प्रति अरुचि रखने वाला हो।

मैं रोवों यह जगत को, मोको रोवे न कोय॥
मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥ 180॥

शब्दार्थ—मैं रोवों=सबके दुखों से दुखी होकर उन्हें कल्याण का रास्ता बताता हूं।

भावार्थ—मैं जगत के जीवों को दुखी देकर उनके दुखों से स्वयं दुखी होकर उन्हें सन्मार्ग बताता हूं, परन्तु वे आर्त होकर उत्साहपूर्वक मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है॥ 180॥

व्याख्या—यदि हम किसी व्यक्ति में ममता करते हैं तो उसके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। अर्थात उसके सुख में हम सुखी होते हैं और दुख में दुखी होते हैं। यह हमारी ममता जितने लोगों में बढ़ती जाती है उतने लोगों के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बनते जाते हैं। यदि हम अपने पूरे परिवार में ममता करते हैं, तो पूरे परिवार के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन

जाते हैं। यदि हम पूरे गांव या मोहल्ला में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं, और यदि पूरे एतराफ एवं देश में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। कबीर उच्चतम मानव हैं। उनकी ममता पूरे जगत के प्राणियों में हो गयी थी इसलिए वे पूरे जगत के लिए रोते थे। जिसके मन में पूरे जगत के प्राणियों में ममता हो जाती है, उसके मन में वस्तुतः समता हो जाती है। पूरे जगत के प्राणियों के प्रति हुई ममता को ही समता कहते हैं। ममता तब तक मानी जाती है जब तक वह किसी एक में हो, और जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति ममता हो गयी हो यही समता है। उसकी दृष्टि में पराया कोई नहीं रहा। कबीर ऐसे ही उच्चतम संत हैं जो पूरे जगत के लोगों को अपना मानकर उनके दुखों से दुखी होकर रोते हैं।

कैसा अद्‌भुत है ! संसारी लोग अपने पत्नी, बच्चे तथा स्वजनों के लिए रोते हैं, परन्तु जो माया-मोह के त्यागी हैं वे कबीर जैसे महत्तम संत पूरे संसार के लिए रोते हैं। अब सोचो, हितचिंतन का सर्वाधिक आयाम किसका है, संसारी का या संसार-त्यागी का ! अतएव जो व्यक्ति संसार से जितना अनासक्त रह सकता है वह उतना ही संसार का हितचिन्तन तथा हित कर सकता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं संसार को सन्मार्ग पर लाना चाहता हूं, परन्तु संसार के लोग मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है। "मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय" यह बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर के विचारों को वह नहीं समझ सकता जो केवल परम्परा की पूंछ पकड़कर चलता है। उन्हें तो वही समझ सकता है जिसके हृदय में विवेक है। जो सार-असार, जड़-चेतन का निर्णय करने की क्षमता रखता हो वही कबीर साहेब की वाणी को समझ सकता है। कबीर नीर-क्षीर विवेकी हैं। कबीर की वाणी भावुकों द्वारा तथाकथित परमात्मा के वचन मानकर पूजने की वस्तु नहीं है, किन्तु अन्वीक्षकी-बुद्धि से समझने की है। कबीर अंधश्रद्धा की चट्टान तोड़कर मानवीय बुद्धि की अजस्रधारा प्रवाहित करते हैं। श्रद्धा के नाम से अंधे लोग कबीर को नहीं समझ सकते, किन्तु जो श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक के पक्षधर हैं वे कबीर की बातें समझ सकते हैं। कबीर की वाणी में हवाई महल नहीं है, किन्तु स्थिर भूमि है। वे हमें तात्त्विक और वस्तुपरक विचार देते हैं और छिछले सतह से हटकर आत्मा की गहराई में पहुंचने की राय देते हैं।

सारा संसार तो विषयों के और धर्म के पाखण्ड-सागर में डूबकर दुखी है। इन दोनों दुखों से जीव का उद्धार करना कबीर साहेब का मंतव्य है।

आत्म-परिचय ही परमात्म-परिचय है

साहेब साहेब सब कहैं, मोहिं अँदेशा और ॥
साहेब से परिचय नहीं, बैठोगे केहि ठौर॥ 181॥

शब्दार्थ—साहेब=स्वामी, ईश्वर, अल्लाह। अँदेशा=संदेह, चिंता।

भावार्थ—संसार के प्रायः सब लोग साहेब-साहेब कहते रहते हैं, परन्तु मुझे तो और ही चिंता है कि इन लोगों को सच्चे साहेब से तो परिचय नहीं है, फिर ये किस स्थान पर बैठेंगे—इनकी स्थिति कहां होगी !॥ 181॥

व्याख्या—साहेब का शुद्ध रूप 'साहब' माना जाता है। 'साहब' अरबी भाषा का शब्द है। मुसलमानों के भारत आने पर अरबी भाषा के शब्द भारत में प्रचलित हुए और संत-कवियों ने इस शब्द को अपने काव्यों में लिया। कबीर-जैसे निर्गुण-धारा के संत ही नहीं, किन्तु तुलसी-जैसे सगुण-धारा के कवियों ने भी साहेब शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया। साहेब के अर्थ मित्र, साथी, मालिक, स्वामी, हाकिम, सरदार, ईश्वर (संत कवि), आदरणीय[1] आदि किये जाते हैं। यहां साहेब[2] का अर्थ वह स्वामी है जो जीव का निधान, आश्रय एवं स्थिति-स्थल है। उसी का लक्ष्य रखकर सब लोग साहेब-साहेब अथवा ईश्वर-परमात्मा कहते रहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि लोग साहेब, ईश्वर, मालिक, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, गॉड आदि तो अवश्य कहते हैं,

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. कुछ लोग कहते है कि "साहेब' शब्द तो विदेशी है। इसे आप लोग क्यों लेते हैं? ऐसे लोग संकुचित-हृदय होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं "सेवक कर पद नयन सो, मुख सो साहिब होय...सरल सबल साहिब रघुराजू।"—उन्होंने अपनी वाणी में साहिब शब्द का पुष्कल प्रयोग किया है।
   प्राचीनतम ग्रंथ वेद में हर्म्यम्, हर्म्यः तथा हर्म्य घर तथा भवन के अर्थ में उसी प्रकार प्रयुक्त हैं जैसे अरबी भाषा में 'हरम' शब्द का अर्थ भवन होता है। देखिये ऋग्वेद 1/121/1; 1/166/4; 7/55/6; 7/56/16; 9/71/4; 9/78/3; 10/73/10; अथर्ववेद 18/4/55 इत्यादि। वेद में दुआ प्रार्थना के अर्थ में उसी प्रकार प्रयुक्त है जिस प्रकार अरबी भाषा में दुआ का अर्थ प्रार्थना होता है। ऋषि कहते हैं "देवेषु कृणुतो दुवः" (ऋग्वेद 8/31/9) अर्थात हम देवता की दुआ एवं प्रार्थना करते हैं। और यह प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है, ऋ. 1/37/14; 5/42/11; आदि।
   ऋग्वेद (10/106) में जर्भरी, तुर्फरीतू, नैतोशा, तुर्फरी, पर्फरीका, जेमना, मदेरू, चर्चरम्, तर्तरीथ, खरमज्रा, खरज्रु, पर्फरतू, सनेरू, फारिवा, चचरा, नीचीन, कीनारा आदि शब्द आते हैं। वेद में अन्यत्र भी आलगी, बिलगी आदि अनेक शब्द आते हैं, जिनमें अनेक को विद्वान लोग बैबिलोन भाषा के शब्द मानते हैं।
   अथर्ववेद (6/16) में तीन मंत्रों का एक छोटा सूक्त आता है। उसमें आबयो, अनाबयो, विहल्ह, मदावती, तैविलिके, ऐलब; ऐलयीत, अलसाला, सिलांजाला, नीलगलसाला आदि शब्द आते हैं जो निश्चित ही किसी देश एवं क्षेत्र की भाषा के शब्द हैं।
   प्रसिद्ध और जगत्व्यापी भाषा इंगलिश से उससे भिन्न भाषाओं के शब्द निकाल दिये जायें, तो इंगलिश भाषा दरिद्र हो जायेगी।
   भिन्न भाषा, उनके शब्द, भिन्न परंपरा, संप्रदायों, देशों आदि से अपने को सर्वथा अलग करके कोई व्यक्ति और परंपरा नहीं जी सकते।

परन्तु उन कहने वालों को असली साहेब से परिचय नहीं है। लोग साहेब-ईश्वर आदि शब्दों की ढेरी लगाते हैं, परन्तु क्या वह शब्दों की ढेरी है "शब्द शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।"[1]

पहली बात यह समझने की है कि जीव का आश्रय-स्थल जीव से अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति का निज स्वरूप चेतन है। वही उसका आश्रय-स्थल है। परन्तु मनुष्य समझता है कि हमारा आश्रय-स्थल कोई अलग से ईश्वर है। यह तो थोड़ी अक्ल का प्रयोग करने से मालूम हो सकता है कि हर मौलिक पदार्थ का आश्रय-स्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। जीव से अलग परमात्मा-ईश्वर तो हम केवल शब्दों में कहते हैं। वह कोई अनुभव का विषय नहीं है। अनुभव का विषय व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप है। जीव आनुभाविक तथ्य है और ईश्वर केवल अनुमान का विषय है। जीव आनुभविक तथ्य है—इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वह विषय है, किन्तु वही विषयी, अर्थात अहम पदार्थ है। वही सबका द्रष्टा, साक्षी एवं चेतन है। जीव ही जीव का साहेब है। आत्मा ही आत्मा का निधान है। मेरा साहेब मुझसे अलग नहीं है। "तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले।"

कबीर देव का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि लोग साहेब-साहेब तो कहते हैं; परन्तु इन्हें साहेब का कोई परिचय नहीं है, फिर इनकी स्थिति कहां होगी ! लोग ईश्वर-परमात्मा के शब्दों के जोर में पड़े हैं किन्तु "बाँझ हिलावे पालना, तामें कौन सवाद।" ईश्वर-परमात्मा शब्दों से कुछ काम नहीं चल सकता। जीव की स्थिति स्व-स्वरूप में ही होगी। अतएव जीव ही परम साहेब है। इसलिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

जीव बिना जिव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार॥
जीव दया करि पालिये, पण्डित करो विचार॥ 182॥

शब्दार्थ—अधार=आधार, सहारा।

भावार्थ—जीव के बिना जीव का कल्याण नहीं होता। जीव ही जीव का सहारा बनता है। इसलिए हे पण्डितो ! इस बात पर विचार करो और दया करके जीवों की रक्षा करो॥ 182॥

व्याख्या—यदि जीव का कोई रक्षक है तो अन्य जीव ही है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो जीव के कल्याण में सहयोग दूसरे जीव ही करते हैं। साधारण मनुष्य जीव हैं और संत-गुरुजन भी जीव ही हैं। साधारण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जीवों के कल्याण में संत-गुरु ही तो सहयोग करते हैं।

---

1. साखी 35।

देवी-देवादि तो जीव के गढ़े हुए शब्द मात्र हैं। उनकी भावना करके मनुष्य अपने मन को केवल थोड़ा संतोष देता है, उनसे कुछ पाता नहीं है, क्योंकि वे कुछ हैं नहीं। यदि जीव कहीं से सहारा पाता है तो वह दूसरे जीव ही से पाता है। आदमी ऐसी कृतघ्नता करता है कि जिन मनुष्य जीवों से उसके निर्वाह तथा परमार्थ में सहयोग मिलता है उनकी महत्ता की उसे याद नहीं आती और 'दूर के ढोल सुहावन' के अनुसार वह देवी-देवताओं के गीत गाता फिरता है। एक जगह नयी सड़क बनी थी। कहा गया कि अच्छा हुआ, यहां नयी सड़क बन गयी। वहां के लोगों ने कहा "हां, महाराज! ईश्वर की कृपा से यहां अच्छी सड़क बन गयी।" उनसे कहा गया कि जिन मनुष्यों की बनायी योजना तथा अथक श्रम से इस सड़क का निर्माण हुआ, उनका उपकार आप लोगों ने एक वाक्य में भी नहीं व्यक्त किया और एक काल्पनिक आदर्श की दोहाई देने लगे। मनुष्य की दृष्टि यथार्थवादी मानवीय से हटकर काल्पनिक दैवीय हो गयी है। वह मनुष्य को नहीं, देव को श्रेय देता है। मनुष्य सच है, देव झूठे हैं। ज्ञान-विज्ञान की सारी विभूतियां मनुष्य की हैं। अतएव जीव ही जीव का कल्याण करने वाला है। परन्तु खेद है, लोग जीव की प्रशंसा न कर देव की करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्यासत्य-विवेकिनी बुद्धि वाले पण्डितो! जीवों पर दया करो और उनको निर्भ्रांत ज्ञान देकर उन्हें सारे भ्रमों से मुक्त होने में सहयोग करो। पण्डित और साधु, समाज के पथ-प्रदर्शक हैं। यदि वे ज्ञान एवं धर्म के नाम पर भ्रांति फैलाते हैं तो जनता के कल्याण का कोई सहारा नहीं है, और यदि समाज में सच्चे ज्ञान का प्रकाश करते हैं तो जीवों का परम हित है। साधु और पण्डित समाज में दैववाद को निरस्त कर मानवतावाद का प्रचार करें। कल्पित देव की महिमा को हटाकर मानव की महिमा एवं जीव की महत्ता पर प्रकाश डालें। जीव की ही संसार में सर्वोच्च सत्ता है। जीव को हटा देने पर शिव बेजान है। सारे देव निर्जीव अर्थात मनःकल्पित हैं। जीव सबका कल्पक है।

इस साखी में दूसरा श्लेष अर्थ है कि जीव के बिना जीव की रक्षा नहीं होती। जीव ही जीव का आधार है। इसलिए हे पण्डित! विचारकर जीवों पर दया करो, देवी-देवादि के नाम पर उनकी हत्या न करो, न कराओ। कबीर साहेब ने यहां कहा है "जीव बिना जीव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार" तो मांसाहारियों ने इसे उलटकर एक पंक्ति बना रखी है "बिना जीव जीवै नहीं, जीवहिं जीव आहार।" यह ठीक है कि पशु, पक्षी, कृमादि में कुछ ऐसी जातियां हैं जो एक दूसरे को अपना आहार बना लेती हैं। परन्तु मनुष्य के लिए यह पंक्ति उपयुक्त नहीं है। सच्चा मानव किसी जीव को अपना आहार

नहीं बनाता है, किन्तु स्वयं दूसरे जीवों की रक्षा में आधार बनता है। जीयो और जीने दो, यही मानवता है।

कुछ मांसाहारी लोग बड़ी बारीकी से यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी जीव-हत्या एवं मांसाहार से नहीं बच सकता। वे कहते हैं कि यदि हम दूध-दही खाते हैं तो मांसाहार हुआ, क्योंकि पशु के शरीर से दूध आता है। वे यहां तक दावा करना चाहते हैं कि अन्न, फल, कंद सब में जीव है। यदि हम इन्हें खाते हैं तो मानो जीवहत्या और मांसाहार करते हैं। परन्तु ये सारी दलीलें निरर्थक हैं। दूधाहार मांसाहार नहीं है। अन्न, फल, कंद एवं समस्त वनस्पति निर्जीव केवल अंकुरज हैं। उन्हें सजीव मानने का केवल भ्रम है। दूध, फल और मांस एक साथ रख दिये जायें, तो सहज समझा जा सकता है कि दूध और फल देखने में ही स्वच्छ लगते हैं और मांस घृणित है। अपने ही मुख के दांत या चाम उखड़ या कट जायें तो हम उन्हें मुख में नहीं रख पायेंगे। फिर भी सभ्य कहलाने वाला आदमी निर्दय बनकर दूसरे जीवों की हत्या करता है और उनके घृणित मांस को हिंस्र पशु की तरह खा जाता है। सद्गुरु कहते हैं जीव दया पालन करो और मांसाहार का त्याग करो।

आत्मतृप्ति का सर्वोच्च स्वरूप

हम तो सबकी कही, मोको कोइ न जान॥
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन॥ 183॥

शब्दार्थ—तब=भूतपूर्व। अब=वर्तमान। जुग-जुग=युग-युग, भविष्य में। आन=दूसरा, खोटा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैंने सबकी कसर-खोट की परख कराकर सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बता दिया है, परन्तु मेरे रहस्य को कोई नहीं समझता। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूं तथा आगे भी विकारी होने वाला नहीं। मैं सब समय संतुष्ट रहूंगा॥ 183॥

व्याख्या—कबीर साहेब किसी तथाकथित ईश्वर, पैगंबर, अवतार, ईश्वरीय मजहब, ईश्वरीय पोथी के पक्षधर नहीं थे। वे इन सबके विरोधी, शुद्ध मानवतावादी, मानवीय बुद्धि के प्रशंसक एवं आत्मपरायण थे। इसलिए उन्होंने कहा—"हम तो सबकी कही"। उन्होंने भारत में उस समय प्रचलित दो विशाल समाज हिन्दू और मुसलमानों के अंधविश्वासों, चमत्कारों, दैवीकल्पनाओं, मिथ्या अहंकारों की तीव्र आलोचना की थी। उन्होंने पण्डित, मुल्ला, योगी, अवधूत, वेषधारी तथा कच्चे गुरुओं को खुलकर ललकारा था। उन्होंने सबकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाने का प्रयास किया। उन्होंने सबके कान उमेठे, सबको चुटकी काटी, सबको झकझोर कर जगाया।

वे किसी की गलती पर उसे क्षमा करना नहीं जानते थे। वे सबकी गलती पर टोकते थे, रोकते थे और उसे मीठे तथा कठोर शब्दों में भी फटकारते थे। उनकी कड़ी डांट-फटकार से पहले लोग क्षुब्ध हुए थे, परन्तु पीछे सब उनके प्रेमी हो गये। क्योंकि आगे चलकर लोगों ने देखा कि उनके मन में किसी के लिए द्वेष नहीं, किन्तु अपार प्रेम था। वे कोई कल्पित ईश्वरीय चमत्कार एवं मजहब बनाकर लोगों को अपना अनुगामी बनाने के लिए कुछ नहीं कर रहे थे। वे किसी को नास्तिक एवं काफिर कहकर कोई तथाकथित खुदाई मजहब नहीं चला रहे थे। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर मनुष्य के साथ छल नहीं कर रहे थे। किन्तु वे मानव को मानवीय बातें बता रहे थे। वे समाज को तथाकथित दैवी तथा ईश्वरीय बवंडर से हटाकर मानवीय-कर्म, मानवीय-बुद्धि, मानवीय-आचरण एवं मानवीय-रहनी की ओर ला रहे थे। मजहब वाले धर्म और ईश्वर के नाम पर मानवता के साथ छल करते हैं। वे उन्हें अतिमानवीय एवं दैवी चमत्कार बताकर सर्वोच्च सत्ता के ठेकेदार बनते हैं और दूसरों को नास्तिक तथा काफिर कहते हैं। वे मानव को तुच्छ बताकर उन्हें शून्य तथा पत्थर के सामने घुटने टेकने की राय देते हैं। कबीर साहेब इन सबके विरुद्ध थे। कबीर साहेब चाहते थे कि मानव मानव के महत्त्व को जाने। मानव किसी कल्पित ईश्वर के विराट स्वरूप को नहीं, किन्तु मानव के विराट स्वरूप को समझे। मानव की चेतना ही सर्वोच्च है। वे इस ज्वलंत सिद्धांत के पक्षधर थे। लोगों ने कबीर के इस वज्रादपि कठोर तथा कुसुमादपि कोमल स्वरूप को देखा। अर्थात लोगों ने समझा कि कबीर अन्याय तथा अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं; परन्तु मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल हैं। बल्कि कहना चाहिए कि मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल होने के नाते ही वे अन्याय एवं अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं। अतएव कबीर का सर्वोपकारी रूप समाज के सामने आया।

परन्तु फिर भी सद्गुरु कहते हैं "मोको कोइ न जान"। इसका अर्थ यही है कि कबीर के मानवतावादी विचारों और स्वरूपज्ञान के विषय को बहुत थोड़े लोग समझे। सारे दैवी शब्दाडंबरों को हटाकर केवल निजस्वरूप चेतन में स्थित होना एवं आत्मपरायण होना—उनके इस आध्यात्मिक सिद्धांत को कम लोग समझ सके। "मोको कोइ न जान" का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए, किन्तु लाक्षणिक अर्थ लगाना चाहिए। लाक्षणिक अर्थ है कि उनके तत्त्वबोध एवं पारखपद के उपदेश को कम लोग जान सके। कबीर साहेब ने बीजक भर में जीव को सर्वोच्च सत्ता बताया है। जीव के लिए उन्होंने राम शब्द का प्रयोग भी बहुत किया है। उनका कथित सकारात्मक हरि भी जीव ही है। अभी ऊपर 182वीं साखी में भी जीव की महत्ता पर ही उन्होंने प्रकाश

डाला है। जीव, जो सारे ज्ञान-विज्ञान का मूलाधार है, उसे मजहब वाले तुच्छ कह रहे थे। कबीर देव को यह बहुत खटका, इसलिए उन्होंने कल्पित महत्त्व का खण्डन किया, और जीव तथा मानव की महत्ता का मण्डन किया। परन्तु कबीर साहेब के मानवतावादी, जीववादी एवं स्वरूपज्ञान के सिद्धांत को कम लोग समझ सके।

सद्गुरु कहते हैं कि मेरा काम था सत्य रास्ता बता देना। अब उसे जो समझता है तो उसका कल्याण है और जो नहीं समझना चाहता है तो उसका अकल्याण है। इन बातों को लेकर मेरी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आ सकता। मैं उपदेश देने के पहले पूर्णकाम एवं संतुष्ट था, वर्तमान में संतुष्ट हूं तथा आगे भी संतुष्ट रहूंगा। कबीर साहेब अपने निर्धारित सत्य को फैलाने के लिए भावुक नहीं थे। वे समझते थे कि पूरे संसार को कोई कभी जगा नहीं सका है। हर सत्यद्रष्टा का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्यपरायण हो तथा समाज को उसका उपदेश करे। उसके उपदेश को कितने लोग मानते हैं, और कितने नहीं, इसकी चिंता वह न करे। इसकी चिंता करने से कोई फायदा नहीं है। उपदेष्टा इसीलिए तो उपदेश करता है कि लोग उसकी बातों को समझकर कृतार्थ हो जायें और यदि उपदेष्टा स्वयं कृतार्थ न हो तो उसके उपदेश का फल जब उसे ही नहीं हुआ, तो दूसरे से क्या आशा की जाये कि वह उस उपदेश से कृतार्थ हो जायेगा! अतएव उपदेष्टा की कृतकृत्य एवं पूर्णकाम अवस्था ही उसके उपदेशों की गरिमा है। कबीर इसलिए उच्चतम संत हैं कि वे दूसरों को जगाने के लिए भरपूर श्रम करते हैं, परन्तु स्वयं कभी असंतुष्ट नहीं हैं। वे सब समय पूर्णकाम, अकाम, निष्काम एवं आप्तकाम हैं। यह कबीर की समुद्र के समान गहराई तथा हिमालय के समान ऊंचाई है। आत्मतृप्ति के समान दुनिया में कोई अन्य उपलब्धि नहीं है। यही सर्वोच्च उपलब्धि है। यही चरम गंतव्य है। इसके आगे कहीं नहीं जाना है। आत्मसंतुष्ट मनुष्य सच्चा सम्राट है। अतएव सद्गुरु का यह महावाक्य हृदय को छूने वाला है "तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन।"

गुरुओं के भयंकर जाल

प्रगट कहौं तो मारिया, परदा लखै न कोय॥
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय॥ 184॥

शब्दार्थ—परदा=रहस्य, भेद, आड़ा। सहना=शहना, चौकीदार, कोतवाल, फसल की रखवाली करने वाला सरकारी कर्मचारी (दो मनुष्यों के खेत के झगड़े में न्याय होने के समय तक जो उसकी फसल की रक्षा करता तथा फसल के अन्न को सुरक्षित रखता है उसे यहां शहना कहा गया है),

भ्रामक गुरु। पयार=पयाल, पैरा, अन्नरहित डंठल, घास, सारहीन वाणीजाल।

भावार्थ—यदि सत्य और असत्य को खोलकर कहा जाये तो अंधविश्वास के पक्षधर लोग मारने दौड़ते हैं और यदि कोई आड़ लेकर कहा जाये तो लोग भेद नहीं समझ पाते। चौकीदार पुवाल के नीचे छिपकर अन्न चुरा रहा है, अर्थात भ्रामक गुरु सारहीन वाणियों की आड़ लेकर लोगों को भटका रहे हैं—ऐसा कहकर कौन उनका वैरी बने !॥ 184॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति-पंक्ति में आग है। वे कहते हैं कि सत्य को सत्य और असत्य को असत्य खोलकर कह दिया जाये तो धर्म के नाम पर जालसाजी फैलाकर रोटी कमाने वाले लोग मारने दौड़ते हैं। ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, पुत्र-धन देने वाले, चमत्कार दिखाने वाले, ईश्वर के दर्शन कराने वाले, चुटकी बजाते ही ध्यान में पहुंचा देने वाले, तथाकथित कुंडलिनी जगा देने वाले तथा आनन-फानन में मुक्ति देने वाले धूर्त गुरुओं का सब समय बोलबाला रहा है। किसी भी क्रांतिकारी विचार का विरोध पुरोहित वर्ग कठमुल्ला तबके ने किया है, क्योंकि ये धर्म को धन्धा बनाकर उसके बल पर रोटी कमाने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म का प्रचार करने वाले जनता से रोटी पाने के अधिकारी नहीं हैं! वे रोटी पाने के अधिकारी हैं। यहां कहने का अर्थ है कि जो धर्मगुरु का जामा पहनकर सत्य से दूर हैं और धर्म के नाम पर अंधविश्वास फैलाकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं, वे सत्यनिर्णय एवं क्रांतिकारी विचारों से डरते हैं। वे समझते हैं कि समाज में जितना ही सत्य का प्रचार होगा, लोग जितना ही कारण-कार्य-व्यवस्था को समझते जायेंगे, उतना ही अन्धविश्वास पर पले धर्म के नाम पर चलने वाले धन्धे रुकते जायेंगे। इसलिए किसी भी परम्परा का पुरोहित-वर्ग सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता, अपितु वह केवल कर्मकांड का प्रचार चाहता है। बेचारा ब्राह्मण-पुरोहित ही नहीं, कबीरपंथ का पुरोहित जो चौका-आरती के बल पर जीव को सतलोक भेजने का दावा करता है, कबीर साहेब के सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता। यहां तक कि उनमें से कितने इस बीजक ग्रंथ से कतराते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि साफ कहने से ऐसे लोग रुष्ट होते हैं। परन्तु यदि जनता को कोई आड़ लेकर समझाया जाये तो वे भेद नहीं समझ पाते। इसलिए खुलासा निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। साफ निर्णय के बिना सच्चा बोध नहीं होता।

शहना एवं शह्ना अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ चौकीदार होता है। यह गांवों में उस चौकीदार के लिए विशेष रूढ़ है जो किसी विवादग्रस्त खेत की फसलों की रक्षा करता है और उसकी आमदनी को तब तक सुरक्षित

रखता है जब तक वादी-प्रतिवादी के बीच विवाद सुलझ न जाये। जब विवाद सुलझ जाता है तब उस खेत की सारी आमदनी विजयी पक्ष को मिल जाती है। उसमें शहना को केवल अपना पारिश्रमिक मिलता है। परन्तु ज्यादातर शहना खलिहान में फसल के डंठल से ही अन्न झाड़कर चुरा लेता है। जो वादी-प्रतिवादी के बीच में धन की रक्षा की जिम्मेदारी ले, वही धन को हड़प जाये, तो रक्षा का दूसरा क्या आधार हो सकता है ! नाना मत के गुरु लोग शहना हैं। वे पुवाल के नीचे छिपकर अन्न को चुरा रहे हैं। कल्पित वाणियां ही मानो पुवाल हैं। पुवाल में अन्न नहीं होता। जब डंठल से अन्न झाड़ लिया जाता है तब उसे पुवाल कहते हैं। इसी प्रकार विशेषतः सत्यज्ञान से रहित अन्धविश्वासपूर्ण वाणियों की आड़ में ही छद्म गुरु लोग अपना भ्रमजाल फैलाते हैं। चतुर लोग अपनी किताबों को ईश्वरप्रदत्त बताकर तथा बड़े नामों के संवादों में लिखे ग्रन्थों का हवाला देकर कि देखो, यह अमुक महापुरुष ने कहा है, अपनी भ्रम मान्यता को जनता से मनवाते हैं। उनकी ऊलजलूल बातें क्यों मान लेना चाहिए, क्योंकि वे प्रभुवचन हैं, ईश्वर ने कहा है, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर या ईश्वर के पुत्र ने कहा है, या अमुक बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, महात्मा तथा संत ने कहा है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह कहकर कौन बैरी बने कि कोई पुस्तक आकाशीय ईश्वर ने नहीं बनायी है। सारी किताबें मानव-रचित हैं। संसार में कोई भी अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर-पुत्र नहीं है। विश्व के सारे महापुरुष मानव हैं। किसी ग्रंथ की किसी बात की प्रामाणिकता किसी अमुक बड़े नाम से जोड़ने से नहीं हो जाती, किंतु युक्तियुक्त, तर्कपूर्ण एवं न्याय-संगत होने से होती है। किसी बात को परखने के लिए विश्वनियम, विवेकबुद्धि एवं मानव-अनुभव है।

देश विदेशे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल ॥
जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल॥ 185॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। सुकाल=उत्तम समय। दुकाल=अकाल-पर-अकाल, बुरा समय।

भावार्थ—मैं देश-विदेश में घूमा तो पाया कि सर्वत्र मन की कल्पनाओं का सुराज है। मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं, उसका अभाव है॥ 185 ॥

व्याख्या—अविद्वान हो या विद्वान, गंवई हो शहरी, सब आदमी अन्धविश्वास में डूबे हैं; क्योंकि सदैव से गुरुओं, महंतों एवं पण्डितों द्वारा उन्हें अन्धविश्वास का पाठ पढ़ाया गया है। सिद्ध महात्मा उड़ सकते हैं, लुप्त होकर कहीं अलग प्रकट हो सकते हैं, पानी पर चल सकते हैं, सबके मन को

जान सकते हैं, देवी-देवता सच हैं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं, महात्मा एवं देवता ऋद्धि-सिद्धि प्रकट कर सकते हैं। भगवान कमल फूल पर सूरज एवं सूरज पर कमल फूल उगा सकते हैं। इतना ही क्या, जितनी बिना सिर-पैर की बातें कही जा सकती हैं, पण्डित, महात्मा, महंत, मौलवी, पादरी, ज्ञानी तथा उपदेष्टा नामधारी व्यास-गद्दियों से बकते रहते हैं और इन सब बातों को सुन-सुनकर निरक्षर तथा साक्षर जनता झूमती रहती है और इन सबको सत्य मानती रहती है। सद्गुरु कहते हैं कि देश-विदेश में घूमकर मैंने देख लिया है, सर्वत्र मन का सुकाल है। अर्थात सर्वत्र मन-मानंदी, मनःकल्पनाओं, बे-सिर-पैर की बातों की ही गूंज है। धर्म तथा भगवान के नाम पर सारी मूर्खतापूर्ण बातें चलती रहती हैं।

मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं उसका दुष्काल पड़ा है। मैं चाहता हूं कि मनुष्य आंख मूंदकर किसी की भी बात न माने। गुरु, शास्त्र, तथाकथित प्रभुवचन सब पर विवेक करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। धर्म के धन्धेबाजों ने समाज को जितना बेवकूफ बनाया है वह अक्षम्य है। धर्म के नाम पर चलने वाली बातों को आंख मूंदकर मानने का प्रचलन पुराकाल से है, क्योंकि समाज को बताया गया है कि संत-वचन, गुरु-वचन, शास्त्र-वचन तथा प्रभु-वचन पर तुम विचार करने के अधिकारी नहीं हो। उन्हें तो तुम्हें बिना चीं-पूं किये मान लेना है। कहना न होगा कि इस धूर्ततापूर्ण धारणा ने मनुष्य के मस्तिष्क को निष्क्रिय बना दिया है। उसने सोचने की क्षमता को हर लिया है। कबीर साहेब इस धारणा के बिलकुल विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि तुम सबकी बात पर सोचने के अधिकारी हो। इसलिए श्री रामरहस साहेब ने कहा—"शब्द कहे सो कीजिये, गुरुवा बड़े लबार। अपने-अपने स्वार्थ के, ठौर-ठौर बटपार॥" अर्थात निर्णय से जो सत्य हो उसे ही स्वीकार करो, गुरुआ लोग तो बड़े लबार हो गये हैं। ये अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जगह-जगह जनता को लूट रहे हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं जिस पारखी को खोजता हूं वह नहीं मिलता। परखकर बात मानने वालों का अभाव है। धर्म और अध्यात्म के स्वस्थ स्वरूप तब तक नहीं प्रतिष्ठित हो सकते हैं जब तक हर आदमी अपने विवेक का आदर नहीं करने लगता। कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर मानने वाले मत बनो, किन्तु विवेक-नेत्रों से देखकर मानो। 'कौटिलीय अर्थशास्त्रम्' में, जो ईसापूर्व चौथी शताब्दी में बना है, अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—चार विद्याओं का वर्णन है। सांख्य, योग तथा लोकायत—इन्हें अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर साहेब मानो स्वस्थ अन्वीक्षकी विद्या

का प्रचार चाहते हैं। वे अन्वीक्षण[1], परीक्षण के बाद तथ्य को स्वीकारने की राय देते हैं। कबीर धर्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक हैं।

कलि खोटा जग आँधरा, शब्द न माने कोय॥
जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय॥ 186॥

शब्दार्थ—कलि=कलह, झगड़ा, युद्ध, पाप-बुद्धि, कलियुग[2]। खोटा=बुरा।

भावार्थ—कलह एवं झगड़ा बुरी बात है। जगत के लोग विवेकहीन हैं, वे निर्णय-वचन नहीं मानते। मैं जिसको सजाति मानव-बंधु मानकर उसके ही कल्याण के लिए उसे सही रास्ता बताता हूं, वही उठकर शत्रु बनने का प्रयास करता है॥ 186॥

व्याख्या—"कलि खोटा" कथन सहज भी हो सकता है कि कलियुग बुरा है, परन्तु इसका उपर्युक्त अर्थ ही तात्त्विक है। सद्गुरु कहते हैं कि कलह करना, झगड़ा करना बुरी बात है। किसी से झगड़ाकर जबर्दस्ती सत्य बात मनवायी भी नहीं जा सकती। संसार के बहुधा लोग विवेकहीन हैं। "शब्द न माने कोय" यहां शब्द से अभिप्राय निर्णय वचन है, क्योंकि आंख मूंदकर किसी शब्द को मानने का खण्डन तो सद्गुरु स्वयं करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जगत के लोग ऐसे अन्धे हैं कि वे जिस परम्परा की पूंछ पकड़ लिये हैं; उसमें हानि दिखते हुए भी उसको नहीं छोड़ते। वे अन्धविश्वास में गड़े हुए हैं। उन्हें निर्णय के वचन, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल विचार बताये जायें, तो वे उन्हें सुनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। परन्तु यदि उन्हें आकाश-पाताल को मिलाने वाली बातें कही जायें, तो वे उसे बड़ी चाव से सुनते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि मैं मानता हूं कि संसार के सारे मनुष्य मेरे सजाति हैं, अपने बंधु हैं। इसलिए मैं उन्हें अपना मानकर सही रास्ता दिखाना चाहता हूं, परन्तु वे भोले हैं। वे तो सही रास्ते से चिढ़ते हैं। वे अपने हितचिंतक को नहीं पहचानते और उनसे वैर ठान लेते हैं। जो लोग उन्हें मूर्ख बनाकर लूटते हैं, उन्हें वे पसंद करते हैं। क्योंकि वे उन्हें ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा देते हैं,

---

1. अन्वीक्षकी-विद्या सर्वदा सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का साधन और सभी धर्मों का आश्रय मानी गयी है। मूल वचन इस प्रकार है—
   प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
   आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पहला प्रकरण)
2. कलि—पु. (सं.) कलह; झगड़ा; युद्ध; चार युगों में से चौथा जिसकी आयु 4 लाख 32 हजार मानव-वर्ष मानी जाती है; कलियुग का अधिष्ठाता असुर; पाप-बुद्धि; आदि।
   (बृहत्-हिन्दी कोश)

चमत्कारी बातें करते हैं, सिद्ध, अवतार या पैगंबर बनते हैं, अपने में अलौकिकता का पाखण्ड करते हैं तथा भक्तों को केवल पूजा के बल पर भोग और मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। संसारियों को बिना त्याग-तप किये मुक्ति पाने की आशा प्रबल है। उनकी इस कमजोरी का लाभ उठाते हैं धूर्त गुरुआ लोग। भक्त लोगों को अपने जाल में फंसाये रखने के लिए वे चमत्कार, प्रलोभन, भय—सब कुछ दिखाते हैं। धूर्त गुरुओं के शिकंजे में फंसे लोगों को निर्णय वचन अच्छे नहीं लगते और न अच्छे लगते हैं निर्णय-वचन कहने वाले। "जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय।" इसी भाव की प्रतिध्वनि है।

मसि कागद छूओं नहीं

मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहों नहिं हाथ॥
चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात॥ 187॥

शब्दार्थ—मसि=स्याही। महातम=माहात्म्य, विशेषता।

भावार्थ—मैं स्याही और कागज नहीं छूता और न कलम हाथ में पकड़ता हूं, चारों युगों में जिसकी महत्ता है, मैं उसकी बातें मुख से ही बता देता हूं॥ 187॥

व्याख्या—उक्त साखी को लेकर विद्वानों ने यह भ्रम पाल रखा है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। यद्यपि पढ़ाई-लिखाई कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है तत्त्व-बोध। इस बात की चर्चा पीछे कर आये हैं कि छंदोविद, वेदविद तथा वेद्यविद इन तीनों में वेद्यविद ही श्रेष्ठ है। जो छंदों के रहस्य को जानता है वह छंदोविद है, जो वेदमन्त्रों के अर्थ को जानता है वह वेदविद है और जो जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद है। अतएव पढ़ा-लिखा हो या नहीं, वेद्यविद ही सर्वोपरि है। कबीर साहेब वेद्यविद थे। वे जानने योग्य को जानते थे। अतएव वे पढ़े-लिखे रहे हों या नहीं, उनकी वरीयता में कोई शंका नहीं। विद्वानजन भी इस बात को मानते हैं।

परन्तु उक्त साखी से क्या यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे! उक्त साखी से तो यह बात सिद्ध होती है कि उन्होंने अपनी बातों को बताने के लिए उन्हें स्वयं कागज पर नहीं लिखा, किन्तु जबान से कहकर बताया है। अतएव कबीर साहेब ने अपनी बातें कविता में कही होंगी और शिष्यों ने लिख लिया होगा। उन्हीं का संग्रह बीजक ग्रंथ है। इसकी प्रामाणिकता में आज ताजा उदाहरण श्री विशाल साहेब का दिया जा सकता है। सद्गुरु विशाल साहेब जो पारख सिद्धांत के महान मनीषी हैं और जिनका कार्यकाल ईसा की बीसवीं शताब्दी है, अपने हाथों से उन्होंने एक अक्षर भी नहीं लिखा है। उन्होंने पद, साखी आदि बनाकर शिष्यों के सामने कह दिया

और शिष्यों ने लिख लिया। इस प्रकार उनकी वाणियों से भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम ये चार महान ग्रंथ निर्मित हुए। विशालदेव के इन चार ग्रन्थों में एक शब्द भी अन्य का जोड़ा हुआ नहीं है, उन्हीं के बनाये सारे पद हैं। उन्हीं के संयोजित प्रसंग तथा प्रकरण हैं और उन्हीं के दिये ग्रन्थों के नाम हैं।

पुराकाल में ऐसे ऋषिगण होते थे, जो केवल बोल देते थे और शिष्यगण लिख लेते थे। कहा जाता है कि पूरा महाभारत वेदव्यास जी ने केवल अपने मुख से बोला है, गणेश जी ने लिखा है। गणेश काल्पनिक व्यंग्यचित्र जैसा होने से यह बात विश्वसनीय न हो तो भी आजकल के सभी बड़े अधिकारी एक चिट्ठी भी बोलकर अपने क्लर्क से लिखवाते हैं, जज बोलकर अपने स्टेनो से जजमेंट लिखवाते हैं तथा अनेक लेखक और कवि बोलकर अपने निबंध और कविता अपने क्लर्क से लिखवाते हैं। परन्तु वे आलेख और रचना लिखने वालों के नहीं, किन्तु बोलकर लिखवाने वालों के माने जाते हैं। अतएव कबीर साहेब अपनी रचना को समय-समय से शिष्यों के बीच में बोलते गये और शिष्यों ने उसे लिख लिया है। कबीर साहेब ने अपने ग्रंथ का नाम स्वयं 'बीजक' रखा है, यह 37वीं रमैनी की साखी से समझा जा सकता है—"बीजक बित्त बतावै, जो बित्त गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" प्रकरणों के नाम भी उन्हीं के रखे हुए हैं, क्योंकि छंदों के अनुसार ही प्रकरणों के नाम हैं। "साखी आँखी ज्ञान की...।" कहकर तो साखी प्रकरण व्यक्त ही किया गया है।

अब प्रश्न होता है कि क्या कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे? इसका समाधान तो इस पूरे बीजक को पढ़कर ही किया जा सकता है। जो वेदों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों तथा शास्त्रों का मर्म नहीं जानता, वह बीजक के सभी पदों का अर्थ नहीं समझ सकता। कबीर साहेब ने तो उक्त शास्त्रों के विषयों के हवाले दिये हैं। अनुभवी पुरुष केवल अपना अनुभव कह सकता है, शास्त्रों के हवाले नहीं दे सकता। शास्त्रों के हवाले तो तभी दिये जा सकते हैं, जब उनका अध्ययन कर लिया गया हो। कबीर साहेब के इस महान ग्रन्थ बीजक को शुरू से आखिर तक मननपूर्वक पढ़ जाना चाहिए तब यह निर्णय लेना चाहिए कि वे पढ़े-लिखे थे कि नहीं। इन पंक्तियों के लेखक के विचार से वे भले शास्त्री एवं व्याकरणाचार्य नहीं रहे हों, परन्तु इतना अवश्य पढ़े रहे होंगे जिससे शास्त्रों को भलीभांति समझ सकें।

चतुर्दिक सावधान

फहम आगे फहम पाछे, फहम दाहिने डेरि॥

फहम पर जो फहम करै, सो फहम है मेरि॥ 188॥

शब्दार्थ—फहम=फ़ह्म, अक्ल, समझ, सावधानी। डेरि=बायां।

भावार्थ—जो व्यक्ति आगे, पीछे, दाहिने तथा बायें समझ और सावधानी का प्रयोग करता है तथा सावधानी पर सावधानी बरतता है, वह मानो मेरी तरह सावधान रहता है॥ 188॥

व्याख्या—रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी उर्दू काव्य के महान कवि हो गये हैं, उन्होंने लिखा है कि कबीर के सिर से पैर तक मानो आंखें-ही-आंखें थीं जो कभी झपकती नहीं थीं। सचमुच तो समझ, अक्ल और सावधानी का इतना बड़ा प्रयोग करने वाला व्यक्ति कभी-कभी कोई-कोई होता है। उक्त साखी कितनी मार्मिक है। गुरुदेव कहते हैं कि आगे-पीछे, दायें-बायें—सर्वत्र समझदारी का प्रयोग करो। इतना जागते रहो कि समझ-पर-समझ रखो तथा सावधानी-पर-सावधानी रखो। वस्तुतः सावधानी ही साधना है। सावधानी हटी की दुर्घटना घटी, यह रेलवे-यार्ड का बोर्ड केवल वहीं के लिए सार्थक नहीं है, किन्तु हृदय-यार्ड के लिए ज्यादा सटीक है।

इस साखी में 'फहम' शब्द का प्रयोग छह बार हुआ है। बृहत हिन्दी कोश ने फहम का अर्थ अक्ल एवं समझ किया है, परन्तु इस प्रसंग में इस अर्थ के साथ जो महत्त्वपूर्ण अर्थ है वह है सावधानी। समझ और सावधानी सजाति भाव वाले हैं। समझ की सार्थकता सावधानी में है। हम इन दोनों शब्दों पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

समझ का अर्थ ज्ञान एवं बोध है। सारा दुख समझ के अभाव में है। यदि किसी बात को लेकर मन उलझा है तो इसके मूल में समझ की कमी है। श्रद्धा का प्रचलित अर्थ जन-समूह में जो व्याप्त है उसको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि श्रद्धा से समझ वजनदार है। जिसमें समझदारी नहीं है वह यदि श्रद्धा करता है, तो उसकी श्रद्धा के समाप्त होने में देरी नहीं लगेगी। समझदारीरहित श्रद्धालु केवल भावुक होता है। उसकी श्रद्धा बालू पर पड़े पानी की तरह है जिसके सूखने में देरी नहीं लगती। जो श्रद्धा समझदारी के संयुक्त है वह स्थायी होती है। शब्दशः 'श्रद्धा' का जो अर्थ है वह समझदारी-संबलित ही है। 'श्रद्धा' शब्द 'श्रत्' और 'धा' दो पदों के मिलने पर बनता है। 'श्रत्' का अर्थ होता है 'सत्य' और 'धा' का अर्थ होता है 'धारण करना'। अर्थात सत्य को धारण करना श्रद्धा है और सत्य का धारण समझ होने पर ही सम्भव है। जो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, वही असत्य को छोड़कर सत्य धारण कर सकता है। सच्ची समझदारी होने से श्रद्धा अपने आप हो जाती है। जो सत्य के महत्त्व को समझ लेगा, उसमें सत्य अपने आप धारण हो जायेगा।

प्रकृति के खेल को देखकर उसके पीछे जो दैवी-कल्पना होती है उसमें कारण है प्रकृति के विषय में समझ का अभाव। यदि हम प्रकृति को समझ जायें तो हमें यह ज्ञान हो जायेगा कि प्रकृति एवं जड़तत्त्व नित्य हैं और उनमें गुण-धर्म स्वभावसिद्ध एवं स्वतः निहित हैं। इस अनंत विश्व-ब्रह्मांड को कोई चेतन नहीं चला रहा है, किन्तु इनमें स्वतः सिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जिनसे वे अनादि स्वतः स्वचालित हैं। जीव शरीर छोड़कर दूसरे शरीर धारण करते हैं, इसलिए भूत-प्रेत की कल्पना निरर्थक है। जड़-चेतन की सच्ची समझ हो जाने पर जितना दैवीचमत्कार, भूत-प्रेत तथा सुख-दुख देने वाली अदृश्य शक्ति का बवंडर है अपने आप समाप्त हो जाता है। तब यह बोध हो जाता है कि जीव के कर्म ही उसके सुख-दुख के कारण होते हैं। सही समझ हो जाने पर यह अपने आप साफ हो जाता है कि परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से कहीं कुछ अलग नहीं है जो मिलता हो। वस्तुतः सारी कामनाओं का त्याग करके स्वरूपस्थिति ही अध्यात्म की सर्वोच्च दशा है। सच्ची समझ वाला व्यक्ति कहीं व्यवहार में उलझता नहीं है। सच्ची समझ का अर्थ ही है कि वह वस्तुओं, प्राणियों तथा व्यवहारों का उचित ग्रहण और त्याग जानता है। अपने स्वरूप के विषय में, जड़ तत्त्वों के विषय में, व्यवहार के विषय में, साधना एवं शांति के विषय में; अर्थात आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दिशाओं की उन्नति एवं जीवन के लिए विश्रांति के विषय में सच्ची समझ रखना ही आगे-पीछे, दायें-बायें फहम एवं समझ रखना है। फहम-पर-फहम, समझ-पर-समझ रखना भी यही है कि हर बात में समझने का प्रयत्न करना। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दिशाओं में ज्ञान तथा समझ प्राप्त करने की शक्ति हर मनुष्य में है। सारे बंधन, सारे दुख एवं सारी अशांति नासमझी तथा अज्ञान का फल है। हर दिशा में सच्ची समझ एवं सच्चा ज्ञान हो जाने से जीव सदैव सुखी रहता है।

फहम का दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ सावधानी है। जो व्यवहार तथा परमार्थ सभी दिशाओं में सावधान रहता है वह सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक सोता है। जो व्यक्ति आगे-पीछे, दायें-बायें सब तरफ सावधान रहता है, वह न बाहरी व्यवहार में उलझता है और न भीतरी मन के द्वंद्वों में उलझता है। निरंतर सावधान एवं अखंड जाग्रत व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है। सद्गुरु कहते हैं "फहम पर जो फहम करे, सो फहम है मेरि" जो सावधानी-पर-सावधानी रखता है वह मेरी तरह सावधान रहता है। यह कबीर साहेब की गर्वोक्ति नहीं, किन्तु सहजोक्ति है। वे अधिकृत जाग्रत पुरुष, सहज जाग्रत पुरुष एवं स्वयंसिद्ध जाग्रत पुरुष थे। सावधानी एवं जागृति जिसका सहज स्वरूप बन जाती है, वह साधकों से कह सकता है कि तुम लोग मेरी तरह सावधान रहो।

अथवा जो निरंतर जाग्रत है वह मानो मेरा प्रतिरूप है।

गृहस्थ, विरक्त और जीवन्मुक्त

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध॥
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध॥ 189॥

शब्दार्थ—हद=गृहस्थीमर्यादा। बेहद=वेषमर्यादा। अगाध=अथाह, अपार, दूसरे के लिए दुर्बोध, सर्वोच्च।

भावार्थ—जो सर्व दुराचरणों को त्यागकर, माता-पितादि सर्व गुरुजनों की सेवा-भक्ति करते हुए सदाचरणपूर्वक गृहस्थी मर्यादानुसार चलता है वह मनुष्य है। जो गृहस्थी से हटकर तथा किसी सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर त्याग-वैराग्यपूर्वक चलता है, वह साधु है। और जो उक्त दोनों से परे होकर स्वरूपस्थिति में रमता है, उसका अनुभव दूसरे के लिए दुर्बोध है, वह सर्वोच्च है॥ 189॥

व्याख्या—मानव के तीन स्तर हैं—गृहस्थ, विरक्त तथा जीवन्मुक्त। इन तीनों के लिए सद्गुरु ने इस साखी में प्रकाश डाला है। सद्गुरु ने इस साखी में मानव, साधु तथा गुणातीत तीन श्रेणियों में सबको विभाजित करके उन्हें इंगित किया है।

पहली बात है "हद चले सो मानवा"। हद गृहस्थी मर्यादा है। गृहस्थ किसे कहना चाहिए? जो गृह-स्थ, अर्थात घर में रहता हो वह गृहस्थ है। परन्तु यह परिभाषा निर्दोष नहीं है, क्योंकि घर में विरक्त संत भी रहते हैं, भले वे दूसरों के एवं भक्तों के घर में रहते हों, परंतु रहते तो घर में ही हैं। संतों के आश्रम एवं मठ होते हैं, उनमें रहना भी तो घर में ही रहना हुआ। अतएव जो वैवाहिक-बंधनों में बंधकर रहता है, वह गृहस्थ है। लड़की तथा लड़के का विवाह कब होना चाहिए यह साफ है। लड़के का विवाह तब होना चाहिए जब वह शिक्षा-दीक्षा में उत्तीर्ण होकर धन कमाते हुए आर्थिक दृष्टि से अपने कदमों पर खड़ा हो जाये। इसके लिए कम-से-कम उसकी तीस वर्ष की उम्र हो ही जायेगी। और लड़की की शादी तब होनी चाहिए जब वह भी गृहस्थी की जिम्मेदारी को भलीभांति समझ ले और उसकी उम्र कम-से-कम बीस-बाईस वर्षों की हो जाये। इससे ऊपर हो जाये तो कोई बुरा नहीं। बाल-विवाह बच्चों की हत्या है। एक आदमी अपने बच्चे की थोड़ी उम्र में शादी कर दे तथा दूसरा तलवार से अपने बच्चे का गला काट दे तो दोनों हत्यारे हैं। परन्तु जिसने गला काट दिया उस हत्यारे ने अपने बच्चे को एक ही बार में समाप्त कर दिया, परन्तु बाल-विवाह करने वाला पिता अपने बच्चे को मानो जीवनभर मुरही छूरी से रेत-रेतकर मारता है।

दहेज प्रथा महापाप है। भारत आजाद होने के पहले सोचा जाता था कि जब भारत आजाद होगा तब शिक्षा काफी बढ़ जायेगी। लोग इतने शिक्षित हो जायेंगे कि वे स्वयं दहेज से घृणा करेंगे और विवाह बिना दहेज लिये करेंगे। परन्तु बात उलटी हुई। आदमी जितना शिक्षित हुआ है उतना लोभी हुआ है। कुछ को अपवाद रूप में छोड़कर शिक्षा से दहेज बढ़ा है। पुत्र वाले अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने में जितने रुपये खर्च किये हैं उन्हें चक्रवृद्धि ब्याज के दर से मानो लड़की वालों से वसूल लेना चाहते हैं। परन्तु जब उन्हें स्वयं अपनी लड़की की शादी में भटकना पड़ता है और दहेज के दुष्चक्र में पड़ना पड़ता है तब उन्हें आकाश के तारे दिखाई देने लगते हैं। दुलहन तो खुद दहेज है। इसके बाद भी दहेज मांगना पाप है। दहेज लेना और देना दोनों पाप है।

बच्चों को अच्छे संस्कार देना माता-पिता के कर्तव्य हैं और यह तभी संभव है जब माता-पिता स्वयं अच्छे संस्कारों से संपन्न हो जायें। जिन घरों में सुबह से उठकर हल्ला होता है, घर के सभी सदस्य जोर-जोर से चिल्लाकर बोलते हैं, एक दूसरे को कठोर वचन कहते हैं, जिनके घर की सारी वस्तुएं बिखरी तथा अव्यवस्थित जहां-तहां पड़ी रहतीं हैं, घर में जगह-जगह थूक, बच्चे की टट्टी-पेशाब एवं अन्य गंदगी पड़ी रहती है, फर्श, दीवार और पूरा घर गंदा रहता है, कपड़े गंदे, बच्चे गंदे और सब कुछ अस्तव्यस्त रहता है, वहां बच्चों को अच्छे संस्कार कहां मिल सकते हैं! जहां अण्डा, मांस, मछली, शराब-कबाब चलते हैं, जहां गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि गंदे व्यसनों का बोलबाला है, ऐसे घरों में बच्चों को अच्छे संस्कार कैसे मिल सकते हैं! वहां तो बच्चों को बुरे संस्कार मिलेंगे। अतएव घर-द्वार स्वच्छ होने चाहिए। घर की सारी चीजें कायदे से रखी होनी चाहिए। घर के लोगों को एक दूसरे के साथ कोमल तथा धीमी आवाज में बोलना चाहिए। सुबह उठकर बड़ों का नमस्कार, छोटों को प्यार तथा परस्पर स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। मांस, अण्डा, मछली, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि का सर्वथा त्याग होना चाहिए। परिवार के शुद्ध, सात्त्विक आचार-व्यवहार होने चाहिए। बच्चों की संख्या एक-दो काफी है।

बच्चों के पांच वर्ष की उम्र तक प्यार, उसके बाद उन पर कड़ी दृष्टि। कड़ी दृष्टि का मतलब गाली-मार कदापि नहीं। बस, उन पर यह निगरानी रखी जाये कि वे कोई गलत काम न करें। जब वे सोलह वर्ष के हो जायें, तब उनसे भाईचारे का व्यवहार करें। जवान लड़कों को सभी कोई सीख देनी हो तो एकांत में, अकेले में प्यार एवं सहारे में दो। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू आदि सबका पारस्परिक व्यवहार मधुर होना चाहिए। इसके

लिए निम्न सात सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए—

1. अपने कर्तव्यों का पालन तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा।

2. स्वयं सहना परंतु दूसरों को सहाने की चेष्टा न करना।

3. स्वयं दूसरों की उचित बातें मान लेना परंतु अपनी बातें दूसरों को बलात मनवाने का प्रयास न करना।

4. स्वयं अपनी इच्छाओं पर संयम करना और यथासंभव दूसरे की उचित इच्छाओं को पूर्ण होने देना।

5. प्यार के एवं मीठे वचन बोलना।

6. सबसे कोमल व्यवहार करना।

7. मन में सबके प्रति स्नेह का भाव रखना।

हम परिवार तथा समाज के जिन व्यक्तियों की कुण्डली में बैठे हैं, उसमें शुद्ध स्नेह एवं प्रेम का व्यवहार रहने से ही जीवन में स्वर्ग उतर सकता है। यदि साथ रहने वाले लोग आपस में मधुरता के व्यवहारपूर्वक नहीं रह सकते तो उनका जीवन सुखी नहीं हो सकता। कितने घरों के लोग जब शाम को इकट्ठे होते हैं, तब वे एक-दूसरे से खुलकर बातें नहीं करते, अपने-अपने काम का लेखा-जोखा दूसरों को नहीं देते, कल क्या करना है, इस पर सर्वसंमति से विचार नहीं करते। घर में कोई पूजा, पाठ, कथा, कीर्तन, सत्संग आदि का काम नहीं करते; भाई, पिता, पुत्र आदि के साथ बैठकर भोजन करने तक की उदारता नहीं कर पाते; ऐसे घरों में नरक निवास करता है। ऐसे घर बहुत जल्दी नष्ट होते हैं। यादव-वंश का विनाश इसी तरह हुआ था। श्रीकृष्ण महाराज ने अपने बुढ़ापे में नारद जी के पास जाकर उनसे परिवार में समता रखने के उपाय पूछे थे। उन्होंने नारद से कहा था कि जो समझदार न हो, समझदार होकर भी मित्र न हो और मित्र होकर भी अपना मन वश में न रख पाता हो उससे अपनी गुप्त बातें न कहे। आप समझदार, मित्र तथा स्ववश मन वाले हैं, इससे मैं अपनी गुप्त बातें आपसे कहता हूं।

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"मैं अपनी प्रभुता दिखाकर परिवार वालों को दास नहीं बनाना चाहता। मैं प्राप्त भोग भी आधा परिवार के लिए छोड़ देता हूं। नारद! जैसे कोई अरणीकाष्ठ मथन करके आग पैदा करे, वैसे मेरे कुटुम्बियों के कटु वचन मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। बड़े भाई बलराम बल-मद में चूर हैं, छोटे भाई गद बहुत सुकुमार बनते हैं और कुछ नहीं करना चाहते, रहा बड़ा लड़का प्रद्युम्न, वह अपने शारीरिक रूप-सौंदर्य में मस्त है। इस प्रकार मैं असहाय हूं। मेरे परिवार में बड़े-बड़े बलशाली हैं, परन्तु आहुक और अक्रूर ने आपस में वैमनस्य करके मेरा रास्ता रोक दिया है। मैं उनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। वे दोनों योग्य और मेरे

प्रिय हैं। परन्तु मेरी बातें मानकर वे आपस में प्रेम नहीं करते। जैसे किसी माता के दो पुत्र हों। दोनों परस्पर जुआ खेलते हों, तो माता एक की तो जीत चाहे, और दूसरे की हार न चाहे, यही मेरी उन दोनों के लिए दशा है। मैं परिवार वालों के पारस्परिक वैमनस्य से बहुत पीड़ित हूं। इसके समाधान का आप उपाय बतावें।"

नारद ने कहा—महाराज कृष्ण ! विपत्ति दो प्रकार की होती है। एक बाहर से आ जाती है तथा दूसरी अपने भीतर पैदा होती है। आपके ऊपर आयी विपत्ति आपकी ही बनायी है। आपने अपने वंशजों को लड़ना सिखाया। वे जीवनभर लड़ाइयां करते रहे। अब बाहरी लड़ाइयां समाप्त हो गयीं हैं, तो वे कहां लड़ें ! लड़ाई की आदत होने से अब आपस में लड़ रहे हैं। देखिए, मैं सुलझाने की युक्ति बताता हूं। प्रयोग करके देखें। पहली बात, परिवार वालों से कष्ट पाकर भी उनसे मीठे वचन बोलें। दूसरी बात, उन्हें उपभोग की वस्तुएं निष्पक्षतापूर्वक एवं उदारता से देते रहें। अर्थात धन का उचित बटवारा करते रहें। और तीसरी बात, साथियों का मन देखकर उनसे काम लें। जिसने अपने मन को वश में नहीं किया है, जो गम्भीर, सहनशील एवं विशाल हृदय का नहीं है, वह परिवार एवं समाज को नहीं चला सकता। समतल भूमि में कमजोर बैल भी बोझा ढो लेते हैं, परन्तु ऊंची-नीची भूमि में बलवान बैल ही बोझा ढो सकते हैं। "हे केशव ! आप इस यादवकुल के मुखिया हैं। यदि इस कुल में फूट पड़ जायेगी तो पूरे संघ का विनाश हो जायेगा। आप इस प्रकार व्यवहार करें कि आपके रहते हुए इस यादव-गणतंत्र-राज्य का विनाश न हो।"[1]

जिनके घर के सदस्य शाम को जब इकट्ठे होते हैं, तब एक-दूसरे से हंस-हंसकर बातें करते हैं, सब अपने-अपने काम का एक-दूसरे को लेखाजोखा देते हैं, कल क्या करना है इस पर विचार कर लेते हैं, सब सदस्य एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, भोजन के पहले या पीछे सत्संग, कथा-वार्ता आदि कोई सामूहिक धार्मिक कृत्य करते हैं, उनके घर में स्वर्ग का निवास रहता है। जिस परिवार या समाज में सब काम आपस में मिल-बैठकर विचारकर करते हैं, वह परिवार या समाज दीर्घजीवी तथा सुखी होता है। और कुछ कर पावे या नहीं, परन्तु जिस परिवार में चौबीस घंटे में सब लोग एक बार हंस-बोल लेते हैं, वह परिवार सुलझा होता है। घर के परिवार में दिन में एक बार तो हंसी का कहकहा मच ही जाना चाहिए।

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी कमाई का एक हिस्सा दान करे। दान

---

1. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा करु॥ (महाभारत, शांति पर्व, अध्याय 81, श्लोक 25)

के पात्र सार्वजनिक कल्याण की संस्थाएं हैं, लोकमंगल में विचरने वाले निर्मल सन्त हैं तथा असहाय लोग हैं। हर गृहस्थ को अपने जीवन में किसी सच्चे आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना चाहिए और उनके द्वारा अपने जीवन में दिशानिर्देश लेना चाहिए। सन्तों की सेवा तथा उनके सत्संग में लगकर बोध प्राप्त करना चाहिए। सत्संग इंजन है तथा गृहस्थ डिब्बे हैं। यदि गृहस्थ सत्संग में लगे रहेंगे तो वे अवश्य अपने गंतव्य को पहुंचेंगे। उन्हें सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहना चाहिए, जिससे उनकी सद्बुद्धि बनी रहे।

इस प्रकार जो व्यक्ति सदाचार से चलते हुए गृहस्थी मर्यादा का पालन करता है, वह मानव है।

"बेहद चले सो साध" जिसे गृहस्थी से वैराग्य हो जाता है और जो उससे विरक्त होकर किसी साधु-समाज में दीक्षित हो साधना करता है, वह साधु है। किसी को अधकचरे में घर नहीं छोड़ना चाहिए। पक्का वैराग्य तथा त्याग की सच्ची समझ होने पर घर का त्याग करना चाहिए। घर को छोड़कर किसी सच्चे वैराग्यवान संत की शरण में जाकर उनकी सेवा, सत्संग तथा स्वाध्याय करते हुए साधना से रहना चाहिए। दीर्घकाल तक साधु का वेष न लेकर सेवकभाव से रहकर गुरु के पास सेवा-साधना में बिताने पर वैराग्य की परिपक्वता हो जाती है। विरक्त हो जाने पर पूर्वाश्रम घर-परिवार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उसे व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष संग्रह नहीं करना चाहिए। उसे स्त्री का पूर्ण त्यागी होना चाहिए। शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सत्संग में निवास करना चाहिए। उसे झाड़-फूंक, फलित ज्योतिष का पाखंड तथा और किसी प्रकार के निरर्थक लोकरंजन के काम नहीं करना चाहिए। साधु जिस सम्प्रदाय में रहे, उसके नियमों का पालन करते हुए उसे पूर्ण विरक्तिभाव में स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थीरूपी हद से निकलकर विरक्त हुआ त्यागी बेहद चलने वाला है और वही साधु है।

"हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध" यह तीसरी श्रेणी का पुरुष सर्वोच्च होता है। जिसने गृहस्थी का त्याग किया और साधुदशा के सम्प्रदाय विशेष एवं वेषमर्यादा के अहंकार का भी त्याग करके शुद्ध स्वरूपस्थिति दशा में ठहर गया, उसका मत अगाध है। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है। वह तीनों से परे ज्ञानमात्र है। स्वरूपस्थिति की दो दशाएं हैं; एक व्यवहारकाल की तथा दूसरी समाधिकाल की। परम स्थिति में पहुंचा संत व्यवहारकाल में राग-द्वेष और शोक-मोह से मुक्त होता है तथा समाधिकाल में सारे संकल्पों से रहित होता है। वह भौतिक धरातल से उठा हुआ सदैव स्वरूप में ही निमग्न रहता है। वह गृहस्थी से तो मुक्त होता ही है, विरक्ति की सांप्रदायिक संकुचितताओं से भी मुक्त होता है। भले ही उसका शरीर

किसी सम्प्रदाय विशेष में हो तथा वह किसी सम्प्रदाय के वेष से संयुक्त हो, परन्तु उसकी अन्तरात्मा सारी सांप्रदायिकताओं से परे होती है। इसलिए वह हद तथा बेहद—दोनों से परे होता है। उसके लिए ही सद्गुरु ने कहा है—

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय॥ बीजक, साखी 167॥

बोधवान तथा स्वरूपस्थ पुरुष मतवाद एवं सांप्रदायिकता में नहीं पड़ता। क्योंकि "ताकर मता अगाध" होता है। जो स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति की अगाध-दशा में पहुंचा हुआ है, उसके लिए मतवाद का कोई मूल्य नहीं है। तब तक तो मतवाद छिलके की तरह उतर जाता है। स्वरूपस्थिति तक पहुंचे हुए संतों की दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार अवश्य भिन्न होते हैं, परन्तु उनकी दशा एक होती है। इसी क्रम में सद्गुरु अगली साखी कहते हैं।

सभी ज्ञानियों की एक स्थिति

समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर॥
कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और॥ 190॥

शब्दार्थ—गति=चाल, आचरण, हरकत, पहुंच, सीमा, दशा, स्थिति, ज्ञान, मोक्ष। ठौर=स्थिति। बीच के=अधकचरे, अधूरे। बलकहिं=उबलते हैं, खौलते हैं, उमगते हैं, बक-बक करते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने जड़-चेतन की समस्त स्थितियों, गुण-धर्मों एवं जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप को समझ लिया है और समझकर चिर विश्राम पा लिया है, उन सब ज्ञानियों के एक ज्ञान, एक आचरण, एक स्थिति एवं एक समान मोक्षावस्था होती है। सद्गुरु कहते हैं कि अधकचरे-अधूरे लोग ही अन्य-का-अन्य बकते हैं॥ 190॥

व्याख्या—"समुझे की गति एक है" बहुत वजनदार वचन है। व्यावहारिक क्षेत्र में भी सभी समझदारों की दशा एक होती है। समझदार लोग किसी बात को लेकर आपस में लड़ते नहीं। वे विचारों की भिन्नता होते हुए भी आपस में निर्विरोध बरताव करते हैं। वे आपस के विरोधी विचारों को अनदेखा कर जिन सिद्धांतों में सबके विचार मिलते हैं, उनको लेकर समन्वयात्मक व्यवहार बरतते हैं। यही सुख का रास्ता भी है। समझदार आदमी जब किसी अन्य से मिलता है, तब वह बात का आरम्भ उन विचारों से नहीं करता जहां मत नहीं मिलते हैं, किन्तु वहां से शुरू करता है जहां से दोनों के मत मिलते हैं। वह अपरिचित विचारों वाले लोगों के सामने सारा सत्य खोलकर कहने की उत्सुकता नहीं प्रकट करता। सब जगह सारे सत्य

एक साथ नहीं कहे जा सकते। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह अपने उद्देश्य में असफल होगा। व्यक्ति को स्वयं सोचना चाहिए कि उसके विषय में यदि कोई सारा सत्य कह दे, तो शायद वह नहीं सह पायेगा, तो दूसरे के प्रति वह असमय में बहुत खरा क्यों बनना चाहता है !

मिलने-जुलने वालों में परस्पर प्रेम-व्यवहार बना रहे यह व्यक्ति और समाज के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। परस्पर प्रेम व्यवहार बने रहने पर वे एक दूसरे के भी विचार सुनने की उदारता कर सकते हैं। परस्पर के प्रेम-व्यवहार से ही आदमी एक दूसरे के निकट आते हैं और निकट आने पर एक दूसरे के विचारों को समझते हैं। यदि अपने निर्धारित सत्य के जोश में दूसरों के संस्कारों के विरुद्ध खरा-खोटा कह दिया गया, तो हमारे विचारों के प्रति उनकी सहानुभूति समाप्त हो जायेगी। फिर तो वे हमारे परम सत्यों को समझकर भी नहीं समझना चाहेंगे। ऐसे उत्तम जिज्ञासु संसार में बहुत कम हैं जो केवल खरी बातें सुनकर उनको स्वीकार कर लें। संसार के लोग नाना संस्कारों में जकड़े हैं, उन्हें प्रेम व्यवहार एवं सहारे से ही सत्य मार्ग में लाया जा सकता है। अंततः तो सत्य खरा रूप में कहना ही पड़ेगा। उसके बिना सत्य का बोध नहीं हो सकता। परन्तु देश, काल, समाज आदि देखकर ही कुछ कहना चाहिए जिससे कथन सार्थक हो। इन सबका मतलब यह है कि समझदार आदमी परस्पर के व्यवहार में तथा किसी को अपने विचार देने के सम्बन्ध में भी नहीं उलझता।

"समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर" इस पंक्ति का भाव ज्यादा गहरे में है। जिन्होंने सब ठौर को समझ लिया है उन समझदारों की दशा एक होती है। जड़ और चेतन का भेद, उनके गुण एवं लक्षण, जगत की स्थिति, स्वरूप का तथ्य, स्वरूपस्थिति की रहनी तथा उसकी दशा—इन सारी बातों को जो समझकर यथावत ग्रहण और त्याग करता है और अपनी रहनी में रहता है, ऐसे सभी ज्ञानियों की दशा एक होती है। जो समझने योग्य को समझ लेता है उसकी बुद्धि निर्भ्रांत हो जाती है, और जो करने योग्य को कर लेता है उसका मन शांत हो जाता है। अतः निर्भ्रांत बुद्धि और शांत मन वालों की दशा एक होती है।

"सब ठौर" समझना क्या है? क्या यहां संसार की हर कला के ज्ञान की बात कही जा रही है? संसार की हर कला का ज्ञान एक ही व्यक्ति को हो पाना असंभव है। हम जीवनभर अपने शरीर के रोयें की संख्या से ही अनभिज्ञ रहते हैं। यहां हर ठौर से मतलब है जिससे हमारा मन बौद्धिक और मानसिक उलझनों से मुक्त होकर प्रशांत हो सके उसे समझ लेना। अच्छी समझ जीवन का सर्वस्व है। सारे विषयों से निवृत्त होकर अपने आप में

स्थित होना यही सबसे बड़ी समझ है। निष्काम हुए बिना कोई स्वरूपस्थ नहीं हो सकता और निष्काम पुरुषों में विवाद होने की बात ही नहीं उठ सकती। संसार के जितने मनुष्य विषयों से निवृत्त होकर आत्माराम हो जाते हैं, उन सबकी दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार में भिन्नता हो सकती है, परन्तु उनकी मानसिक दशा में कोई अन्तर नहीं हो सकता। सभी निष्काम लोग समान प्रशांत होते हैं, जो प्रशांत होते हैं वे विवाद-रहित होते हैं।

"कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और"। सद्गुरु कहते हैं, ये जो बीच के लोग हैं, जो रास्ते में हैं, अभी मंजिल में नहीं पहुंचे हैं, वे और-का-और बकते हैं। वे ही बटलोई के अदहन की तरह उबलते हैं। वे ही अपनी श्रेष्ठता जाहिर करते हुए दूसरों को तुच्छ कहते हैं। "अधजल गगरी छलकत जाय" या "कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै" अधूरा आदमी ही अन्यथा बात करता है। जिसने सब ठौर समझकर जीवन में विश्राम पाया है वह निर्विवाद होता है और ऐसे जितने लोग हैं सबकी दशा एक समान दिव्य होती है।

रास्ते हैं, चलने वाले चाहिए

राह बिचारी क्या करे, जो पन्थि न चले बिचार॥
आपन मारग छोड़ि के, फिरे उजार उजार॥ 191॥

शब्दार्थ—बिचारी=बेचारी। उजार=ध्वस्त, उजड़ा हुआ, वीरान, जनशून्य, जंगल, कांटा-खाईं, कुपंथ।

भावार्थ—बेचारी अच्छी राह क्या करे, जब पथिक विचारपूर्वक उस पर नहीं चलता और अपना रास्ता छोड़कर वीरान में भटकता है॥ 191॥

व्याख्या—महापुरुषों ने स्वयं आचरण एवं रहनी में चलकर, मुख से सन्मार्ग बताकर तथा निर्णय के वचन ग्रन्थों में लिखकर जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया है, अब यह जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह स्वयं विचारपूर्वक उस पर चले। यदि वह उस पर नहीं चलता है तो पथ का क्या दोष है!

अच्छा रास्ता सामने है, कोई उसे त्यागकर कांटा-खाईं में कूद-कूदकर चलता है तो उसको रास्ते पर लाने का क्या उपाय है! जो संतों के शुभाचारों, ज्ञान एवं विवेकपूर्ण वचनों का आदरकर उनके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाता है उसे कोई कैसे सुधार पायेगा!

मृत्यु जीवन का परम सत्य है

मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल॥
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल॥ 192॥

शब्दार्थ—सहिदानी=चिह्न, पहचान, निशान। बोल=वाणी, चर्चा।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बजता है। संसार के लोग सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के मोही बने हैं। एक दिन यह सपना टूट जाता है। मर जाने के बाद लोगों में उसकी चर्चा ही कुछ दिनों तक पहचान रह जाती है॥ 192॥

व्याख्या—मृत्यु जीवन का परम सत्य है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। परन्तु खेद है कि मनुष्य इसको झुठलाने में जीवनभर लगा रहता है। लोग मृत्यु को याद नहीं रखना चाहते। यदि कोई उसकी याद कराना चाहे तो नाखुश हो जाते हैं। किसी पुत्र-जन्म, विवाह आदि के अवसर पर यदि कोई किसी की मृत्यु का नाम ले ले, तो देखोगे कि लोग डपट लेंगे 'चुप भी रहो भले आदमी ! ऐसे मंगल के अवसर पर मुख से अशुभ क्या निकालते हो !' मालूम होता है कि जन्म और विवाह ही केवल शुभ एवं मंगल हैं और मृत्यु अमंगल ! परन्तु ध्यान रखो कि किसी के जन्म और विवाह की गहमागहमी में तो हम माया-मोह में भूल जाते हैं और किसी की मृत्यु की चर्चा या मृत्यु की याद में हमारा मन संसार से हटकर शांत होता है और सत्यता के धरातल पर पहुंचता है। किन्तु आदमी तो माया-मोह में ऐसा व्यामोहित है कि वह हर समय अपने आप को छलता है। लोग दुकान बन्द नहीं करते, दीपक नहीं बुझाते, किन्तु दुकान एवं दीपक को बढ़ाते हैं। जब उन्हें दुकान बन्द करना होता और दीपक बुझाना होता है तब वे अपने साथी एवं नौकर से कहते हैं कि दुकान बढ़ा दो तथा दीपक बढ़ा दो। शुतुरमुर्ग एक ऊंचा जानवर होता है। कहा जाता है कि जब सिंह उसके ऊपर हमला करता है तब वह अपने मुख को बालू या कचड़े में गाड़ देता है और आंखें बंद कर लेता है। वह समझता होगा कि मैं जब सिंह को नहीं देखूंगा तो वह भी मुझे नहीं देखेगा। यही दशा व्यामोहित मनुष्य की है। वह सोचता है कि यदि मैं मौत की याद नहीं करूंगा तो वह मुझे भी भूली रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि हम चाहे मौत को याद रखें या न रखें, वह हमारे सोते-जागते चौबीसों घंटे प्रति पल हमारी ओर निरन्तर आ रही है। उसका आना कोई रोक नहीं सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक चाहे जितने बड़े नाम लिये जायें उसे कोई नहीं रोक पाया है। उसने सबके शरीर को छीन लिया है।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं और हे विमेहित मानव ! तुम भी मर जाओगे। सटीक उदाहरण देने में कुशल कबीर देव कहते हैं कि मुये चाम का ही ढोल बजता है। जिन्दा चाम का ढोल बन ही नहीं सकता। जब पशु मर जाता है, तब उसके चाम को निकालकर ढोल मढ़ा जाता है। इस प्रकार मुये चाम का ही ढोल बजता है। इसी प्रकार

जब आदमी मर जाता है तब उसके बाद कुछ लोग उसकी कुछ दिनों तक चर्चा करते हैं। उसकी अच्छाइयों को लेकर उसकी अच्छी चर्चा चलती है, तथा बुराइयों को लेकर बुरी चर्चा होती है। मनुष्य के मर जाने के बाद कुछ दिनों तक उसकी सहिदानी, उसकी पहचान केवल उसके विषय में चर्चा है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के जीने या मरने की चिन्ता न कर यह चिन्ता करे कि हमसे बुरे कर्म न हों। हमारे बुरे कर्म हमें तुरन्त दुख देने लगते हैं और उसको लेकर हमारे जीवित काल में तथा मरने के बाद भी हमारे लिए बुरी चर्चा होती है। वस्तुतः जीवित रहकर भी वही मरा है जिसके लिए सर्वत्र बुरी चर्चा है और मरकर भी मानो वही जीवित है जिसके विषय में सर्वत्र अच्छी चर्चा है।

"सपन सनेही जग भया" संसार के लोग सपने के प्रेमी बने हैं। सपने में मोहक प्राणी और पदार्थ मिलते हैं, बहुत सारी अनुकूलताएं मिलती हैं। उनमें उस समय मोह भी होता है; परन्तु नींद टूटते ही सपना समाप्त हो जाता है। स्वप्न की बुरी घटनाएं भी जागने पर नहीं रह जाती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव ! तू मृत्यु का शिकार है। तू इन सपने के प्राणी-पदार्थों के मोह में पड़कर बुरे कर्म मत कर ! तू किसका गर्व करता है ! पहले के लोग मर चुके हैं। तू भी मर जायेगा। यहां क्या स्थायी है ! यहां से सबको एक दिन जाना है। जाने के बाद थोड़े दिनों तक लोग तुम्हारी चर्चा करेंगे। उसके बाद भूल जायेंगे। इसलिए इस सपने से जागकर हमें स्वरूपस्थिति करना चाहिए।

मूवा है मरि जाहुगे, बिन शिर थोथी भाल ॥
परेहु करायल बृक्ष तर, आज मरहु की काल ॥ 193 ॥

शब्दार्थ—शिर=सिर, खोपड़ी, किसी वस्तु का अग्र-भाग, यहां अर्थ है भाला की नोंक एवं धार। थोथी भाल=भोथरा भाला, धाररहित भाला। करायल वृक्ष=करील का पेड़ जो बिना पत्ते के केवल कांटों का झाड़ीदार होता है, तात्पर्य में नाशवान संसार।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी अविवेकरूपी बिना धार के भोथरे भाले के प्रहारों से एक दिन मर जाओगे। क्षणभंगुर संसार रूपी बिना पत्ते एवं बिना छाया के कंटीले झाड़ीदार करील पेड़ के नीचे पड़े हो, आज मरो या काल ॥ 193 ॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पैनी वैराग्य दृष्टि और कहने का तीखे उदाहरण-सहित अद्भुत विदग्धात्मक तरीका हृदय को झकझोर देते हैं। साहेब कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं, तुम्हें भी मर जाना है। बिना धार एवं भोथरे भाले से मार-मारकर यदि किसी की हत्या की जाये तो

उसको बड़ी पीड़ा होगी और देरी में मर सकेगा। तेज धार के हथियार से मारने पर आदमी जल्दी मर जाता है, परन्तु भोथरे हथियार से मारने पर बड़े दुखपूर्वक देर में मरता है। जो अविवेक एवं मोह से ग्रसित है, उसका मरना मानो भोथरे हथियार से होता है। जो व्यक्ति जीवनभर राग-द्वेष, शोक-मोह, चिंता-विकलता आदि में पिस-पिसकर मरता है वह मानो भोथरे हथियार से मारा जाकर मरता है। जीवन की सफलता सदैव मन का प्रसन्न रहना है। दुखी रहना या प्रसन्न रहना यह ज्यादा भौतिक स्थितियों पर निर्भर नहीं करता, किन्तु अविवेक तथा विवेक पर निर्भर रहता है। इसलिए जब मनुष्य का पूर्ण विवेक उदय हो जाता है तब वह कृतार्थ हो जाता है और हर समय प्रसन्न रहता है। परन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती, चाहे आदमी कितना धनी एवं सब चीजों से संपन्न हो, दुखी रहता है। संसार के अधिकतम लोग दुखी ही दिखते हैं। कोई बिरला है जो विवेकसंपन्न है और सुखी है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव ! तू माया के मोह में आसक्त होकर निरन्तर पीड़ित है और इस संसार में विषय-इच्छा एवं चिन्ता-शोक में तिल-तिलकर पीड़ित होता है, और इसी रफ्तार में तेरा अन्त आ जाता है।

करील के पेड़ में पत्ते नहीं होते। वह कांटायुक्त एवं झाड़ीदार होता है। उसमें न छाया होती है न फल। यह क्षणभंगुर संसार इसी प्रकार है। इसमें न जीव को शीतलता मिलती है न इसमें कोई उत्तम फल है। भौतिक पदार्थों के रागी आदमी को जीवनभर परिवर्तनशीलता एवं क्षणभंगुरता का अनुभव करते हुए अन्त में यहां से चला जाना पड़ता है। भौतिक उपलब्धियों का अन्ततः कोई फल नहीं होता। सब कुछ जहां-का-तहां रह जाता है, जीव अकेला चला जाता है। व्यामोहित मनुष्य को धन, भवन, स्त्री, पति, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख प्राप्ति की बड़ी लम्बी आशा रहती है, परन्तु उसके जीवन के दिन जितने बीतते हैं उसे सबकी असारता का अनुभव होता जाता है। भौतिकता के रागियों को अंततः इस संसार से केवल निराशा ही हाथ लगती है। वह निराशा ही में मरकर चला जाता है। जीवन में शांति तब मिलती है जब समस्त भौतिक पदार्थों से अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो।

हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं

बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय॥
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय॥ 194॥

शब्दार्थ—बोली=बातें, निर्णय। पूर्व की=ज्ञान दिशा की, ज्ञानपरक। धुर=ध्रुव, दृढ़, पक्का, निश्चय।

भावार्थ—हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं, हमारी बातें वे लोग ठीक से नहीं समझ सकते जो केवल कर्म-उपासनादि में डूबे हैं। हमारे निर्णय तो सम्यक वही समझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञानपरक बुद्धि वाला है॥ 194॥

व्याख्या—बच्चों को पहली कक्षा में ही पढ़ाया जाता है कि बच्चो ! जब सूरज उगे तब तुम उसके सामने मुख करके खड़े हो जाओ, और अपने दोनों हाथों को दोनों ओर फैला लो। अब यह समझो कि तुम्हारे मुख के सामने जिधर सूरज उगा है वह पूर्व दिशा है, पीठ की तरफ पश्चिम, दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण तथा बायें हाथ की तरफ उत्तर दिशा है। अतएव जिधर सूरज उगता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व का लाक्षणिक अर्थ है ज्ञान। "बोली हमारी पूर्व की" कहकर सद्गुरु हमें यह बताते हैं कि हमारी बातें ज्ञानपरक हैं। जो लोग भावुकतापूर्वक अनेक काल्पनिक देवी-देवतादि की भक्ति-भावना में एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों में डूबे हैं, उन्हें मेरी सारी बातें समझ में आना बड़ी कठिन बात है। भावुक तथा मोटी बुद्धि वाले लोग ज्ञान की धारदार बातें पहले तो सहन हीं नहीं कर पाते, समझना और दूर की बात है।

सद्गुरु कहते हैं कि हमें वही समझ सकता है, अर्थात हमारे निर्णयों को वही बूझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञान दिशा वाला हो। जिसकी बुद्धि केवल कहीं भावुक होकर बंधी नहीं है, किन्तु निष्पक्ष, उदार एवं निर्णयवती है, वही कबीर साहेब की बातों को समझ सकता है। कबीर किसी तथाकथित ईश्वर, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर, ईश्वर की किताब, ईश्वरीय संप्रदाय एवं देवी-देवताओं में बंधे नहीं थे। वे मानसिक गुलामी करना जानते ही नहीं थे। वे श्रद्धा-भक्ति के नाम पर आंख मूंदकर चलना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति के नाम पर चलाये गये समस्त अंधविश्वासों एवं अंधरूढ़ियों को झकझोरकर उखाड़ दिया है। वे सत्यज्ञान में निष्ठा रखने को ही श्रद्धा समझते थे। श्रद्धा है भी सत्य को धारण करना। बिना समझे-बूझे आंख मूंदकर बिना सिर-पैर की बातों में मोह कर लेना अंधश्रद्धा है। कबीर साहेब इसके घोर विरोधी हैं। वे केवल सत्य के मोती के व्यापारी हैं। इसलिए कंकड़ और ठीकरे को ही पहचानने वाले लोग कबीर के मोती को कैसे पहचान सकते हैं ! उनके हीरे-मोती पारखी ही परखेंगे जो निश्चयपूर्वक, ज्ञानपूर्वक बुद्धि रखते हैं। किसी जड़-संस्कार में बंधकर कबीर की बात समझ पाना बड़ा मुश्किल है। उनकी बातें समझने के लिए उन जैसा खुला दिल होना चाहिए।

इस साखी का अनेक विद्वान स्थूल अर्थ करते हैं। उनके ख्याल से कबीर कहते हैं कि हमारी बोली पूर्व की अर्थात बनारस की है। हमारी बातें दूसरे लोग नहीं समझ सकते, केवल वे ही समझ सकते हैं जो निश्चयपूर्वक बनारस

के आस-पास के होंगे।

उक्त अर्थ बहुत छिछला है। संत की वाणी सार्वभौमिक होती है और कबीर जैसे सार्वभौमिक चिंतक की वाणी स्वाभाविक ही सार्वभौमिक है। "देश विदेशे हौं फिरा" कहने वाले कबीर अपनी बातों का अधिकारी केवल बनारस के आस-पास वालों को ही मान लें यह कैसे हो सकता है ! प्रत्यक्ष ही उनकी वाणी आज पूरा भारत समझ रहा है और पूरा विश्व समझने का प्रयत्न कर रहा है। अतएव यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। फिर बनारस पूर्व कैसे है ! राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली आदि के ख्याल से बनारस पूर्व है, परन्तु बिहार, बंगाल आदि के ख्याल से तो पश्चिम है, नेपाल से दक्षिण तथा मध्य प्रदेश, मद्रास आदि से उत्तर है। दिशाएं देशसापेक्ष होती हैं। दिशाएं अपने आप में स्वतंत्र नहीं हैं। इसलिए बनारस का अर्थ पूर्व होगा तो सापेक्ष ही। फिर बनारस पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भी होगा। अतएव ज्ञान ही पूर्व है। ज्ञानपरक बुद्धि वाले ही कबीर साहेब की वाणी को पूर्णतया समझ सकते हैं। यही उपयुक्त अर्थ है।

संसार का घमण्ड बेकार है

जाके चलते रौंदे परा, धरती होय बेहाल ॥
सो सावत घामें जरे, पण्डित करहु विचार॥ 195॥

शब्दार्थ—रौंदे परा=मर्दन हो गया, रगड़ गया। सावत=सामंत, पड़ोसी, मांडलिक, राजा, बड़ा जमींदार, नायक, योद्धा।

भावार्थ—हे पंडितो ! विचार करो, जिनके चलने के कारण पद-मर्दन से जमीन रगड़ जाती थी और धरती के जीव परेशान हो जाते थे, वे राजे-महाराजे एवं योद्धागण युद्धस्थल में अधमरे पड़े धूप में जलते हैं॥ 195॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने समय में जमींदारों, छोटे तथा बड़े राजों-महाराजों, मांडलिकों, योद्धाओं आदि को देखा था जो दूसरों को लूटते थे, मारते थे, काटते थे और थोड़ी-थोड़ी बातों में युद्ध ठान देते थे। जो बड़े डाकू हो जाते थे, वे ही महाराजाधिराज हो जाते थे। वे ईश्वर बनकर जनता से पुजवाते थे। ये सब अपने फौज-फक्कड़ के सहित जिधर चलते थे उधर की जमीन रौंद जाती थी, फसलें रगड़ जाती थीं, बिना रास्ते के रास्ते बन जाते थे और उस भूखंड के सारे जीव उनके आतंक से परेशान हो जाते थे। इन रजवाड़ों एवं लड़ाकुओं के आतंक से जनता सदैव आतंकित रहती थी। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे राजाओं और लड़ाकुओं की भी अन्तिम दशा क्या होती थी यह जगजाहिर है। ये रात-दिन दूसरों को मारने वाले स्वयं युद्ध में मारे जाते थे, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो अधमरे पड़े धूप में जलते थे, और इन्हें जल्दी कोई पानी देने वाला नहीं मिलता था।

राज्य की तृष्णा में पड़े हुए अहंकारी एवं क्रूर रजवाड़ों की यही दशा होती थी। अपने अहंकार का निरन्तर पोषण करने वाले इन स्वार्थी और घमण्डी राजाओं का पूरा जीवन दुख में बीतते हुए अन्त घोर दुख और निराशा में जाता था। बहुत कुछ अच्छे आदर्श रखने वाले राम, कृष्ण, पांडवों तथा कौरवों के जीवन भी विशेषत: युद्ध में बीतते हुए अन्त में घोर निराशा, आत्महत्या एवं युद्ध में ही समाप्त हुए। फिर हिटलर, मुसोलिनि आदि की दशा ही खतरनाक है। जीवनभर गौवों और हिन्दुओं को सताने वाला औरंगजेब लगभग अपने पैंसठ से नब्बे वर्ष की उम्र तक दिल्ली से दूर महाराष्ट्र के पर्वतीय क्षेत्रों में तम्बू में रहता था तथा घोड़े पर बैठकर युद्ध के लिए भटकता हुआ दुख में अपने जीवन का अन्त किया। मरते समय उसने कहा—"जिंदगी तो बेशकीमती थी, लेकिन वह बेकार चली गयी।" अविवेकपूर्ण स्वार्थ, भोगपरायणता, घमण्ड, सबको अपने वश में करके सब पर शासन करने की लालसा आदि प्रवृत्ति रखने वाले लोगों का जीवन अशांत होता ही है और अंत में भयंकर पतन होता है।

पायन पुहुमी नापते, दरिया करते फाल॥
हाथन पर्वत तौलते, तेहि धरि खायो काल॥ 196॥

शब्दार्थ—पुहुमी=पृथ्वी। दरिया=नदी, समुद्र। फाल=डग (एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर रखना), फलांग, छलांग, एक बार में ही कूद जाना। धरि=पकड़कर। काल=मृत्यु।

भावार्थ—जो अपने पैरों से पूरी पृथ्वी नाप लेते थे, समुद्र को एक ही छलांग में कूद जाते थे और अपने हाथों से पर्वत उठा लेते थे, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा॥ 196॥

व्याख्या—"पायन पुहुमी नापते" का अर्थ है कि जो लोग पृथ्वी की एक ओर से दूसरी ओर तक यात्रा करते थे, पूरी पृथ्वी को अपने वश में करने के लिए उसमें हमले करते रहते थे जैसे सिकन्दर, चंगेजखां आदि और जो लोग 'दरिया करते फाल" समुद्र की बड़ी-बड़ी यात्राएं करते रहते थे जैसे अगस्त्य, कोलम्बस, वास्कोडिगामा आदि और "हाथन पर्वत तौलते" अर्थात बड़-बड़े काम करते रहते थे, जैसे मिश्र के पिरामिड, चीन की दीवार आदि का निर्माण, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा।

पुराणों के अनुसार माना जाता है कि वामन[1] ने अपने तीन डग से पूरी

---

1. ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाइसवें सूक्त के 16, 17 और 18वां मन्त्र इस विषय में हैं। इनमें सत्रहवां मन्त्र है "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूहडमस्य पांसुरे (ऋग्वेद 1/22/17) इसके अनुवाद में प्रसिद्ध वेद-विद्वान श्री रामगोविंद त्रिवेदी ने लिखा है—"विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुत पैर से जगत छिप-सा

पृथ्वी को नापकर राजा बलि को छल लिया था और पूरी पृथ्वी को अपने वश में कर लिया था, रामायण के अनुसार हनुमान जी सौ योजन समुद्र एक ही छलांग में कूद गये थे और रावण ने अपने हाथों से कैलाश पर्वत को, हनुमान ने हिमालय के खंड पर्वत को बूटी लाने के लिए और श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को हाथों पर उठा लिया था, परन्तु ये सब भी कालबली से न बचे। लोग वामन को भगवान, हनुमान को देवता तथा कृष्ण को परब्रह्म मानकर उनका सब समय रहना मानते हैं कि वे जब चाहें तब सबके बीच आ सकते हैं, जो चाहें कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। कबीर साहेब मिथ्या महिमा के विरोधी एवं तथ्य के द्रष्टा हैं; अतः वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि ये सब समय मौजूद हैं तथा जब चाहें आ सकते हैं तथा जो चाहें कर सकते हैं। वस्तुतः ये सब अन्य मनुष्य की तरह ही अपने-अपने समय में मर चुके हैं।

यह भी अतिशयोक्ति है कि वामन ने पूरी पृथ्वी को तीन डग से नाप लिया, हनुमान सौ योजन समुद्र कूद गये तथा रावण, हनुमान और कृष्ण ने पर्वत को हाथ पर उठा लिया।

अज्ञान सारी योग्यताओं का नाशक है

नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश॥
दूध फाटि काँजी भया, हुवा घृत का नाश॥ 197॥

शब्दार्थ—टिपके=बूंद, खट्टी बूंद। काँजी=फटे हुए दूध का पानी, कसैला।

भावार्थ—नौ मन दूध इकट्ठा किया गया, परन्तु उसमें सिरका आदि खट्टे रस की कुछ बूंदें डाल दी गयीं, तो वह सारा दूध नष्ट हो गया, क्योंकि दूध फटकर खट्टा पानी हो गया और घी का नाश हो गया। अभिप्राय है कि पांच तत्त्व, तीन गुण युक्त मानव शरीर में नवां जीव विद्यमान है, परन्तु एक अज्ञान

गया।" यह एक रूपक लगता है जिसके द्वारा ऋषि जगत में अन्तर्निहित शक्ति को समझाना चाहता है, परन्तु पौराणिकों ने इसको लेकर कहानी बना डाली कि विष्णु नाम के देवता ने वामन रूप धारणकर बलि को छल लिया और उनके समस्त विश्व का राज्य या पूरा भूमंडल अपने तीन पगों में नाप लिया।

इसका अर्थ हो सकता है कि विष्णु विश्व में अन्तर्निहित शक्ति है जिसे ऋत भी कहते हैं। वह मानो सत, रज एवं तम इन तीन पदों की गतिवाला है और उसी की धूल एवं गतिविधि से जगत ढका है। भारतीय-अभारतीय समस्त वैदिक विद्वान इस बात में प्रायः एकमत हैं कि सूर्य विष्णु है, उसकी किरणें उसके पग हैं। उनका पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना उसका तीन पग से तीनों लोक नाप लेना है। जगत को समझने के सुन्दर रूपक को भोले पौराणिकों ने बालक का खेल बना डाला है और एक तरफ विष्णु को परम देवता बताकर दूसरी तरफ उन्हें धोखाधड़ी करने वाला भी सिद्ध किया। पुराणों की अनेक कहानियां चोरी, व्यभिचार, छल, कपट, धोखा आदि से रंग दी गयी हैं।

के कारण जीवन व्यर्थ गया और जीव दुख में ही पड़ा रहा॥ 197॥

व्याख्या—यहां नौ मन दूध इकट्ठा करने की बात कही गयी है जिसका लाक्षणिक अर्थ पांच तत्त्व तथा तीन गुण युक्त अष्टधाप्रकृति और नवां जीव किया गया है। अर्थात अष्टधा प्रकृतियुक्त उत्तम मानव शरीर में जीव निवास करता है, परन्तु एक अज्ञान का टिपका पड़ने से उसकी सारी योग्यता व्यर्थ हो जाती है।

वैसे "नौ मन दूध" का अष्टधा प्रकृति एवं जीव अर्थ न किया जाये तो भी काम बन सकता है। नौ मन दूध का लाक्षणिक अर्थ है पूरी योग्यता। इसमें कारण है 1 से 9 की संख्या के अंक। इसके बाद शून्य (0) होता है। ये ही घूम-घूमकर संख्या बनाते हैं। इसलिए 'नौ मन' संख्या की अधिकता का सूचक है। जैसे कहावत है "न नौ मन तेल इकट्ठा होगा, न राधा नाचेगी।" आठ मन या दस मन कहने का प्रचलन नहीं है, किन्तु नौ मन कहने का ही प्रचलन है। अतएव "नौ मन दूध बटोरि के" का सरल लाक्षणिक अर्थ है कि मानव जीवन की सारी योग्यता प्राप्त हो जाने पर भी जीव एक अज्ञान के कारण भटकता है। उदाहरण कितना सुन्दर और सटीक है। बहुत दूध इकट्ठा किया गया और उसमें थोड़ा कसैला पदार्थ डाल दिया गया तो वह न दूध रह जाता है न दही बन पाता है और न उसमें से घी ही निकलता है। वह सब-का-सब नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार इस उत्तम मानव शरीर की सुन्दर योग्यता एक अज्ञान के कारण पूरी-की-पूरी व्यर्थ जाती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपनी उत्तम योग्यता का दुरुपयोग करता है। किसी वस्तु के सदुपयोग के मूल में ज्ञान है और दुरुपयोग के मूल में अज्ञान। सदुपयोग कल्याणकर तथा दुरुपयोग अकल्याणकर है। नौ मन दूध में कोई कसैला डाल दे और वह फटकर खराब हो जाये तो यह कितना कष्टकर होगा ! जिसका दूध होगा उसे बड़ा दुख होगा। परन्तु मानव-शरीर की इस उत्तम योग्यता का हम अपने अज्ञानवश खिलवाड़ करते हैं। इसे मलिन विषयों में, दुर्व्यसनों में, व्यर्थ बकवाद में और आलस्य-प्रमाद में खोते हैं, इसलिए न हम व्यवहार में सुखी होते हैं और न परमार्थ-लाभ कर पाते हैं। अतएव हमें अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। इसके लिए हमें सच्चे सद्गुरु और संतों की शरण में जाकर अपने मन के अज्ञान को दूर करना चाहिए और अपने आप को समझना चाहिए कि हम कौन हैं, किसमें फंसे हैं, दुख क्यों है तथा उससे पूर्ण छुटकारा कैसे होगा !

हिन्दू और मुसलमानों की भूल

कितनो मनावो पाँव परि, कितनो मनावो रोय॥

हिन्दू पूजे देवता, तुरुक न काहू होय॥ 198॥

शब्दार्थ—तुरुक=तुर्क, तुर्किस्तान का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान।

भावार्थ—पांव पड़कर और रो-रोकर चाहे जितना मनाओ, परन्तु हिन्दू जड़-देवता पूजना नहीं छोड़ते और मुसलमान शून्य में पुकारना नहीं छोड़ते॥ 198॥

व्याख्या—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, ईश्वर को प्राणियों में नहीं देखते। वे जीव को परमात्मा नहीं समझते। वे या तो मिट्टी, पत्थर, काष्ट तथा अष्ट धातुओं की मूर्तियों में परमात्मा को देखते हैं या शून्य-आकाश में देखते हैं। इसलिए वे देवता या ईश्वर को प्रेम-समर्पण के लिए बकरा, मुरगा, सूअर, भेड़, ऊंट, गाय आदि काटते हैं, जो घोर जंगलीपन है। देहधारी प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्हें पत्थर के देवता या शून्य के ईश्वर के नाम पर काट देना कितना घोर अज्ञान है ! पत्थर आदि जड़ की पिंडी ईश्वर नहीं है और न शून्य आकाश ईश्वर है। ईश्वर तो ये मानव हैं, ये प्राणधारी हैं। इनकी पूजा करना चाहिए, इनका सत्कार करना चाहिए। लेकिन खेद है कि आदमी के दिमाग को लकवा मार गया है। वह पत्थर, पेड़, पानी, पहाड़, चांद, सूरज, आग, हवा, आकाश, सभी निर्जीव पदार्थों को पूज लेता है, परन्तु जो सजीव हैं और असली देवता हैं उनका तिरस्कार करता है। इतना ही नहीं, निर्जीव के आगे सजीव की हत्या करता है।

कबीर देव कितना मार्मिक वचन कहते हैं कि इन हिन्दू-मुसलमानों के सामने चाहे जितना हाथ जोड़कर समझाओ, इनके पैरों पर पड़कर समझाओ, रो-रोकर समझाओ, गिड़गिड़ाकर समझाओ, परन्तु ये न जड़ देवी-देवता पूजना छोड़ते हैं और न शून्य में पुकारना छोड़ते हैं। "न काहू होय" वचन में शून्य के लिए व्यंजना है। इसका स्थूल अर्थ है कि मुसलमान किसी के नहीं होते। परन्तु भावार्थ है कि ये शून्य में पुकारते हैं। किन्तु कबीर देव कहते हैं कि न पत्थर में परमात्मा है और न शून्य में। वह तो सभी प्राणियों में है। अतएव प्राणियों पर दया एवं उनसे प्रेम करना ही परमात्मा की भक्ति है। यह आत्मा ही शुद्ध होने पर परमात्मा है। इससे अलग खोजना भ्रम है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों पत्थर और दीवार के पुजारी हैं। दोनों भटके हुए हैं। जनाब अमीर मीनाई कहते हैं—

शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सख़्त।
काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब॥

अर्थात—मुल्ला और पंडित एक दूसरे को बुरा कहते हैं, परन्तु काबा और मंदिर—दोनों जगह पत्थर की पूजा है। हिन्दू मन्दिरों में पत्थर की मूर्ति पूजते हैं और मुसलमान काबा में पत्थर की परिक्रमा करके उसे चूमते हैं।

यहां अधिकतम हिन्दू-मुसलमानों की बात बतायी गयी है। दोनों में जो

विवेकी हैं, वे न पत्थर पूजते हैं न शून्य में पुकारते हैं और न ईश्वर तथा देवी-देवता के नाम पर जीव-वध करते हैं। वे तो मनुष्यों से प्रेम और सभी प्राणियों पर दया तथा रहम का बरताव करते हैं।

तुर्क

'तुरुक' का शुद्ध शब्द 'तुर्क' है जो फारसी भाषा का शब्द है। इसे संस्कृत-भाषा के पंडितों ने 'तुरुष्क' कहा है।

तुरुक कहने से मुसलमान अर्थ प्रकट होता है। परन्तु तुर्क मूलतः मुसलमान नहीं थे। तुर्क-जाति आज के अफगानिस्तान तथा उसके उत्तरी सीमावर्ती क्षेत्रों, जैसे कि रूस के कज़ाकिस्तान तथा चीन के 'सिकियांग' का निवासी थी। तुर्क जाति बड़ी बरबर और लड़ाकू थी। हजरत मुहम्मद के जीवनकाल में ही 'ईराक' जो अरब के उत्तर है, मुसलमान हो गया था। पीछे से 'ईरान' भी मुसलमान हो गया, जहां आर्य सभ्यता के लोग पारसीधर्म के नाम से बसते थे। तुर्क लोग नवीं शताब्दी के अन्त से ईरान के मुसलमानों को परेशान करने लगे थे। मुसलमानों ने इन तुर्कों के विरुद्ध लड़ने के लिए 'ग़ाज़ी'[1] नाम की एक नयी सेना संगठित की जो अपने आप को इसलाम का रक्षक कहती थी। इसके सिपाही या तो वेतन लेते नहीं थे या बहुत कम लेते थे। ये हमला एवं युद्ध में लूटपाट के माल से अपना गुजर करते थे।

कुछ दिनों में तुर्क लोग मुसलमान बनते गये और वे स्वयं इसलाम के कट्टर रक्षक होते गये। ये तुर्क मुसलमान अन्य तुर्कों से भी युद्ध करने लगे जो मुसलमान नहीं थे तथा गैर तुर्कों से भी युद्ध कर इसलामी राज फैलाने लगे। आगे चलकर प्रायः सारे तुर्क मुसलमान हो गये। ये मूलतः खूंख्वार लड़ाकू थे, अतः मुसलमान बनने के बाद भी ये वैसे लड़ाकू रहे।

अफगानिस्तान में 'गजनी' एक नगर है। वहां का तुर्क सरदार 'महमूद' था जिसकी कई पीढ़ी पूर्व से मुसलमान हो गयी थी। यह सरदार जब 997 ई. में गजनी की गद्दी पर बैठा तब अपनी स्वतन्त्र सत्ता की सूचना देने के लिए इसने सुल्तान की पदवी धारण की। यही 'महमूद गजनवी'[2] के नाम से विख्यात हुआ। इसने भारत पर सत्तरह हमले और लूटमार किये। इसने अनेक नगर तथा मन्दिर लूटने के साथ 1025 ई. में गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को लूटा। यह भारत को लूटकर गजनी नगर का शृंगार करता था।

अफगानिस्तान में ही 'गोर' नाम की जगह है। यहां का रहने वाला तुर्क

---

1. ग़ाज़ी का अर्थ है—काफिरों से लड़ने वाला मुसलमान योद्धा; विजेता तथा शूरवीर। (बृहत् हिन्दी कोश)
2. महमूद गजनवी का शासन काल 997-1030 ई.।

सरदार 'मुहम्मद' था जिसे 'मुहम्मद गोरी'[1] कहा जाता है। यह गोर तथा गजनी दोनों का शासक था। इसने भी भारत पर हमलाकर एक बार दिल्ली के पास 'तराइन' नामक जगह में पृथ्वीराज से हारकर दुबारा 1192 ई. में पृथ्वीराज को परास्त किया था तथा अपने तुर्क सरदारों को दिल्ली तथा उत्तरी भारत के एक विशाल क्षेत्र पर स्थापित कर दिया था। तब से धीरे-धीरे तुर्कों का राज्य भारत पर हुआ।

पीछे भारत के लोग भी मुसलमान बनते गये। परन्तु तुर्क मुसलमान भारतीय मुसलमानों को तुच्छ मानते थे। यह प्रक्रिया काफी दिन चली। आगे चलकर तुर्क मुसलमान का पर्याय बन गया। क्योंकि तुर्क मुसलमानों का ही भारत पर पहला प्रभाव पड़ा था। इसलिए भारत में मुसलमान नाम लेने की अपेक्षा तुर्क शब्द का ज्यादा प्रयोग हुआ जैसे तुर्किया नाई, तुर्किया धोबी, तुर्किया तेली आदि। उत्तरी भारत में जब कोई किसी को ज्यादा परेशान करता है, तब लोग कहते हैं कि भाई, मुझे तुर्क मत बनाओ। इसी प्रभाव से सद्गुरु कबीर ने भी हिन्दू और मुसलमान को जहां युग्म रूप में उपस्थित करना हुआ है, वहां प्रायः हिन्दू-तुरुक ही कहा है।

मनुष्यों के गुणों की विशेषता है

मानुष तेरा गुण बड़ा, माँसु न आवे काज॥
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज॥ 199॥

शब्दार्थ—आभरण=आभूषण, गहना।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे दयादि सद्गुण ही श्रेष्ठ हैं, अन्यथा तेरा शरीर व्यर्थ है। न तेरा मांस किसी के काम में आता है, न तेरी हड्डी के आभूषण बनते हैं और न तेरे चाम के बाजे बनकर बजते हैं॥ 199॥

व्याख्या—मनुष्य की विशेषता उसके उत्तम विचारों एवं सद्गुणों में है। यदि उसने मानवीय विचार एवं मानवीय गुणों का अपने जीवन में विकास नहीं किया तो वह पशुओं से खराब है। पशुओं के चाम, हड्डी, मांस, बाल आदि सभी अंग दूसरे के काम में आ जाते हैं। पशु अपने जीवनकाल में तथा मर जाने पर भी दूसरों की सेवा में लग जाते हैं। पशु अपने स्वाभाविक कर्म को छोड़कर कोई दुष्कर्म नहीं करते। इसलिए उनके जीवन में नये कर्म-बन्धन नहीं बनते। पशु किसी की फसल को यदि चरता है तो पेट भर जाने के बाद चरना छोड़ देता है। परन्तु मनुष्य का पेट भरा रहने पर भी वह दूसरे के घर में चोरी करता है, जेब काटता है, मिलावटबाजी, घूसखोरी,

---

1. मुहम्मद गोरी का शासन काल 1173-1206 ई.।

चोरबाजारी, जमाखोरी, धोखेबाजी आदि सभी अपराध करता है।

जिन पशु-पक्षियों के जो स्वाभाविक भोजन हैं वे उन्हें ही ग्रहण करते हैं। जो पशु-पक्षी मांसाहारी होते हैं, वे ही मांस खाते हैं, अन्य जो शाकाहारी होते हैं वे प्रायः मांस नहीं खाते। मनुष्य ऐसा जंतु है जो शाकाहारी होकर भी मांस खाता है। वह बैल, भैंसा, सूअर, मछली, मेढक, बन्दर, सांप, बकरे, भेड़े, मुरगे आदि सब चट कर जाता है। और इतना ही नहीं, शराब, गांजा, भांग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि नाना प्रकार के नशाओं का सेवन करता है। मांसाहारी तो कह सकते हैं कि हम प्रोटीन खाते हैं, परन्तु नशेड़ी क्या कहेंगे ! वे तो समस्त तम्बाकुओं में निकोटिन नाम का जहर खाते हैं। मनुष्य का आहार जितना खराब है उतना किसी जन्तु का नहीं है। अन्य प्राणियों के आहार में स्वाभाविकता एवं संयम होने से वे ज्यादा रोगी नहीं होते, परन्तु मनुष्य अपने आहार बिगाड़कर रोगी बना रहता है।

हर प्रकार के पशु-पक्षियों में उनकी खानियों के अनुसार प्रायः अपने प्राकृतिक नियम होते हैं, उन्हीं के अनुसार वे वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि यौन सम्बन्ध करते हैं। अधम पशु कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामोन्माद में होते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा जन्तु है कि वह यदि विवेक से काम नहीं लेता तो बारहों महीनें पागल बना रहता है। कामोन्माद में नाना रोगों से ग्रसित होना यह मानव में ही है, मानवेतर प्राणी ऐसा नहीं होता। मानवेतर प्राणियों में प्राकृतिक संयम होता है।

मनुष्य जितना मोहग्रसित है उतना कोई अन्य प्राणी नहीं है। गाय अपने नवजात बछड़े के लिए ज्यादा स्नेह रखती है, परन्तु थोड़े दिनों में वह उसे भूल जाती है। परन्तु मानव मरते तक बाल-बच्चे एवं कुटुम्बियों के मोहपाश में बंधा घसिटता रहता है। वह परिवार की रक्षा करे यह तो ठीक है, परन्तु वह तो रक्षा कम, मोह-वैर ज्यादा करता है, जो उसके लिए भवबन्धन है।

पशु, पक्षी और कीड़े तक उतने भयग्रसित नहीं होते जितना मनुष्य भयभीत होता है। अपमान-भय, रोग-भय, रोजी के छिन जाने का भय, शत्रु-भय, मृत्यु-भय, यहां तक मिथ्या भूत, प्रेत, टोनही, ग्रह, शकुन, अपशकुन आदि के भय उसे सताते रहते हैं। श्मशान में कब्रों के अन्दर भी चींटी, सांप, बिच्छू, छिपकली, चूहे आदि जानवर रहते हैं, श्मशान में बैल, गाय, पक्षी या अन्य मानवेतर प्राणी रात में भी आनन्द से सोते हैं। परन्तु मनुष्य रात में यदि श्मशान में पहुंच जाये तो उसे भूत-प्रेत दबोच लेते हैं। अतएव भूत, प्रेत, टोनही आदि का रोग केवल मानव को ही लगता है, अन्य प्राणियों को नहीं।

इस संसार में सबसे अधिक चिंताग्रस्त, रोगी, असंयत, कामी, क्रोधी, छली, दुर्व्यसनी, धोखेबाज, भयभीत एवं दुखी केवल मनुष्य है। मनुष्य के

अलावा प्राणी इतने दुखी, दुर्व्यसनी एवं परेशान नहीं हैं।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सिंह आदि हिंसक एवं मांसाहारी जानवर शिक्षा देने से दयालु तथा शाकाहारी नहीं हो सकते। कुत्ते भले ही कार्तिक में कामोन्मादी हों तथा अन्य महीने में स्वाभाविक संयत हों, परन्तु वे शिक्षा पाकर आजीवन ब्रह्मचारी नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्य जीवनभर के लिए शाकाहारी तथा ब्रह्मचारी हो जाते हैं। मनुष्य इसीलिए ज्यादा बिगड़ा एवं दुखी है, क्योंकि उसमें अधिक संभावनाएं हैं। जब वह विचार करके अपने मानवीय गुणों का विकास करता है तब वही परमपद की गद्दी पर भी आसीन हो सकता है। यह संभावना मानवेतर प्राणियों में नहीं है।

मनुष्य में मन एवं वाणी की प्रबल शक्ति है। उसमें विचार का महान बल है। उसमें अनन्त संभावनाएं हैं। इसलिए जब वह अच्छी समझ से काम नहीं लेता, तब पशुओं से भी नीची दशा में पहुंच जाता है, और यदि वह अपने विचारों का उपयोग करता है तो महान हो जाता है। विचारहीन-मानव पशु से भी पतित है; परन्तु यदि उसने अपनी विचार-शक्ति का सम्यक उपयोग किया है तो उसके समान कोई देवता या परमात्मा नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने निकम्मे शरीर का अहंकार छोड़कर सुन्दर विचारों का उपयोग करे और दया, शील, क्षमा, सत्य, धैर्य, अहिंसा, करुणा, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि सद्‌गुणों का संवर्धन करे। मनुष्य की विशेषता उसके मानवीय विचारों एवं सद्‌गुणों में ही है।

स्वतन्त्र विचार

जो मोहि जाने, ताहि मैं जानौं॥
लोक वेद का, कहा न मानौं॥ 200॥

शब्दार्थ—लोक=लोकाचार, सांसारिक व्यवहार। वेद=शास्त्र, शास्त्र-प्रमाण एवं शास्त्रव्यवहार।

भावार्थ—जो व्यक्ति मेरी वास्तविकता को समझता है, मेरे विचारों एवं संकेतों को स्वीकारता है, मैं उसे निभाने का प्रयास करता हूं, इसमें लोकाचार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें, तो मैं उनकी परवाह नहीं करता॥ 200॥

व्याख्या—समाज, धर्म तथा अध्यात्म क्षेत्र के अत्यन्त क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र चिंतक कबीर देव के निर्भय स्वर बीजक में पदे-पदे सुनाई देते हैं। उक्त दोनों छोटी-छोटी पंक्तियों में कितने प्राणवान विचार हैं, कितने निर्भीक एवं सहज स्वर हैं यह विचारते ही बनता है। कबीर को भय कहीं छू नहीं गया था। जो सत्य है, उसमें रहना है और उसे कहना है यह उनका निश्चय था। उन्होंने मृत्यु का भय त्याग दिया था। इसलिए उन्हें सत्य कहने में कोई

डर नहीं था।

वे कहते हैं कि जो मुझे जानता है उसे मैं जानता हूं और इसमें लोक-वेद का बन्धन नहीं मानता। इसका अर्थ यह है कि कबीर साहेब के जो स्वतंत्र विचार हैं उनको स्वीकारने वालों को वे अपना लेते हैं। उनके सामाजिक विचार हैं कि सभी मानव एक समान हैं। काल्पनिक जाति और वर्ण के नाते कोई छूत है और कोई अछूत है, कोई कल्याण का अधिकारी है और कोई अधिकारी नहीं है, इस बात को कबीर साहेब बिलकुल नहीं मानते। वे पूरे मानव को मूलरूप से एक समान मानते हैं। यह अलग बात है कि अपनी मानसिक तथा शारीरिक क्षमता के अनुसार लोग विविध क्षेत्रों में उन्नति करते हैं। तो यह हर तथाकथित वर्ण और जाति में रहने वाले व्यक्तियों की बात है। सब में उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तथा विविध योग्यता वाले मनुष्य होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियादि नामधारियों में भी मोटी बुद्धि तथा भोगपरायण व्यक्ति होते हैं। तथाकथित शूद्र एवं अंत्यज नामधारियों में भी तीव्र बुद्धि एवं अध्यात्मपरायण व्यक्ति होते हैं।

कबीर साहेब के ख्याल से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि नाम जो धर्म में लगाये जाते हैं यह गलत है। धर्म हिन्दू नहीं है, मुसलमान, ईसाई, जैन तथा बौद्धादि नहीं है, किन्तु वह केवल धर्म है। धर्म है शील, धर्म है दूसरे के प्रति करुणा एवं प्रेम यह मानव का मूल स्वभाव है। हिन्दू, मुसलमानादि तो समाज हैं जो देश-काल-सापेक्ष हैं। ईसा की इस बीसवीं शताब्दी के पूर्व करीब चौदह सौ वर्षों से मुसलमान, दो हजार वर्षों से ईसाई, चौबीस-पचीस सौ वर्षों से हिन्दू तथा बौद्ध, इससे कुछ पुराने जैन, यहूदी आदि हैं। यह सभी नाम, इनके बाह्याचार किसी देश एवं किसी काल में निर्मित हुए हैं, इसलिए ये देश-काल-सापेक्ष हैं, किन्तु धर्म तो देश-काल से निरपेक्ष, सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक होता है। भिन्न किताब, महापुरुष एवं परम्परा में श्रद्धा रखना और भिन्न नाम, रूप, वेष, बाह्याचार को मानना एवं उनका आचरण करना यही सब समाज, पंथ एवं संप्रदाय बनाते हैं। परन्तु धर्म का लक्षण केवल सबके साथ शील, करुणा, अहिंसा, दयादि मानवीय गुणों का व्यवहार करना है। कबीर साहेब कहते हैं कि "बाँग नमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई"[1] अर्थात जब बांग नहीं दी जाती थी, नमाज नहीं पढ़ी जाती थी, कलमा का पाठ नहीं किया जाता था, राम-राम या खुदा-खुदा नहीं कहा जाता था, तब क्या धर्म नहीं था ! धर्म बाहरी नाम, रूप एवं क्रियाकलाप नहीं है, किन्तु मानवता है।

---

1. बीजक, शब्द 22।

कबीर देव कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की आत्मा से कोई बाहरी चीज नहीं है। मन का अनासक्त होकर शांत हो जाना ही मोक्ष है और अपनी आत्मा की परमात्मा है। प्राणी ही देवता है, प्रेम ही स्वर्ग है। कबीर देव कहते हैं कि यदि इस प्रकार कोई मेरी बातों को समझता है तो मैं उसे अपना लेता हूं। इसमें लोकव्यवहार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें तो मैं उसकी परवाह नहीं करता। वे कहते हैं कि संसार क्या कह रहा है न मुझे इसकी चिंता है और नाना मतों के शास्त्र क्या कह रहे हैं न इसकी चिन्ता है। मुझे यह चिंता है कि सत्य क्या है! "नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" एक ऋषि, एक पैगम्बर एवं एक शास्त्र नहीं है जिसका मत प्रमाण मान लिया जाये। बहुत ऋषि हैं और बहुत शास्त्र हैं, इसलिए विवेक से सारासार निर्णय करना है "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[1]

लोक-वेद के कहा न मानने वाले बहुत लोग होते हैं, किन्तु वे पतन-पथ में जाते हैं। उन्मादपूर्वक लोक-वेद की परवाह न करना मानव के लिए अमंगलकर है। लोक-वेद मानव को संयम के पथ पर रखने के लिए शंबल हैं, किन्तु कबीर जैसे स्वतः संयत, मानवता की महामूर्ति, धर्म की धुरी और अध्यात्म के प्रौढ़ संतपुरुष की बात ही निराली है। वे मानव को सत्य की दिशा देने के लिए लोक-वेद की परवाह छोड़ते हैं, क्योंकि लोक और तथाकथित शास्त्र-प्रमाण ने मानव के साथ छल किया है। अनेक शास्त्रों में मानवों के अमुक तथाकथित वर्ण एवं जाति को नीच, अछूत और उच्च संस्कारों के अयोग्य कहकर उनके साथ छल किया है। शास्त्रों ने कहा कि यह शास्त्र ईश्वर का भेजा है, जो इसे नहीं मानता है वह नास्तिक, काफिर एवं नापाक है। यह मनुष्य के साथ छल करना है। यह शास्त्रों की ऊलजलूल बातों को सबसे मनवाने का हथकंडा है। आज देखिए मृत्युभोज, दहेजप्रथा, छुआछूत, ऊंच-नीच भावादि, भूत-प्रेत तथा अनेक अंधविश्वास जो मानव के लिए अकल्याणकर हैं, लोक-वेद की ही देन हैं। अर्थात लोक और शास्त्र-प्रमाण के नाम पर बहुत सारे कूड़े-कचड़े चलते हैं। 'प्रभुवचन' घोषित कर देने पर मानवता के लिए विषैली बातों का भी नकारा जाना कठिन हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जो मानवता के लिए अहितकर हैं, मैं ऐसी बातों को नहीं मानता वे चाहे लोकसंमत हों, चाहे किसी ऋषि या पैगम्बर की हों या किसी तथाकथित प्रभु की हों। मैं सत-पथ का राही हूं और उस पर चलने वालों का हमराही हूं।

स्वतन्त्र चिंतन के ये कबीरी-स्वर वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों तक में

---

1. साखी 247।

भी यत्र-तत्र मिल सकते हैं। वैदिक ऋषि सोभरि कहते हैं—"हे अग्निदेव! यदि तुम मुझ जैसे मर्त्य मानव होते और मैं तुम जैसा अमर देवता होता, तो जानते हो मैं क्या करता! मेरी स्तुति करने वाला न मूर्ख होता, न संकट में फंसता और न पापलिप्त होता।"[1] "तुम्हारा सत्य तथा अमृत कहां गया और तुम्हें दी गयी आहुतियां कहां गयीं।"[2] इन पंक्तियों में वैदिक देवताओं की निरर्थकता वैदिक ऋषियों के मुख से ही प्रकट हुई है। अंगिरा शौनक से कहते हैं—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष—ये चार वेद, छह वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं। इनसे परमार्थ का बोध नहीं होता। जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।"[3] भागवत पुराण के लेखक कहते हैं—"लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं हैं, क्योंकि वेदवाक्य प्रायः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष दोषों से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी अभिव्यक्ति उनमें भी नहीं है।"[4] भामतीकार कहते हैं—"हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[5] अतएव कोई बात इसलिए नहीं मान्य होनी चाहिए कि वह लोक तथा शास्त्रों द्वारा मान्य है, परन्तु इसलिए मान्य होनी चाहिए कि वह मानव के लिए कल्याणकारी है।

मनुष्य जीव का सर्वोपरि महत्त्व

सबकी उत्पति धरती, सब जीवन प्रतिपाल॥
धरती न जानै आप गुण, ऐसा गुरू विचार॥ 201॥
धरती जानति आप गुण, कधी न होती डोल॥
तिल तिल गरुवी होती, रहति ठिकों की मोल॥ 202॥

शब्दार्थ—गुरू विचार=श्रेष्ठ विचार। डोल=चंचल, भूकंप। तिल-तिल=सर्वांग। गरुवी=वजनदार, गंभीर, गौरवशाली। ठिकों=ठीक, उचित, मर्यादा। मोल=मूल्य, महत्त्व।

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति धरती से होती है और सबका पालन भी धरती

---

1. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रो अमर्त्यः।
   न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया॥
   (ऋग्वेद, ऋग्वेद सूक्त विकास, पृ. 133, लेखक प्र. ह. र. दिवेकर)
2. कद्व ऋतं कदामृतं का प्रत्ना व आहुतिः। (वही)
3. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
   अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ (मुण्डक उपनिषद् 1/5)
4. तथैव राजन्नुरुगार्हमेध वितान विद्योरु विजृम्भितेषु।
   न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ भागवत 5/11/2॥
5. नाह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुं ईष्टे। (भामती)

से होता है, परन्तु धरती इस अपने महान गुण को नहीं जानती। यदि धरती इसे जानती तो वह कभी चंचल नहीं होती। वह सर्वांग वजनदार और अपनी ठीक मर्यादा में रहती। तात्पर्य है कि जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक है और सारे ज्ञान तथा कला का रक्षक है, परन्तु वह अपने इस महान गुण एवं महान विचार को नहीं जानता। यदि वह इसे जानता तो अपने स्वरूप से चंचल नहीं होता। वह सर्वांग गंभीर रहकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहता॥ 201-202॥

व्याख्या—सारी भौतिक उन्नति का आधार धरती है, इसी प्रकार सारे ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का आधार जीव है। उक्त दोनों साखियों में जीव प्रमा है और धरती प्रमाण है। सद्गुरु ने यहां जीव के महत्त्व को समझाने के लिए धरती की महत्ता का वर्णन किया है। कबीर देव ने बीजक में जगह-जगह प्रमा का नाम लिये बिना केवल प्रमाणों से अपनी बातें समझाने की चेष्टा की है। इसे अन्योक्ति अलंकार या अर्थालंकार कह सकते हैं। उक्त दोनों साखियों में भी अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

सद्गुरु कहते हैं कि धरती से ही सबकी उत्पत्ति होती है और उसी से ही सबका पालन होता है। बात सर्वथा सच है। वन, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल, कंद, कोयला, पत्थर, सोना, अनेक रत्न, अनेक धातु, पेट्रोल, तेल—सब कुछ तो धरती से पैदा होता है। सभी खानियों की देहें भी तो पार्थिव ही हैं। वे भी मानो धरती से ही पैदा होती हैं; और सभी प्राणियों की रक्षा भी धरती से ही होती है। इस प्रकार सारी भौतिक सृष्टि, स्थिति एवं पालन का आधार धरती है। इतना होने पर भी धरती इन अपने महान गुणों को नहीं जानती। यदि वह अपने गुणों को जानती तो चंचल न होती। समय-समय से भूकंप आता है। पृथ्वी दहल जाती है। ऐसा क्यों होता! वह अचल रहती, वह अपनी मर्यादा में रहती।

यहां धरती का लक्षणा अर्थ जीव है। धरती का नाम लेकर सद्गुरु कबीर ने मनुष्य जीव की ओर संकेत किया है। मनुष्य जीव ही से सारे ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति है। वेद, कुरान, बाइबिल, जिंदावेस्ता, समस्त धर्मशास्त्र, समस्त भौतिक विज्ञान, समस्त विद्याएं, समस्त कला-कौशल, पुनर्जन्म, बंध-मोक्ष, परलोक, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड, देवी-देवता, अवतारवाद, पैगंबरवाद की धारणा, निर्धारण एवं कल्पना—इस मनुष्य जीव ही ने किया है। मनुष्य जीव के अलावा ज्ञान-विज्ञान का कोई कारण नहीं है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ और सर्वज्ञ चाहे जो कहो, जीव ही है। जीव के अलावा सर्वज्ञ की केवल कल्पना है और उस कल्पना का करने वाला भी जीव ही है। इस तरह भी कह सकते हैं कि मनुष्य जीव ही ने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सर्व धर्मशास्त्र बनाये हैं। जीव ही ने ईश्वर की कल्पना की है। जीव ही ने

देवताओं की अवधारणा की है। जीव ही ने अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद को सृजा है। जीव ही ने तीर्थों का निर्माण किया है। जीव ही ने ज्ञान-विज्ञान को शोधा है। जीव ही ने नाना कला-कौशल की खोज की है। इस प्रकार सारा ज्ञानमय क्षेत्र जीव की खोज है, जीव की महत्ता है।

ऐसा महान मनुष्य जीव अपने महत्त्व को नहीं समझता है। वह ऐसे 'गुरु विचार' एवं श्रेष्ठ विचार को नहीं समझ पाता है। सारे शास्त्र, ईश्वर एवं देवताओं का सृजेता जीव अपने ही सृजन एवं कृतियों का गुलाम बन गया है। मनुष्य अपने ही हाथों से मिट्टी का देवता बनाता है और स्वयं उसके सामने घुटने टेककर उससे भोग और मोक्ष मांगता है। इससे अधिक अज्ञान और क्या हो सकता है! इसी प्रकार अपने ही मन से गढ़े हुए ईश्वर से सारी कामनाओं की पूर्ति के लिए आशा रखता है।

सद्गुरु कहते हैं कि यदि मनुष्य अपने महत्त्व को समझता, यदि वह अपने चेतन स्वरूप को ठीक से जान लेता तो इस प्रकार दर-दर का भिखार नहीं होता। वह कभी चंचल होकर न विषयों के पीछे दौड़ता और न देवी-देवताओं के पीछे। जिसने अपने अविनाशी, स्वयं प्रकाशी, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, प्राप्तकाम, आप्तकाम चेतनस्वरूप को समझ लिया है वह किसलिए चंचल हो! "जिसने समझ लिया कि यह चेतन पुरुष, यह अपनी आत्मा ही सर्वोच्च है, वह किसलिए, किस कामना के लिए शरीर के पीछे पड़कर अपने ऊपर जन्म-मरण का ज्वर चढ़ाये रखेगा, वह क्यों भोगों में पड़कर तपेगा!"[1] वह बोधवान तो सर्वांग गंभीर एवं अबोल-अडोल होता है। वह खानी-वाणी के सारे बंधनों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति की मर्यादा में अचल रहता है। स्वरूपज्ञान के बाद स्वरूपस्थिति ही तो मनुष्य का गंतव्य है। जिसने अपने गुणों को पहचाना वह स्वयं ईश्वर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। उसकी दीनता सदैव के लिए समाप्त हो जाती है।

तथ्य में एकता है

जहिया किर्तम ना हता, धरती हती न नीर॥
उत्पति परलय ना हती, तबकी कहैं कबीर॥ 203॥

शब्दार्थ—किर्तम=कृत्रिम, बनावटी, जगत। हता=था। हती=थी।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मान लो जब यह बनावटी जगत नहीं था, धरती तथा पानी नहीं थे, उत्पत्ति और प्रलय नहीं थे, तब तुम्हारे आज के माने हुए सारे भेदभाव कहां थे? ॥ 203॥

---

1. आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12॥

व्याख्या—प्रायः सभी मतवादी मानते हैं कि यह सृष्टि पहले नहीं थी। वे कहते हैं कि न पहले पृथ्वी थी, न जल था, न आग थी, न हवा थी। कुछ लोग तो यह भी कहने का साहस करते हैं कि पहले आकाश भी नहीं था। थोड़े समय के लिए मान लिया जाये कि ठीक है यह सब पहले नहीं था। तो मैं पूछता हूं कि ये वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सारे धर्मशास्त्र कहां थे! ये हिन्दू, मुसलमान, इसाई, यहूदी, पारसी, जैन, बौद्धादि के भेदभाव कहां थे! ये ब्राह्मण और शूद्र नाम की ऊंच-नीच भावनाएं कहां थीं! इसका मतलब है कि यह सब कलह-कल्पना पीछे का बनावटी प्रपंच है। फिर इन्हें क्यों पत्थर की लकीर मानते हो! एक तरफ पूरे संसार को बीच में बना हुआ मानते हो और दूसरी तरफ भेदभाव की सारी दीवारें स्वयंभू एवं अजर-अमर मान रखे हो। यह कितनी दो मुंही बातें हैं!

वस्तुतः सारे जड़तत्त्व एवं चेतन जीव नित्य, अनादि तथा अनंत हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अनादि निहित एवं स्वभावसिद्ध हैं! इसलिए यह जगत भी बनता-बिगड़ता हुआ अनादिसिद्ध है। मूलद्रव्य जड़-चेतन नित्य हैं और उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं, तो उनसे जगत की प्रक्रिया भी नित्य है। इस अनादि प्रवाहमय जगत में न किसी ईश्वर ने उसमें कुछ बनाया है न किताब, संप्रदाय बनाये हैं और न मानवों में कोई भेदभाव कायम किया है। ये सारे भेदभाव भूले मनुष्यों के अपने अहंकार का फल है।

इस अनादि जगत में समय-समय से बुद्धिमान लोग पैदा होते रहे। उनमें जो ईमानदार थे, उन्होंने शुद्ध मानवता की एवं तथ्य की बातें कहीं और जो चतुर-चालाक थे, वे ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगम्बरवाद तथा दैववाद का दबदबा कायम कर अपने मत को आस्तिक एवं दीनदार कहकर दूसरे मतों को नास्तिक तथा काफिर करार दिये। उन्होंने अपने वर्ण एवं जाति को पुनीत तथा दूसरों को अशुद्ध घोषित किये। उन्होंने धर्म और अध्यात्म के नाम पर सांप्रदायिकता के विष बोये। उन्होंने जितना समाज का कल्याण किया उससे ज्यादा अकल्याण किया।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मूलतत्त्व में कोई विभेद नहीं है। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश समान हैं। इनसे भिन्न चेतन जीव भी मूलतः समान हैं। संसार की गतिविधि भी अपने नियमों में निरन्तर चलती हुई मूलतः समान है। नैतिकता के नियम भी मानव के मन में समान हैं। कोई भी मानव हो यदि वह चोरी, हत्या, व्यभिचार, झूठ, छल, परनिंदा, ईर्ष्या आदि करता है तो उसका मन मलिन, चंचल एवं पीड़ित होगा, और यदि वह परसेवा, ब्रह्मचर्य, दया, सत्य, निष्कपटता, निष्छलता, परोपकारादि का बरताव करता है तो उसके मन में प्रसन्नता एवं शांति आयेगी। भूख-प्यास, नींद तथा शरीर की

मूल आवश्यकताएं सबको समान ही लगती हैं। सभी मनुष्य एक समान आंख से देखते, पैर से चलते, हाथ से काम करते, कान से सुनते, नाक से सूंघते, जीभ से चखते, त्वचा से छूते, मन से सोचते और गुदा तथा उपस्थ से टट्टी-पेशाब करते हैं। तो आखिर मनुष्य-मनुष्य में क्या भेद है ! अतएव चालाक मनुष्यों ने काल्पनिक ईश्वर, स्वयंभू शास्त्र तथा जन्मजात ऊंच-नीच की भावना का तूदा खड़ा करके मनुष्य-समाज का घोर अहित किया है। इसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया। उसके बीच में इसने पत्थर की लकीर कायम करने का प्रयास किया। नाना भेदभाव खड़े किये। चालाक मनुष्यों ने मानव-समाज को काट-काटकर रख दिया। लोग कहते हैं कि गर्व के साथ कहो कि हम मुसलमान हैं, गर्व के साथ कहो कि हम हिन्दू हैं इत्यादि। इन अक्ल के धनियों को यह नहीं सूझता कि मनुष्य केवल मनुष्य है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि सब केवल मिथ्या शब्दजाल हैं। कबीर कहते हैं कि विनम्रता से कहो कि हम मनुष्य हैं, केवल मनुष्य !

सारे शास्त्र एवं मान्यताएं मनुष्य की रचनाएं हैं। अतः मनुष्य सारे शास्त्र एवं मान्यताओं से श्रेष्ठ है। सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में "तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी" इत्यादि कहकर यह ध्वनित किया है कि सारी सृष्टि एवं सृष्टि के तत्त्व सब समय हैं। जगत अनादि और अनंत है। परन्तु संसार के अनेक मतवादी यही मानते हैं कि संसार पहले नहीं था। यहां तक कि धरती, नीर आदि तक नहीं थे। सद्गुरु कहते हैं तो ये भेदभाव की दीवारें कहां थीं? सृष्टि के सारे जड़-चेतन तत्त्व नित्य हैं। उनमें ही सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है। मूल द्रव्य रहे बिना सृष्टि किसमें बनेगी ! अभाव से भाव नहीं होता। अतः मूल द्रव्य नित्य हैं। उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं। उनसे सृष्टि-प्रपंच प्रवाहरूप नित्य है और सारे भेदभाव मनुष्य के बनाये हुए बीच के हैं।

मन और वाणी से उच्चस्थिति

जहाँ बोल तहाँ अक्षर आया, जहाँ अक्षर तहाँ मनहि दृढ़ाया ॥
बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥ 204॥

शब्दार्थ—बोल=बात, वाणी। अक्षर=वर्ण। बोल अबोल=वाणी उच्चारण और मौन। लखा=समझ लिया।

भावार्थ—जहां बात बोली जाती है, वहां वर्णों के समूह आ जाते हैं जिनसे शब्द और वाक्य बनते हैं। उनके कुछ अर्थ लगाकर मनुष्य अपने मन में कुछ मान्यता बना लेता है। परन्तु जो व्यक्ति वाणी और मौन—दोनों स्थितियों को एक समान समझ लेता है और दोनों दशाओं में समान निर्विकार

एवं प्रशांत रहता है, वह संसार में बिरला है॥ 204॥

व्याख्या—मनुष्य की दो बहुत बड़ी शक्तियां हैं वाणी और मन। मानवेतर प्राणियों में भी ये हैं, परन्तु बीज रूप में। उनमें इनका विकास नहीं होता। उनमें इनके विकास की संभावना ही नहीं है। केवल मानव-प्राणी में ही मन और वाणी का विकास होता है। इसलिए मानव ज्यादा समझता है तथा अपने मन की बातों को वाणी द्वारा दूसरे से कहता है और दूसरे मानव की बातों को सुनता और समझता है। मनुष्य के विकास के लिए ये मन तथा वाणी वरदानस्वरूप हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग किया जाये तो ये महान अभिशाप बन जाते हैं। अच्छी समझ होने से मन और वाणी मनुष्य के भौतिक तथा आत्मिक कल्याण के साधन बन जाते हैं और यदि समझ गलत है तो ये ही मन और वाणी मनुष्य के लिए दुखदायी बन जाते हैं। मानवेतर प्राणियों में मन तथा वाणी का विकास न होने से वे किसी दिशा में उन्नति नहीं कर सकते, परन्तु उनका उनसे अधिक न पतन हो सकता है और न वे ज्यादा दुखी होते हैं।

बैल, घोड़ा, गधा, हाथी, कबूतर आदि के सामने खड़े होकर तुम उन्हें चाहे जितनी गाली दो, वे इससे प्रभावित नहीं होंगे, परन्तु मनुष्य को आधी बात अनसुहाती कह दी जाये, तो उसे चोट लग जायेगी। सारा मनुष्य-समाज बातों के झकझोर में पीड़ित है। शास्त्र यही रचता है, यही पढ़ता है। यही शब्दों से जागता है और शब्दों से भटक जाता है। कोई शब्द बंधन बनाता है और कोई शब्द बंधन काटता है। हर आदमी के दिमाग में शब्द भरे हैं। वह शब्दों से हर समय उद्वेगित रहता है।

इस साखी में सद्गुरु ने कहा है "जहाँ बोल तहाँ अक्षर आया, जहाँ अक्षर तहाँ मनहि दृढ़ाया।" आदमी जैसे कुछ बोलता है वैसे उसके मुख से कुछ अक्षर निकलते हैं जो शब्द और वाक्य के रूप लेते हैं। फिर उनके कुछ अर्थ निकाल लिये जाते हैं और उन अर्थों में मन एक मान्यता निश्चित कर लेता है। राग, द्वेष, अनुकूल, प्रतिकूल, हर्ष, क्लेश, आनन्द, दुख सब कुछ शब्दों के आंदोलन से मन में उठते रहते हैं। मन-सागर में शब्दों के झंझावात से नाना तरंगें उठती हैं। मनुष्य के साथ यह भयंकर रोग है। संसार के अधिकतम मनुष्य विवेकरहित हैं, इसलिए वे शब्दों के झोकों में निरंतर आंदोलित रहते हैं। आप कहीं जायें। रास्ते चलते हुए दो आदमियों को देखें। वे पैदल चल रहे हैं, ट्रेन या बस में चल रहे हैं, बातों में उलझे होंगे। "अमुक ने मुझे यह कह दिया। मैं उससे कम नहीं हूं। यदि वह चलेगा डाल-डाल, तो मैं चलूंगा पात-पात। मैं उसको देख लूंगा। उसमें क्या दम है, इत्यादि।" आदमी शब्द सुनता है। उसका कुछ अर्थ लगाता है और उसी में उलझा रहता है।

"बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई।" जो वाणी बोलते समय या मौन रहते समय, अथवा वाणी सुनते समय या वाणीविहीन मौन एवं सन्नाटे के समय, एक समान शांत रहता है, उन दोनों स्थितियों को एक समान समझता है, वह बिरला व्यक्ति है। अभिप्राय है कि जिसे बातों की चोट नहीं लगती, वह धन्य है। 'बातों की चोट न लगने' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक वह आदमी है जिसे चाहे जितनी शिक्षा दो, वह जागता नहीं, क्योंकि उसे बातों की चोट ही नहीं लगती। गधों को चार डंडे मार दो तो भी वे वैसे ही रहते हैं। उनमें खास प्रगति नहीं होती। वैसे कुछ आदमी होते हैं। उन्हें चाहे जितना तीखे उपदेश करो, वे मानो सुनते ही नहीं हैं। उनके जीवन में कोई सुधार की संभावना नहीं। इस प्रकार बातों की चोट न लगना दुर्भाग्यपूर्ण है। समझदार आदमी को बातों की चोट लगती है। वह किसी की सच्ची सीख से आंदोलित हो जाता है और अपने आप में जगकर बुराइयों से ऊपर उठ जाता है।

यहां जो बातों की चोट न लगने की बात है और "बोल अबोल में एक हो जाना है" यह उच्चतम ज्ञान की स्थिति है। सब कुछ समझ-बूझ लेने के बाद जिसका मन भौतिक धरातल से ऊपर उठ जाता है वह सब समय मुक्त होता है। सारे शब्द वायु के झोंके मात्र हैं। उनमें आंदोलित होने की आवश्यकता ही नहीं है। किसी के भी मुख से यदि कोई अन्यथा बात निकलती है तो उस समय वह संतुलित नहीं है और असंयत आदमी की बात की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। यदि मैं किसी की बातों से क्षुब्ध होता हूं तो मैं पशु हूं और मानो उसने मुझे अपनी बातों के डंडे से हांक दिया। मेरा किसी पर क्या वश है ! किसी को अपने वश में रखने की आवश्यकता भी क्या है ! मैं स्वयं अपने वश में रहूं इतना काफी है। जहां अनुगामियों, परिवार तथा समाज को चलाने की बात है, उनका स्वामित्व एवं सेवा करने की बात है वहां बिलकुल यह नहीं चल सकता। वहां किसी के असंयत व्यवहार तथा बात देख-सुनकर उसे हिदायत करना पड़ेगा, दंड भी देना पड़ सकता है। परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए ज्ञानी पुरुष अनुकूल-प्रतिकूल बातों में सम होता है।

ज्ञानी पुरुष स्वरूपभाव में स्थित होता है। अपना चेतनस्वरूप सारे विकारों से रहित है। न उसमें तन है, न मन है और न वाणी है। अतएव वह काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सारे विकारों से सर्वथा रहित शुद्ध-बुद्ध है। ऐसे भाव में जो स्थित होता है उसकी दृष्टि में सारे संसार का सम्बन्ध एवं प्रतीत एक स्वप्नभास है। वह अपने आप को सदैव तन, मन तथा वाणी से अतीत देखता है। इसलिए वह बोल-अबोल में सम रहता है। वह वाणी-व्यापार

तथा मौन दोनों में निर्विकार रहता है। वह कुछ बोलता है तो सार्थक एवं कल्याणकर, अन्यथा मौन रहता है। वह दूसरों की बातों से न क्षुब्ध होकर सदैव प्रशांत रहता है। ऐसे लोग बिरले हैं और वे धन्य हैं।

कर्मों के बन्धन और उससे मुक्ति

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर॥
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥ 205॥

शब्दार्थ—सूर=सूर्य। डोले=भटकता है। पूर=पूर्ण।

भावार्थ—तारे तभी तक जगमगाते हैं जब तक सूर्य उदित नहीं होता, इसी प्रकार जीव तभी तक कर्मों में बंधा हुआ भटकता है जब तक पूर्ण स्वरूपज्ञान उदित नहीं होता॥ 205॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक एवं ज्वलंत है यह समझते ही बनता है। रात में तारे जगमगाते हैं। वे अपनी पूर्ण चमक-दमक के साथ प्रकाश करते हैं। परन्तु उनकी चमक-दमक तभी तक है जब तक सूर्य उदित नहीं होता। सूर्य के उदय होते ही वे दिखाई भी नहीं देते। यही दशा जीवों के कर्मों की है। सब जीव शुभाशुभ कर्मों के अधीन बने संसार-सागर में भटक रहे हैं। यह कर्मों की जगमगाहट इसलिए है कि जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जब स्वरूपज्ञानरूपी सूर्योदय होता है तब अज्ञान-अंधकार अपने आप समाप्त हो जाता है। फिर जीव का भटकना भी बन्द हो जाता है।

जन्म-मरण से छूटकर जीव का विदेहमुक्त हो जाना, यह जीव का भटकना बंद होना है। परन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष है देह रहते-रहते मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रशांत हो जाना, जो सबके अनुभव की बात है। यही सर्वाधिक उपयोगी है। ज्ञानोदय का अर्थ यह नहीं है कि बहुत बौद्धिक ज्ञान या शास्त्रज्ञान हो जाये। ज्ञानोदय का अर्थ है अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर विषय-वासनाओं का अत्यन्त अभाव हो जाना। न इसमें बहुत बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता है और न ज्यादा शास्त्रज्ञान की। इसका मतलब यह नहीं है कि स्वरूपज्ञानी पुरुष को बुद्धि और शास्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिए। स्वरूपज्ञानी पुरुष तो बुद्धि का उत्तम उपयोग करता है। उसकी बुद्धि वस्तुपरक एवं तथ्यपरक होती है। वह शास्त्रों का ज्ञाता भी हो सकता है। परन्तु स्वरूपज्ञान के मूल में केवल विषयों की अनासक्ति ही तथ्य है। न उसके लिए बहुत शास्त्रज्ञान चाहिए और न बुद्धि में दुनियाभर की जानकारी। कितने बहुत शास्त्रज्ञानी एवं अपनी बुद्धि में दुनिया की बातों की बहुत जानकारी का कूड़ा-कबाड़ भरे हुए लोग केवल मन-इन्द्रियों के गुलाम होते हैं। जिस ज्ञान से आत्मशांति मिलती है वह शास्त्रज्ञान

एवं बहुत जानकारी नहीं है, किन्तु स्वरूपज्ञान और वैराग्य है। ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष पवित्र रहनी है। पवित्र रहनी का अर्थ गलत आदतों, दुर्व्यसनों एवं समस्त विषयासक्तियों से सर्वथा मुक्त होना है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोकादि के वश होकर दुखी रहना जीव का भटकना है। यह सब स्वरूप के अज्ञान तथा विषयासक्ति के वश होता है। जब स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और विषयासक्ति मिट जाती है, तब मन के सारे आंदोलन समाप्त हो जाते हैं। विषयासक्तिवश ही तो चाहनाएं उठती हैं और चाहनाएं ही जीव को भटकाती हैं। जिसने चाहनाओं का त्याग कर दिया वह निश्चल एवं शांत हो गया। पूर्ण ज्ञानोदय होने का अर्थ है सारे आकर्षणों से रहित होकर अपने आप में पूर्ण शांत होना।

जीव का स्थायी निवास उसका अपना स्वरूप है

नाँव न जाने गाँव का, भूला मारग जाय॥
काल गड़ेगा काँटा, अगमन खसी कराय॥ 206॥

शब्दार्थ—काल=कल्पनाएं, वासनाएं। अगमन=पहले से। खसी कराय=गिरा देना, त्याग देना।

भावार्थ—यदि कोई अपने गंतव्य-ग्राम का नाम न जानता हो और उसके पथ को भूलकर विपथ में भटक रहा हो, तो उसके पैरों में कांटे गड़ेंगे। उसे चाहिए कि वह पहले ही सावधान हो, अपने ग्राम के पथ को जाने और विपथ छोड़कर अपने पथ में चले। इसी प्रकार जो स्वरूपस्थिति की दशा का ज्ञान तो दूर, नाम भी नहीं जानता, और अपनी स्वरूपस्थिति के ज्ञान एवं रहनी से अलग पड़ा भूले पथ में जा रहा है, उसे कल्पनाओं एवं वासनाओं के कांटे गड़ेंगे। इसलिए समझदार का काम है कि वह पहले से ही विपथ का त्यागकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के पथ पर चले॥ 206॥

व्याख्या—आपको एक ऐसा आदमी मिले जिससे आप पूछें कि तुम कौन हो, कहां जा रहे हो! वह बताये कि मैं नहीं जानता हूं कि मैं कौन हूं तथा यह भी नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं, तो आप उसे अर्धविक्षिप्त ही कहेंगे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो संसार के मनुष्यों की यही दशा है। वे नहीं जानते कि वे कौन हैं और उनका स्थायी निवास का गांव कहां है।

एक युवक महात्माओं के पास जाकर उनसे कहता है कि आप मुझे भगवान के दर्शन करा दें तो मैं आपको अपना गुरु मान लूं। महात्मा लोग लाचार होकर कहते कि भगवान के दर्शन तो हमने ही नहीं पाये हैं तो आपको कैसे करा दें! कुछ दिनों में उसे एक महात्मा मिल गये। उन्होंने कहा कि मैं

तुम्हें भगवान के दर्शन करा दूंगा, परन्तु तुम पहले अपने स्थायी नाम तथा पता मुझे बता दो। मैं भगवान के यहां तुम्हारी ओर से एक चिट्ठी लिख दूं। फिर भगवान की आज्ञा हो जाने पर मैं तुम्हें उनके पास ले जाकर उनके दर्शन करा दूंगा।

उसने कहा कि मेरा नाम केशव है तथा मेरा पता भारत की राजधानी दिल्ली है। महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम केशव कब से पड़ा? उसने कहा—जन्म के बाद।

महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम नकली है; क्योंकि यह बीच का रखा नाम है। तुम अपना असली नाम बताओ जो स्थायी है। उसने कहा—"तो मेरा असली नाम क्या हो सकता है?' महात्मा ने कहा—'यह तुम जानो।' महात्मा ने पुनः कहा कि अच्छा, तुम दिल्ली में कब से रहते हो? उसने कहा—'जन्म से ही।' महात्मा ने कहा—'जन्म के पहले कहां रहते थे?' उसने कहा—'मैं नहीं जानता।' महात्मा ने कहा—'तुम्हारा पता भी गलत एवं नकली है। परमात्मा के यहां से तो असली नाम एवं पता होने पर ही लौटकर चिट्ठी आती है।' उसने कहा—'तो मेरे असली नाम-पता क्या हैं?' महात्मा ने कहा—'यह तुम जानो।'

अब वह युवक परमात्मा को खोजना छोड़कर अपने असली नाम और पता की खोज करने लगा। महात्माओं के पास जाकर पूछता कि मेरे असली नाम और पता क्या हैं! उसे धीरे-धीरे सत्संग से पता चला कि सबका नामकरण करने वाला जीव नामी है। सारे नाम नकली हैं और जीव असली है। और जीव का स्थायी निवास एवं पता उसका अपना स्वरूप ही है। जीव कहीं भी चला जाये, वह अपने स्वरूप को छोड़कर अलग नहीं हो सकता। "नित पारख प्रकाश में, सोई निज घर जान। बिन घर पाये आपना, परे न यम पहिचान॥"[1] जीव का स्थायी गांव, स्थायी निवास, विश्रामस्थल एवं निधान जीव का स्वरूप एवं स्वरूपस्थिति है।

कितने साधक एवं महात्मा कहलाने वाले लोग भी स्वरूपस्थिति का नाम तक नहीं जानते। वे रात-दिन भगवान, ईश्वर या परमात्मा को खोजते हैं। परन्तु यह सब जीव से हटकर एक शब्द-बवंडर है। भगवान, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की चरितार्थता भी जीव ही में होती है। जीव ही स्वयंप्रत्यक्ष तथ्य है। मनुष्य अपने स्वरूप को न जानकर कहीं ईश्वर, परमात्मा या मोक्ष के नाम पर बाहर भटकता जा रहा है और कहीं विषय-वासनाओं के मोह में भटकता जा रहा है। इन दोनों का परिणाम है वासनाओं

---

1. पंचग्रन्थी।

के कांटों में उलझ जाना। निज चेतनस्वरूप से अलग परोक्ष या प्रत्यक्ष जो कुछ है, सब केवल विषय-वासना है। मन से जो कुछ मानकर उसमें उलझा जाये वह सब वासना ही में उलझना है। वासनाएं कांटे हैं जो जीव को कष्ट देती हैं। हम पांच विषयों के भोगों की इच्छा में भटकते हैं तो वासनाओं के कांटों में उलझे हैं और अपनी आत्मा से अलग परमात्मा या मोक्ष खोजने के भ्रम में पड़े हैं तो यह भी मानो वासनाओं के कांटों में ही उलझना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं—"अगमन खसी कराय" पहले ही पारखी संतों की संगत कर स्वरूप को ठीक से समझ लो और अलग की सारी वासनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। अपना आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप ही अपना गांव है। वही अपना स्थायी निवास-स्थान एवं विश्रामस्थल है। जीव को परम विश्राम अपने स्वरूप में ही मिलेगा। इसका दिशा-निर्देश करने वाला सद्गुरु है।

'बिना रे खेवैया नैया कैसे लागे पार हो।"

साधु-संगति कल्याणकर है।

संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि॥
ओछी संगति कूर की, आठों पहर उपाधि॥ 207॥
संगति से सुख ऊपजे, कुसंगति से दुख होय॥
कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय॥ 208॥

शब्दार्थ—संगति=सत्संग। व्याधि=मन के विकार, मन की पीड़ा। कूर=क्रूर, निर्दय, नालायक, कायर, निकम्मा, मूर्ख। पहर=तीन घंटे का समय। उपाधि=छल, धोखा, झगड़ा। अपनी संगति=सज्जन-संतों की संगत।

भावार्थ—संतों की संगत करो, वे दूसरे के मन के विकार एवं पीड़ा को दूर करते हैं। निर्दय, कायर एवं मूर्ख की संगत करने से मानो चौबीसों घंटे छलावा एवं झगड़े में पड़ा रहना है। सत्संग से सुख उत्पन्न होता है और कुसंगति से दुख होता है, इसलिए कबीर देव कहते हैं कि वहां जाना चाहिए जहां अपनी संगति हो॥ 207-208॥

व्याख्या—मानव-जीवन में संगत का बहुत बड़ा महत्त्व है। अधम-से-अधम लोग भी सज्जनों तथा संतों की संगत से ऊंचे उठ जाते हैं और अच्छे-अच्छे लोग कुसंगत में पड़कर अपना पतन कर लेते हैं। जीवन में जितने दुर्गुण एवं दुर्व्यसन आते हैं, प्रायः कुसंगत के कारण और आदमी ऊपर उठता है सुसंगत के कारण। कोयला में आग न होने से उसको छूने पर वह भले ही न जलाये, परन्तु काला दाग तो लगा ही देता है। इसी प्रकार गलत आदमी का संग करने से हम में तत्काल भले ही दोष न आयें, परन्तु लोगों की दृष्टि से

हम गिर तो जायेंगे ही। एक ने एक से कहा कि मुझे यह बता दो कि वह किसके साथ बराबर उठता-बैठता है, तो मैं बता दूं कि उसके आचरण कैसे हैं। आदमी का मन गीली मिट्टी के तुल्य है। वह जैसा सांचा पाता है, वैसा ढल जाता है। मजबूत मन वाले कम लोग होते हैं जो कुसंगत पाकर उसमें न फिसलें। परन्तु यदि कोई बराबर कुसंगत करता रहेगा तो दृढ़ मन वाला भी फिसल जायेगा। कुसंगत में प्रेम करना ही बुरी बात है। यह अलग बात है कि यदि संयोग से गलत लोगों का संग पड़ जाये, तो सावधान होकर उनके बुरे प्रभाव से अपने आप को बचा ले, और जितना सम्भव हो उनसे अपने आप को शीघ्र अलग कर ले। जो कुसंग में प्रेम करेगा वह पतन से बच नहीं सकता। कुसंगत से प्रेम करना ही अपने पतन को निमंत्रण देना है। जो अच्छे-अच्छे साधक भी अपने पद से गिर जाते हैं, उसमें संग-दोष अर्थात कुसंग ही कारण होता है। बलवान भी कुसंग में प्रेम करने से आज नहीं तो कल, फिसलेगा ही, और कमजोर आदमी भी यदि अच्छी संगत में बना रहे तो वह प्रपंच से बचा रहेगा।

बुराइयों से ज्यादा बुरा एवं पतन में कारण बुरा आदमी है। धूप गरम होती है, परन्तु धूप में तपी बालुका बहुत ज्यादा गरम होती है। बुराइयों में डूबा बुरा आदमी अपनी युक्ति-प्रयुक्ति से समझा-बुझाकर दूसरों को पतित करने में कारण बनता है। कुसंग वह आलंबन है जो मनुष्य के मन में विकार उत्पन्न करता है। सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने कहा है—"शरीर के जिन अंगों को देखने से मन मलिन हो, वह कुअंग है, जिस जगह रहने से मन पर बुरा प्रभाव पड़े वह कुठांव है, जिस मनुष्य की संगत से मन मलिन हो वह कुमनुष्य है, जिस स्मरण में मलिनता आये वह कुमन है, जिस वाणी के बोलने तथा सुनने से मन मलिन हो वह कुवाक्य है, जिस देश में रहने से पतन का भय हो वह कुदेश है, जिसे खाने से उत्तेजना हो वह कुखाद्य है, जिस वस्तु के उपयोग से मन रजोगुणी होकर मलिन हो वह कुवस्तु है, जिन प्राणियों से भय हो वे कुजन्तु हैं, जिस कर्म के करने से मन मलिन हो वह कुकर्म है—ऐसे कुसंग मनुष्य को हमेशा मिलते रहते हैं॥"[1] इनसे सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कबीर ने इस साखी में बताया है कि सदैव साधु की संगत करो। साधु का अर्थ केवल साधुवेषधारी नहीं है। कितने साधुवेषधारी हैं जो दुर्व्यसन, दुर्गुण एवं राग-द्वेष के भंडार बने रहते हैं और निश्चित ही उनकी

---

1. कुअंग कुठाम कुमनुष्य जो, कुमन कुवाक्य कुदेश।
कुखाद्य कुबस्तु कुजन्तु है, कुकरम कुसंग हमेश॥ (मुक्तिद्वार, बंधमोक्ष शतक 100)

संगत मनुष्य के पतन में कारण होती है। अतः साधुवेष हो या न हो, जो शुद्ध बुद्धि वाला एवं पवित्र आचरण वाला है वही साधु है। उसी की संगत करने से मनुष्य को सत्प्रेरणा मिल सकती है। सद्गुरु कहते हैं कि साधु की संगत करो। वे तुम्हारे मन की पीड़ा को हरेंगे। सच्चे साधु-संतों के दर्शन, वचन, संगत एवं वार्तालाप मनुष्य के अज्ञान एवं शोक-मोह का निराकरण करने वाले हैं जिनकी संगत में रहने से मन प्रसन्न रहे, मनोविकार दूर रहें और आत्मशांति रहे, उनकी संगत ही साधु-संगत है।

जब हम क्रूर की संगत करते हैं, निर्दय और निकम्मे व्यक्ति की संगत करते हैं तथा कायर और मूर्ख की संगत करते हैं, तब हमारे जीवन में पदे-पदे छलावा एवं धोखा मिलते हैं और मिलते हैं झगड़ा-द्वन्द्व ! कायरों की संगत से अपने में कायरपन ही तो आयेगा। निकम्मे लोगों की संगत से निकम्मापन आयेगा। गलत लोगों की संगत से हमारे मन, वाणी, कर्म बुरी ओर जायेंगे। जिसका जीवन दूषित हो जायेगा वह अन्दर-बाहर केवल द्वन्द्वग्रसित ही रहेगा। एक पहर में तीन घंटे होते हैं, आठ पहर में चौबीस घंटे। कुसंगत में रहने से चौबीसों घंटे मत्थे पर उपद्रव ही रहता है। उपाधि का अर्थ है धोखा, छलावा एवं उपद्रव। कुसंग करने से यही फल मिलते हैं।

कुसंगति से दुख मिलता है और सुसंगति से सुख मिलता है यह भलीभांति समझकर सदैव सुसंगत में रहना चाहिए। "कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय।" अपनी संगत का अर्थ है अपने जीव के उद्धार के लिए अनुकूल वातावरण। जहां रहने से मन प्रसन्न रहे, वह अपनी संगत है। साखी ग्रन्थ में एक साखी है—"इष्ट मिले औ मन मिले, मिले सकल रस रीति। कबीर तहाँ पर जाइये, यह संतन की प्रीति॥" अच्छी संगत कहीं की भी हो जीव के लिए कल्याणकर है, परन्तु जिस संगत में अपने स्वभाव, रीति, नीति, विचार, संस्कार सब मिलते हैं, वहां जाने तथा रहने में स्वाभाविक सुख होता है।

साधना में निरंतरता सफलता की कुंजी है

जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर॥
कौड़ी कौड़ी जोरि के, पूँजी लक्ष करोर॥ 209॥

शब्दार्थ—ओर=आरम्भ। निबहै=निभना। छोर=अन्त। पूंजी=संचित सम्पत्ति, जमा धन।

भावार्थ—आदमी जिस उत्साह से आरंभ में किसी काम में लगता है यदि उसी उत्साह से अन्त तक उसे निभाता है तो उसमें उसकी सफलता निश्चित है। धीरे-धीरे कौड़ी-कौड़ी जोड़कर ही किसी दिन लाख-करोड़ की

संपत्ति हो जाती है॥ 209॥

व्याख्या—किसी उद्देश्य एवं क्षेत्र में शुरू से आखिर तक एक समान उत्साह से लगे रहने वाले कम लोग होते हैं। इसीलिए जीवन में सफल कम ही लोग होते हैं। साखीग्रन्थ की एक साखी है—"भक्ति भाव भादौं नदी, सबै चली घहराय। सरिता सोई सराहिए, जेठ मास ठहराय।" किसी काम में आरम्भ में उत्साह होता है। आगे चलकर आदमी ठण्डा हो जाता है। विद्या, कला, धन, भक्ति, धर्म, अध्यात्म किसी भी दिशा में यदि उन्नति करना है तो उसमें शुरू से आखिर तक उत्साहपूर्वक एक समान लगे रहना चाहिए।

एक संगीतज्ञ के संगीत से प्रभावित होकर एक आदमी ने कहा कि मैं भी चाहता हूं कि आपकी तरह बड़ा संगीतज्ञ बनूं। संगीतज्ञ ने कहा कि यह कोई बड़ी बात नहीं है, लगातार उत्साहपूर्वक तीस-पैंतीस वर्षों तक लगे रहिए, आप भी अच्छे संगीतज्ञ हो जायेंगे। आदमी किसी का कलात्मक तबलावादन, हारमोनियमस्वर, गायन, चित्रकला, वक्तृता, लेखनसम्पन्नता, धनसम्पन्नता, आध्यात्मिकसम्पन्नता आदि देखता है तो चाहता है कि वह भी उन्हीं जैसा हो जाये तो बहुत अच्छी बात होती। परन्तु वह यह नहीं समझता कि इन सब उपलब्धियों के पीछे उन लोगों ने कितनी तपस्याएं एवं साधनाएं की हैं। एक-एक बूंद गिरते-गिरते घड़ा भरता है, इसी प्रकार धन, विद्या और धर्म का थोड़ा-थोड़ा संग्रह होते-होते बहुत हो जाते हैं।

जो अपने निश्चित लक्ष्य को पाने के लिए लगातार दीर्घकाल तक एक समान श्रम कर सकता है वही सफल हो सकता है। संतों की संगत पाकर कुछ लोग शुरू-शुरू में बहुत ज्यादा भक्तिभावना में ओतप्रोत हो जाते हैं, परन्तु थोड़े दिनों में वे उसे प्रायः भूल जाते हैं। कितने लोग उत्साहपूर्वक वैराग्य और साधना में लगते हैं, परन्तु उनका उत्साह ज्यादा दिन तक नहीं टिकता। ऐसे लोग पुनः मन की मलिनता में घिर जाते हैं। तब वे कहते हैं कि वैराग्य, भक्ति, साधना, अध्यात्म सब बकवास है। जिस किसान को केवल फसल पाने ही में आनंद आता है, किसानी में नहीं; जिस व्यापारी को मुनाफा में ही आनन्द आता है, व्यापार के श्रम में नहीं तथा जिस साधक को साध्य पाने में ही आनन्द है, साधना में नहीं; वह न सच्चा किसान है, न सच्चा व्यापारी है और न सच्चा साधक। अतएव जिसको श्रम एवं साधना में आनन्द आता है वही किसी दिशा में सिद्धिलाभ में सफल होता है। त्याग, तप और अनवरत श्रमपूर्वक साधना, यही सफलता की कुंजी है। कायर आदमी इन सबसे डरता है और इनसे डरने वाला कभी किसी दिशा में भी सफल नहीं हो सकता। शिक्षित नवयुवक साधक घर छोड़कर विरक्ति-मार्ग में आते हैं। उनसे कहा जाता है कि तुम सेवाकार्य के बाद जितना समय निकाल पाओ

स्वाध्याय में लगाओ; परन्तु सभी युवक पूरे मन तथा पूरे समय को स्वाध्याय में नहीं लगा पाते और ऐसा किये बिना वे कभी भी बहुज्ञ तथा विद्वान नहीं हो सकते। इसी प्रकार यदि वे तत्परतापूर्वक वैराग्य तथा साधना में नहीं लगते तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते।

सद्गुरु ने इस साखी में पहली पंक्ति कही है "जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर"। इस पंक्ति के सारे शब्द वैज्ञानिक तथ्य से पूर्ण हैं। मनुष्य किसी दिशा की ओर में लगता है तो उसे चाहिए कि वह उसे छोर तक निभाये। 'ओर' आरम्भ है, 'छोर' अन्त है, 'लगना' उत्साह से काम शुरू करना है और 'निभाना' अन्त तक उत्साहपूर्वक काम पूरा करना है। किसी दिशा में सफलता की यही कुंजी है। परन्तु यह सब करने में तप, त्याग, श्रम, साधना के साथ समय भी लगता है। कोई चाहे कि खेत में बीज बोकर तुरन्त फसल काट ले, तो यह उसका बालकपन ही है। सब कुछ करने के साथ फल पाने में धैर्य रखना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गीताकार ने कहा है कि कर्म तो करो, परन्तु फल पाने की इच्छा ही न करो। यह बात अटपटी लगती है। जिसे फल पाने की इच्छा की नहीं होगी वह कर्म क्यों करेगा ! कर्म किया ही जाता है फल पाने के लिए। वस्तुतः गीताकार कहते हैं कि तुम किसी भी कर्म के फल पाने की बेताबी छोड़ दो। उसके विषय में धैर्य रखो, अन्यथा तुम अपने कर्म व्यवस्थित ढंग से नहीं कर पाओगे। तुम आज बीज बोकर कल उसे खोदकर देखोगे कि वे उग रहे हैं कि नहीं। इस प्रकार बीज को खोदकर देखने से बीज अंकुरित ही नहीं होंगे, तो फल कहां से आयेंगे ! लगन से कर्म करते चलो और धैर्य रखो। समय आयेगा और फल अपने आप मिलेगा।

सद्गुरु कहते हैं—"कौड़ी कौड़ी जोरि के, पूंजी लक्ष करोर"। इस पंक्ति में गरीब, दीन तथा दुर्बल साधकों के लिए भी उन्नति की अनन्त सम्भावनाएं एवं आशा-विश्वास की प्रखर किरणें हैं। जब बच्चा पढ़ने जाता है, तब उसे दस बार वर्णमाला का परिचय कराने पर भी वह उसे भूल-भूल जाता है। लगता है कि वह उसे याद ही नहीं कर पायेगा। परन्तु वही बच्चा एक लम्बे समय के अन्तराल में किसी महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में गूढ़-गूढ़ विषयों पर व्याख्यान देता है। जब कुआं खोदना तथा घर बनाना शुरू किया जाता है, तब विश्वास भी नहीं होता है कि पानी निकल आयेगा और घर पूरा बन जायेगा। परन्तु एक दिन वे काम पूरे हो जाते हैं। किसी भी दिशा में सम्पन्नता एकाएक नहीं होती। जो साधक निरन्तर सेवा, स्वाध्याय, साधना की त्रिवेणी में निमज्जन करता है वह धीरे-धीरे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं इन सब के फल रूप में परमशांति की उपलब्धि करता है। सही दिशा में निरन्तर उत्साहपूर्वक श्रम करने से सफलता में सन्देह करने की बात ही नहीं है।

भौतिक क्षेत्र में कभी असफलता हो भी सकती है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में सच्ची निष्ठा से निरन्तर श्रम करने के बाद सफलता निश्चित है। बस तप, त्याग, श्रमपूर्वक साधना और धैर्य होना चाहिए और इन सब को आजीवन चलते रहना चाहिए।

जीवन की क्षणभंगुरता

आजु काल दिन कैइक में, अस्थिर नाहिं शरीर॥
कहहिं कबीर कस राखिहो, काँचे बासन नीर॥ 210॥

शब्दार्थ—कैइक=कई एक, कुछ दिनों में। बासन=बरतन।

भावार्थ—आज, कल या कुछ दिनों के बाद शरीर छूट जायेगा, क्योंकि वह स्थिर रहने वाला नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरकर कैसे रख सकते हो ! इसी प्रकार इस नाशवान शरीर में जीव ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता॥ 210॥

व्याख्या—साधना की दृष्टि से मानव जीवन सर्वोत्तम है, परन्तु भौतिक दृष्टि से देखा जाये तो यह रोगों का घर, कूड़ा-कचड़ा तथा अत्यन्त क्षणभंगुर है। इस मानव जीवन में आकर यथासम्भव दूसरे की सेवा और अपनी आत्मशांति यही जीवन का सार है। बाकी तो केवल द्वन्द्व है।

मिट्टी के कच्चे बरतन में यदि पानी भरकर रखा जाये तो वह कब तक टिकेगा ! हमारे शरीर की यही दशा है। यह आजकल में या कुछ दिनों में जाने वाला है। पानी के बुलबुले, ओस के कण और बादल की पुतली के समान इसके बिनसने में देरी नहीं लगती। बिजली की चमक के समान जवानी और जीवन दोनों गायब हो जाते हैं। विमोहित मानव दो दिन की जवानी की चमक-दमक में मतवाला बनकर अपनी सावधानी खो देता है। जिस शरीर का एक क्षण के लिए विश्वास नहीं किया जा सकता, उसे वह भूलवश अजर-अमर मान लेता है। जवान-जवान लोग भी देखते-देखते भूलुंठित हो जाते हैं। एक बड़े डॉक्टर साहेब फोन पर बात करते-करते लुढ़क गये और सदा के लिए बिदा हो गये। एक वकील साहब कुर्सी पर बैठे अपने मुवक्किल से बात कर रहे थे, उनकी हृदयगति रुक गयी और वे मर गये। एक करोड़पति सेठ जी कार से अपने दफ्तर जा रहे थे, बीच में एक्सीडेंट हो गया और वे वहीं ढेर हो गये। यह सब देहधारियों की सहज गति है।

विमोहित मानव भोगों का अत्यन्त शृंगार करता है। वह सोचता है कि इन सारे भोगों को मैं भोगूंगा, परन्तु बीच में उसे काल उठा लेता है और उसके सारे-के-सारे भोग धरे रह जाते हैं। देहाभिमानी आदमी दीन होता है। जैसे

बिल्ली चूहे को अचानक धर दबोचती है, वैसे काल मनुष्य को अचानक धर दबोचता है। मूढ़ मानव जब तक जीता है अहंकार में इतराता रहता है। वह अपने आगे किसी को नहीं गिनता। वह सबको टेढ़ी-सीधी सुनाता रहता है। उसके ख्याल से सब मर जायें तो मर जायें परन्तु वह नहीं मरेगा। परन्तु उसको आभास भी नहीं होता है कि आज मैं नहीं रह जाऊंगा और उसे काल अचानक उठा लेता है। जितना सम्भव होता है आदमी अपने आप को भूल-भुलैया में रखना चाहता है।

जो विवेकी हैं, सावधान हैं, वे शरीर को विचार से पहले ही छोड़े रहते हैं। जो सब समय शरीर को मृत्युमय देखता है उससे न अपराध होता है और न वह अशांत होता है। उसके सामने मौत आने पर वह आंदोलित नहीं होता, क्योंकि वह उसके लिए पहले से ही तैयार है। हमें भी चाहिए कि हम हर समय मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार रहें।

मोक्ष के माध्यम

बहु बन्धन से बाँधिया, एक बिचारा जीव ॥
की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावै पीव॥ 211॥

शब्दार्थ—पीव=प्रियतम, सद्गुरु।

भावार्थ—बेचारा एक जीव बहुत बंधनों से बंधा है। या तो यह स्वयं अपने विवेक-बल से बंधनों से मुक्त हो जाये, या सद्गुरु इसको भवजाल परखाकर उससे छुड़ा दें॥ 211॥

व्याख्या—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, विकलता अनेक मानसिक बन्धन हैं। भूत-प्रेत, देवी-देवता, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, दिशा-शूल, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र तथा इसी प्रकार अनेक भ्रांतियों के बन्धन हैं। वर्ण-आश्रम, जाति-पांति, ऊंच-नीच आदि मिथ्या मान्यताओं के अनेक लौकिक बंधन हैं। शास्त्रों के महाजाल हैं जिनमें असंख्य अदृश्य कल्पनाओं की भरमार है। अपनी आत्मा से अलग मोक्ष और परमात्मा पाने का महाभ्रम का बंधन है। गिनाकर कहां तक कहा जाये, जीव असंख्य बंधनों में बंधा है। सभी बन्धनों को हम एक शब्द में व्यक्त कर सकते हैं वह है 'मान्यता'। जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। हम अपनी चेतना के अलावा जितनी मान्यताएं बनाते हैं वे सब हमारे लिए बंधन बनती हैं। कुछ मान्यताएं व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक होती हैं। जैसे शरीर का कुछ नाम रखना पड़ता है, वैसे ही अन्य कुछ मान्यताएं होती हैं। परन्तु व्यवहार चलाने के लिए मान्यताएं और अविवेक से बनी दृढ़ मान्यताएं दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अपने स्वरूप से अलग हम जितनी दृढ़ मान्यताएं करते हैं वे ही हमारे बंधन

का कारण बनती हैं।

सद्गुरु ने इन अपार बंधनों के बीच में पड़े हुए जीवों को बेचारा शब्द से याद किया है। बेचारा फारसी शब्द है। चारा कहते हैं उपाय या इलाज को। बेचारा कहते हैं निरुपाय को, विवश को। यह जीव बहुत-से बंधनों में जकड़कर निरुपाय-सा हो गया है। इसे न अपने स्वरूप का बोध है और न बंधनों की परख। इसलिए यह लाचार बना दुख भोग रहा है। साधारण-सी बात है कि पढ़े-लिखे समझदार आदमी भी बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, शराब आदि निरर्थक एवं हानिकारी चीजों को खाने-पीने की आदत बना लेते हैं, तो वे उनके बिना रह नहीं पाते। वे उन व्यसनों के कारण दुख भोगते हुए भी उन्हीं में घसिटते जाते हैं। जब उन्हें स्व-विवेक से या किसी के चेताने से उनमें दृढ़ ग्लानि होती है तभी वे उनसे अपने आप को मुक्त कर पाते हैं।

बंधनों से मुक्त होने के लिए सद्गुरु ने दो उपाय बताये हैं, पहला है अपना विवेक-बल और दूसरा है गुरु का उपदेश-बल। इसका अर्थ यही हो सकता है कि या तो मनुष्य अपने विवेक-बल से अपने स्वरूप को समझ ले तथा अपने बंधन रूप सारी जड़-मान्यताओं एवं आसक्तियों को समझ ले और उनका त्याग कर दे, या तो कोई ऐसा योग्य बोधवान सद्गुरु उसे मिले और सब प्रकार की परख देकर उसे बंधनों से मुक्त होने के लिए प्रेरित करे और वह इस प्रकार गुरु का बल पाकर अपने आप को भव-बन्धनों से मुक्त करे।

हर हालत में मनुष्य को बंधनों का त्याग स्वयं ही करना पड़ेगा, निर्देश अपने विवेक-बल का हो या सद्गुरु का हो। वैसे हर साधक को स्वविवेक बल की और बाहरी गुरु के उपदेश की आवश्यकता पड़ती है। बिना बाहरी सहयोग के, बिना किसी-न-किसी प्रकार गुरु की सहायता के मनुष्य का विवेक जग नहीं सकता; और चाहे जितने बड़े वैराग्यवान एवं बोधवान सद्गुरु मिल जायें, परन्तु अपने विवेक के बिना कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता। कहा जाता है कि बुद्ध और कबीर के कोई गुरु नहीं थे। इन्होंने अपने विवेक-बल से ही अपना पथ निर्धारित किया था, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि इन युगपुरुषों को उत्तम संस्कार देने वाले इनके माता-पिता, अध्यापक, अनेक मनुष्य, मनुष्यों के समाज रहे हैं। बुद्ध ने सांख्यवादी महात्मा आलार कालाम और अनेक ऋषियों से बहुत कुछ सीखा होगा, और किंवदंती के अनुसार कबीर ने रामानंद आदि महात्माओं से अनेक निर्देश ग्रहण किये होंगे। जितने जिज्ञासु होते हैं वे अनेक मनुष्यों, प्राणियों, पदार्थों तथा घटनाओं से प्रेरणा लेते हैं। किसी की अच्छाइयों से ही नहीं, गलतियों से भी अच्छी प्रेरणा ले लेते हैं। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कोई

महापुरुष अन्य से कोई सहायता लिये बिना उच्चतम बन गया है। सभी महापुरुष अपनी पूर्वपरम्परा से बहुत कुछ पाते हैं। यह भी ठीक है कि बुद्ध और कबीर जैसे स्वतन्त्रप्रज्ञ महापुरुष परंपरा से हटकर स्व-विवेक से चलते हैं; परन्तु यह भी परम सत्य है कि वे अपनी परंपरा को पूर्ण रूप से छोड़ नहीं देते हैं। कोई भी अपनी पूर्वपरंपरा को छोड़कर जी भी नहीं सकता। यदि हम अपनी पूर्वपरंपरा को छोड़ दें तो बोल भी नहीं पायेंगे। पूर्व निर्धारित स्वर और व्यंजनों में ही तो हम बोलते हैं। पूर्वप्रवाहित परंपरा में ही तो हम जीवन जीने के अनेक कायदे, बरतने की अनेक संज्ञाएं और बोध के अनेक परिचय प्राप्त करते हैं।

सद्गुरु ने यहां "की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावे पीव" कहकर इन दोनों की विशेषताओं पर बल दिया है। यहां का अभिप्राय यह है कि कोई ऐसा मुमुक्षु होता है जिसे कोई ऐसा सद्गुरु नहीं मिलता कि जिसके निर्देश तथा आदर्श को लेकर वह अपने पूरे आध्यात्मिक पथ पर चले। उसे ऐसा विश्वसनीय गुरु मिला ही नहीं कि वह अपने आप को शिशु बनाकर उनकी गोद में डाल दे और उनके निर्देश पर अपना कल्याण कर ले। परन्तु संवेदनशील और निष्पक्ष दृष्टिवाला होने से उसने अपने विवेक बल का पूर्ण उपयोग किया और शास्त्रगत, लोकगत, परंपरागत, जातिगत सारे अंधविश्वासों, गलत बातों एवं अविवेकपूर्ण धारणाओं को अस्वीकारते हुए अपना सत्य पथ निर्धारित कर लिया और उस पर चलकर बंधनों से अपने आप को मुक्त कर लिया। बुद्ध और कबीर दोनों के विषय में ऐसी घटनाएं घटी हैं। उन्होंने आलार कालाम तथा रामानंद से भले ही बहुत-कुछ या थोड़ा-बहुत सीखा हो तथा अन्य से बहुत-कुछ सीखा हो; परन्तु इन्हें कोई ऐसा पूर्ण गुरु तो नहीं ही मिला, जिनकी गोद में ये अपने आप को डालकर निश्चिंत हो जाते।

दूसरे वे मुमुक्षु हैं जिन्हें बोध-वैराग्य संपन्न सद्गुरु मिल गये हैं और उन्होंने अपने आप को उनकी शरण में डालकर उनके आदेश, निर्देश तथा आदर्श के अनुसार रहकर अपना कल्याण कर लिया है। जिनके बंधन कटते हैं वे इन्हीं दोनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति में रहने वाले होते हैं।

ऐसे भी साधु-भक्त तथा साधक कहलाने वाले होते हैं जो स्वयं को सिद्ध घोषित करते फिरते हैं, अतएव वे किसी के सामने झुकना नहीं चाहते, किसी का बनकर, किसी के अनुशासन में रहकर चलना नहीं चाहते। उनमें विवेक तो कुछ नहीं, वे देह-स्वार्थ और अहंकार की मूर्ति होते हैं। अतएव ऐसे लोग साधु-भक्त और साधक नाम धराकर अपने आप को छलते हैं और समाज को धोखा देते हैं।

दूसरे ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने आप को किसी गुरु के अधीन बनाये

तो रखते हैं, परन्तु वे गुरु अधूरे होते हैं और स्वयं शिष्य भी अधूरे होते हैं ऐसे लोग बंधन नहीं काट सकते। हां, यदि वे ईमानदार हैं तो कुछ-न-कुछ शुभ मार्ग में चलते रहते हैं।

विशेष सद्गुरु की शरण लिये बिना केवल अपने विशेष विवेक-बल से ही सारे भव-बंधनों को तोड़कर मुक्ति प्राप्त करना सबके लिए सरल नहीं है। यह घटना कभी-कभी किसी-किसी विशेष पुरुष ही में घट सकती है। इसलिए कबीर साहेब ने सद्गुरु की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने कहा—"जाको सद्गुरु न मिला, व्याकुल दहुँदिश धाय। आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥"[1]

विशेष सद्गुरु के बिना किसी-किसी को बोध हो जाता हौ, इसका संकेत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रन्थी में कई जगह किया है। एक जगह का उदाहरण लें जहां कबीर देव के विषय में स्वतः बोध होने के संकेत हैं—

देखि अनेक रीति अकुलाना। निज शोधन तब कियो सुजाना॥
ठहरि यथारथ पारख कीन्हा। लहत प्रकाश स्वतः पद चीन्हा॥
स्वतः दृष्टि जब जेहि भई भाई। तेई गुरुपद ठहर प्रखाई॥
पारख में ठहरे बुधिवन्ता। देखि दशा निज नाहिन हन्ता॥[2]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब द्वारा प्रमाणित श्री प्रेम साहेब का लेख है—

"(1) अखण्ड सुख की इच्छा करना, (2) दुख में कष्टित होना, (3) अनेक जन्मों के शुभ संस्कार समय पर उदित होना, (4) विषयों में सुख मानकर भोगते हुए बार-बार असंतुष्ट ही रह जाना, (5) मोक्ष की इच्छा करना, (6) अनेक मनुष्य तथा अनेक जन्तुओं के संग से अनेक प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होना, तथा (7) स्वयं अपर प्रकाश; ये सात योग्यताएं जिस घट में एकत्र हुईं वे स्वयं जंगल में बूटी शोध लेने वत स्वतः पारख पद का प्रकाश किये हैं।"[3]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब और कहते हैं—

अबोध से होवै बोध है, जीव अबन्ध के हेत।
स्वयं गुरू ह्वै जात है, पाय योग्यता जेत॥
बोध मिलै जेहि और से, तेहि को और से भेष।
स्वयंबोध को प्राप्त जो, सो तो स्वयं सुभेष॥

---

1. बीजक, साखी 245।
2. पंचग्रंथी, गुरुबोध।
3. मुमुक्षुस्थिति, 17वीं शिक्षा।

झूठ इष्ट लखि जाहि जब, नहिं तेहि भेष सोहान।
सत्य प्रिये सिद्धान्त लखि, तेहि का भेष मिठान॥[1]

भागवत में कृष्ण-उद्धव संवाद में श्री कृष्ण से कहलाया गया है—"इस संसार में जो विवेकी पुरुष हैं वे संसार के जड़ और चेतन तत्त्व पर विचार करके कि मैं कौन हूं तथा जगत क्या है, अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समस्त भवबंधनों से स्वयं मुक्त कर लेते हैं॥"[2]

जीवहत्या, तीर्थ और दान के सम्बन्ध

जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण॥
हत्या कबहुँ न छूटिहैं, जो कोटिन सुनो पुराण॥ 212॥
जीव घात ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान॥
तीरथ गये न बाँचिहो, जो कोटि हीरा देहु दान॥ 213॥

शब्दार्थ—मति=मत, नहीं। बापुरा=गरीब, बेचारा, विवश। घात=चोट, हत्या। कान=बदला।

भावार्थ—हे मनुष्यो! सभी देहधारी जीव बेचारे स्वयं दुखी हैं, उनको चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। सभी देहधारियों को प्राण एक समान प्रिय हैं, कोई तकलीफ नहीं चाहता। चाहे तुम करोड़ों पुराण सुनो, हत्या करने के पाप से कभी नहीं मुक्त हो सकते हो जब तक उसके फल के भोगों को भोग नहीं लोगे। अतएव किसी जीव को चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। जिनको तुम चोट पहुंचाते हो वे भी तुमसे बदला लेते हैं। तुम जीव-हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सकते चाहे तीर्थ में नहाओ और चाहे करोड़ों हीरे का दान करो॥ 212-213॥

व्याख्या—सामान्य तो सामान्य ही है, कितने धार्मिक कहलाने वाले होते हैं जो मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों को मारकर खाने की वस्तु समझते हैं। शायद वे मनुष्य को भी मारकर खाने की वस्तु समझते, परन्तु मजबूरी यह है कि मनुष्य बलवान प्राणी है। उसे मारकर खाना सरल नहीं है। इसलिए शायद उसने मनुष्यों को अवध्य तथा अखाद्य माना। चीता, सिंह आदि मांसाहारी प्राणी हैं इसलिए वे प्राणियों को मारते तथा खाते हैं; परन्तु वे केवल अपने पेट भरने के लिए ही मारते हैं, किन्तु हिंसक आदमी ऐसा जानवर है जो मूलतः शाकाहारी है, परन्तु वह अपने जीभ-स्वाद के लिए प्राणियों को मारता

---

1. सत्यनिष्ठा, गुरुनिर्णय, साखी 7, 10, 11।
2. प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ श्रीमद्भागवत, 11/7/19॥

है और केवल अपने पेट भरने के लिए ही नहीं, किन्तु प्राणियों की हत्या करके वह उनकी लाशों की राशि इकट्ठा करता है।

कितने चतुर लोग ईश्वर तथा देवी-देवताओं के नाम पर जीवों को मारकर खाते हैं और कहते हैं कि इसमें पाप नहीं पड़ता। उन्होंने उस जीवहत्या के नाम कुर्बानी तथा बलि रख लिये हैं; परन्तु न तो नाम बदलने से जीवहत्या के पाप से मुक्ति मिलेगी और न तथाकथित ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम लेने से। जीवहत्या एक क्रूरता है जो मनुष्य के मन को क्रूर बनाता है। इसे हम मांसाहारी तथा शाकाहारी प्राणियों के स्वभाव से समझ सकते हैं। शाकाहारी प्राणी सरल होते हैं और मांसाहारी क्रूर।

सद्गुरु कबीर अहिंसा के परम पुजारी हैं। वे मानव तथा मानवेतर प्राणियों को एक समान प्राणधारी मानकर सबके साथ प्रेम एवं दया का व्यवहार करना उचित समझते हैं। वे कहते हैं कि शक्ति चले तक किसी को कष्ट न दो। "जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण" वे कहते हैं कि सभी जीवों को एक समान अपने प्राण प्रिय हैं। कोई पीड़ा नहीं चाहता अतएव किसी को पीड़ा देना मानवता के विरुद्ध है। यदि हम किसी को पीड़ा देंगे, तो वह हमसे बदला लेना चाहेगा। मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणी भी अपने सताने वालों से सावधान रहते हैं और अवसर आने पर वे बदला लेने का प्रयास करते हैं। "बहुरि लेत वै कान" एक स्वाभाविक तथ्य है तथा इसका अर्थ जन्मांतर में बदला लेने के विश्वास पर भी निर्भर है। जन्मांतरवाद के सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिसकी हत्या की गयी है यदि वह संसारीबुद्धिवाला है तो वह जन्मांतर में अपने हत्यारे की हत्या करके बदला लेता है। वस्तुतः वह बदला ले या न ले, हत्यारा अपने पापकर्म के वशीभूत होकर स्वयं दुख पायेगा। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि जो दूसरे को कष्ट देगा वह कष्ट पायेगा। हत्यारे का स्वभाव ऐसा क्रूर बन जाता है कि वह अपने क्रूर संस्कारों द्वारा स्वयं कष्ट पाता है।

लोगों ने यह भी ढकोसला बना रखा है कि चाहे जितने हत्यादि पाप किये गये हों, परन्तु यदि पण्डितों से पुराण सुन लिये जायें, तीर्थ यात्रा कर ली जाये और ब्राह्मणों को हीरे, जवाहरात, अन्न, वस्त्रादि के दान कर दिये जायें, तो सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। परन्तु यह छलावा है, चालाक लोगों द्वारा भोले लोगों को मूर्ख बनाने के तरीके हैं। कबीर देव कहते हैं कि हत्या करने के पाप के फल-भोग से तुम नहीं बच सकते हो चाहे करोड़ों पुराण सुनो, करोड़ों तीर्थों में घूमो एवं करोड़ों हीरे का दान करो।

लहसुन, प्याज खाकर उसकी दुर्गंधी की डकार से नहीं बचा जा सकता, चाहे कितने ही गंगास्नान, दान, पूजा-पाठ आदि किये जायें। इसी प्रकार

किसी प्राणी की हत्या कर उसके पाप से नहीं बचा जा सकता, चाहे जितने पुराण-श्रवण, दान एवं तीर्थ किये जायें। इसलिए सबसे बड़ा पुण्य है अहिंसा-धर्म।

तीरथ गये तीन जना, चित चंचल मनचोर॥
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दश और॥ 214॥
तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राक्षस होय पछिताय॥ 215॥
तीरथ भई विष बेलरी, रही युगन युग छाय॥
कबिरन मूल निकन्दिया, कौन हलाहल खाय॥ 216॥

शब्दार्थ—मन दश=दस मन, दसों इन्द्रियों के मानसिक विकार। राक्षस=क्रूर प्राणी। बेलरी=बेलि, लता। मूल=जड़। निकन्दिया=नष्ट किया। हलाहल=भयंकर विष।

भावार्थ—हत्यादि पापकर्म करके चित्त के चंचल, मन के कपटी और स्वभाव के चोर ये तीन लोग तीर्थ करने गये, परन्तु ये अपने किये हुए एक पाप को भी तो काट नहीं सके, बल्कि दस मन पाप और लाद लिये, क्योंकि तीर्थों के बल पर इनको पाप करने की छूट मिल गयी, अथवा तीर्थों में जाकर इनके दसों इन्द्रियों से उत्पन्न मानसिक विकार बढ़ गये॥ 214॥ ऐसे लोग जो तीर्थ में गये वे मानो ठंडे पानी में नहाकर और अपने पाप के प्रवाह में बहकर मर गये। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! ऐसे कुकर्मी लोग तामसी योनि में जाकर दुख भोगते रहेंगे॥ 215॥ मिथ्या महिमा से मंडित तथा पाप काटने के ठेकेदार बने तीर्थ विष की लता हो गये, और बहुत काल से मनुष्यों के मन पर छाये हुए हैं। विवेकियों ने तो इसकी जड़ ही खोदकर नष्ट कर दी है, क्योंकि विष खाकर कौन मरे! अर्थात तथाकथित तीर्थों के धोखे में कौन पाप करे!॥ 216॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद[1] में तीर्थ शब्द आया है जिसका अर्थ पथ एवं सड़क है। संस्कृत कोशकार भी तीर्थ का पहला अर्थ मार्ग, सड़क, रास्ता, घाट[2] करते हैं। सम्भवतः वैदिक युग में तीर्थों का निर्माण नहीं हुआ था। भारतत्न महामहोपाध्याय डॉ. वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि तीर्थ तीन विशेषताओं को लेकर निर्मित होते हैं—"स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी तपःपूत ऋषि या

1. ऋग्वेद 1/169/6; 1/173/11; 4/29/3।
2. वामन शिवराम आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश।

मुनि के वहां (स्नान करने, तप-साधना करने आदि के लिए) रहने के कारण।"[1] सार यह है कि नदी-पर्वत आदि की विलक्षण प्राकृतिक छटा की भूमि एवं महापुरुषों की जन्म एवं कर्मस्थली पवित्रस्थल मान लिये जाते हैं और उन्हें पीछे तीर्थ कहा जाने लगता है। किसी समुद्र, नदी, नदियों के संगम, पर्वत आदि के पास जाने पर मन प्रसन्न होता है और युगपुरुष तथा पवित्र पुरुषों की जन्मस्थली एवं तपःस्थली पर जाने पर मन को सत्प्रेरणा मिलती है। अतः ऐसे स्थलों को तीर्थ नाम देकर वहां जाना-आना अच्छा है। भारत के भिन्न-भिन्न कोनों में हमारे पूर्वजों ने तीर्थ कायम किये थे जिससे लोग कभी-कभी वहां की यात्रा करें। इससे उनमें ज्ञान बढ़ेगा, त्याग बढ़ेगा, घर-परिवार का मोह घटेगा, दान-परोपकार में रुचि बढ़ेगी, अपने देश के विभिन्न वर्गों के मनुष्यों, बोलियों, रीति-रिवाजों, धार्मिक संस्कारों, कमजोरियों एवं अच्छाइयों का ज्ञान होगा, राष्ट्रीय भावना बढ़ेगी। लगेगा कि हम अनेक वर्गों, संस्कारों, बोलियों आदि में विभाजित होकर भी एक हैं। अतएव इन सब दृष्टिकोणों को लेकर देश का पर्यटन हर देशवासी को करना चाहिए। पर्यटन स्थलों पर जो यात्रियों को रहने, बसने, सुरक्षा आदि की सुविधा दें, यात्रियों को उन्हें पारिश्रमिक भी देना चाहिए। इन दृष्टिकोणों से तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों का भ्रमण करना अच्छा है।

परन्तु तीर्थों की दशा बहुत बिगड़ गयी है। तीर्थों के पंडित-पुजारी एवं पंडों ने पुराकाल से ही तीर्थों की महिमा अतिशयोक्तिपूर्वक बढ़ा डाली है। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' लिखने वाले डॉ. वामन काणे लिखते हैं—"तीर्थों में स्थायी रूप से रहने वाले विशेषतः तीर्थ-पुरोहितों (पण्डों) ने दान-लाभ से उत्तेजित होकर संदिग्ध प्रमाणों से युक्त बहुत-से माहात्म्यों का नाम जोड़ दिया।[2]...पुराणों, माहात्म्यों एवं निबंधों के लेखकों में एक मनोवृत्ति यह भी रही कि वे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण विस्तार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी एक तीर्थ के ही विषय में पढ़े और उसके विषय में उल्लिखित प्रशस्तियों पर ध्यान न दे तो वह ऐसा अनुभव कर सकता है कि एक ही तीर्थ की यात्रा से इस जीवन एवं परलोक में उसकी सारी अभिलाषाएं पूर्ण हो सकती हैं और काशी-प्रयाग जैसे तीर्थों में जाने के उपरांत उसे न तो यज्ञ करने चाहिए, और न दान आदि अन्य कर्म करने चाहिए। कुछ अनोखे उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं। वनपर्व (82/26-27) में यहां तक आया है कि देव लोगों एवं ऋषि लोगों ने पुष्कर में सिद्धि प्राप्त की और जो भी कोई वहां स्नान करता है एवं श्रद्धापूर्वक देवों एवं अपने पितरों की पूजा करता है

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1301।
2. वही, पृ. 1309।

वह अश्वमेध करने का दस गुना फल पाता है। पद्मपुराण (5वां खण्ड, 27/78) ने पुष्कर के विषय में लिखा है कि उससे बढ़कर संसार में कोई अन्य तीर्थ नहीं हैं। वनपर्व (83/145) ने पृथूदक की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि कुरुक्षेत्र पुनीत है, सरस्वती कुरुक्षेत्र से अधिक पुनीत है और पृथूदक सभी तीर्थों में उच्च एवं पुनीत है। मत्स्यपुराण (186/11) ने कतिपय तीर्थों की तुलनात्मक पुनीतता का उल्लेख यों किया है—'सरस्वती का जल तीन दिनों के स्नान से पवित्र करता है, यमुना का सात दिनों में, गंगा का जल तत्क्षण, किन्तु नर्मदा का जल केवल दर्शन से ही पवित्र करता है।' वाराणसी की प्रशस्ति में कूर्मपुराण (1/31/64) में आया है—'वाराणसी से बढ़कर कोई अन्य स्थल नहीं है और न कोई ऐसा होगा ही।' अतिशयोक्ति करने की बद्धमूलता इतनी आगे बढ़ गयी कि लोगों ने कह दिया कि आमरण काशी में निवास कर लेने से न केवल ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, प्रत्युत वह जन्म-मरण के न समाप्त होने वाले चक्र से भी बच जाता है और पुनः जन्म नहीं लेता। यही बात लिंगपुराण (1/92/63 एवं 94) ने भी कही है। वामनपुराण में आया है—चार प्रकार से मुक्ति प्राप्त हो सकती है; ब्रह्मज्ञान, गयाश्राद्ध, छीनकर या भगाकर ले जायी जाती गायों को बचाने में मरण, कुरुक्षेत्र में निवास। जो कुरुक्षेत्र में मर जाते हैं वे पुनः पृथ्वी पर लौटकर नहीं आते। काशी में निवास मात्र की इतनी प्रशंसा के विषय में मत्स्यपुराण (181/23), अग्निपुराण (112/3) एवं अन्य पुराणों ने इतना कह डाला है कि काशी में जाने के उपरांत व्यक्ति को अपने पैरों को पत्थर से कुचल डालना चाहिए (जिससे कि वह अन्य तीर्थों में न जा सके) और सदा के लिए काशी में ही रह जाना चाहिए।"[1] वामन काणे जी आगे लिखते हैं—"धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में तीर्थ पर जो साहित्य है वह अपेक्षाकृत सबसे अधिक विशद है। वैदिक साहित्य को छोड़कर महाभारत एवं पुराणों में कम से कम 40,000 (चालीस हजार) श्लोक तीर्थों, उपतीर्थों एवं उनसे संबंधित किंवदंतियों के विषय में ही प्रणीत हैं।"[2]

पुराणों में तीर्थों की इतनी महिमा बढ़ायी गयी कि आदमी चाहे जितना पाप करे, परन्तु तीर्थ में जाने, नदी-स्नान करने एवं देव-दर्शन से सब पाप कट जाते हैं। कहा गया कि—"नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन करने से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से तो हजारों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 1309-1310।
2. वही, पृष्ठ 1318।

नाम लेने से तीन जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है।"[1] वनपर्व में कहा गया— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीर्थ में स्नान करने से फिर जन्म नहीं लेते। इतना ही नहीं, स्त्री हो या पुरुष, उसने जीवन में जितना भी पाप किया हो पुष्कर में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं॥[2]

गोस्वामी जी ने कहा—

आकर चारि जीव जग अहहिं। कासी मरत परम पद लहहीं॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं॥
जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं॥
जो गंगा जल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुकुति नर पाइहिं॥
मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा॥

अर्थात "चारों खानि के देहधारी काशी में मरने से मुक्ति पाते हैं। जिस मुक्तिगति को महान मुनिजन अगम बताते हैं उसे आपके नगर में कीटपतंग भी पा जाते हैं। जो रामेश्वर के दर्शन करेगा वह शरीर छोड़कर मेरे धाम (स्वर्ग) में पहुंचेगा। जो व्यक्ति रामेश्वर में गंगा जल लाकर चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पायेगा। यहां तक मेरे द्वारा निर्मित सेतु के जो दर्शन करेगा वह बिना परिश्रम के ही भवसागर पार हो जायेगा। चार खानि के अपार जगज्जीव अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।" यह है कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसीदास जी की घोषणा। गोस्वामी जी ने सभी पुराणों से अपना पुराण आगे बढ़ा दिया।

तुलसी कबीर के बाद हुए हैं। कबीर के युग में जो तीर्थों की मिथ्या महिमा करके संसार के लोगों को गुमराह किया जा रहा था, उससे कबीर को बड़ी पीड़ा हुई। सारे पाप करके तीर्थों में जाने से सब पाप कट जाते हैं यह मान्यता तो मनुष्य के पापों को बढ़ाने वाली हुई। सद्गुरु कहते हैं कि चित्त के चंचल, मन के कपटी तथा स्वभाव के चोर लोग तीर्थों में जाकर पाप तो एक भी नहीं काट पाते हैं, उलटे ऊपर दस मन पाप ही लादते हैं। यहां दस मन लक्षणा अर्थ में पाप की अधिकता का द्योतक है, या दसों इन्द्रियों के पाप का बढ़ाना भी अर्थ किया जा सकता है।

---

1. विष्णु पुराण (2/8/121), कबीर दर्शन, अध्याय 1, तीर्थ।
2. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
   न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः॥ 30-31॥
   जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
   पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति॥ 33-34॥ (महाभारत, वनपर्व, अध्याय 82)

"तीरथ गये ते बहि मुये" हत्यादि पाप कर उसके काटने के चक्कर में जो तीर्थों में जाते हैं और जूड़े पानी में नहाते हैं वे मानो अपने पापों में बहकर मरते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग राक्षस होकर पश्चाताप करते हैं। अर्थात हिंसा राक्षसी कर्म है, उसे करते हैं, परन्तु पापों से छूटने के लिए तीर्थों का सहारा ढूंढ़ते हैं। ऐसे लोगों को आज जीवन में तथा भविष्य में भी केवल पछताना पड़ेगा। हिंसा करने वाला आज ही राक्षस है और वह आगे भी उसके परिणाम में तामसी योनि में जाकर दुख भोगेगा।

ऊपर 212 से 213वीं साखी में सद्गुरु ने हिंसावृत्ति वालों को चेतावनी दी है कि तुम हिंसादि पाप करके उसके फल से छूटने के लिए जो दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ आदि का आधार लेते हो, वह तुम्हारा अपने आपके साथ छलावा है। तुम जीवहत्या के पाप से दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ-सेवन करके बच नहीं सकते। अतः हिंसावृत्ति का त्याग करो। इसी क्रम में सद्गुरु ने उन्हें जोरदार शब्दों में 214 से 216वीं साखियों में लताड़ा है जो हिंसादि पापकर्म बराबर करते जाते हैं और सारे पाप तीर्थसेवन करके काटने का ढोंग भी करते जाते हैं। इस तथ्य को न समझकर एक ग्रन्थचुम्बक ने मिथ्या प्रलाप किया है कि कबीर ने तो यहां तीर्थयात्रियों को राक्षस होना बताया है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि जो अपने कर्तव्यकर्मों का परित्याग कर केवल कृष्ण-कृष्ण जपते रहते हैं वे हरिद्वेषी और पापी हैं, क्योंकि कृष्ण ने धर्म-कर्म के लिए ही जन्मधारण किया था।[1] अब इसमें कोई अपने अल्पज्ञतावश यह कहे कि विष्णुपुराण के लेखक ने तो कृष्ण-नाम जपने वाले को हरिद्वेषी और पापी कहा है, तो यह कहने वाले की बुद्धि की महिमा है। किस संदर्भ में बात कही गयी है इसका विचार किये बिना उस पर समीक्षा करना अपना छिछलापन है। अतएव उक्त साखियों में सामान्य तीर्थयात्रियों को राक्षस होने की बात नहीं कही गयी है, किन्तु तीर्थों की मिथ्या महिमाओं के बल पर पाप कटने के धोखे में हिंसा करते रहने वालों के लिए ये साखियां कही गयी हैं।

तीर्थों की महिमा करने वाले भी जब तीर्थों से घबराये हैं तब उन्होंने कहा है—"सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, दया, ऋजुता, दान, आत्मनिग्रह, संतोष, ब्रह्मचर्य, मृदुवाणी, ज्ञान, धैर्य और तप तीर्थ हैं और सर्वोच्च तीर्थ मनशुद्धि है। उनमें यह भी आया है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवंचक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं वे सभी तीर्थों में स्नान करने के बाद भी पापी एवं अपवित्र रहते हैं। क्योंकि मछलियां जल में जन्म लेती हैं, वहीं मर जाती हैं; परन्तु स्वर्ग को नहीं जातीं, क्योंकि उनके मन पवित्र नहीं होते। यदि मन शुद्ध नहीं

---

1. अपहाय निजं कर्म कृष्णकृष्णेति वादिनः।
ते हरिद्वेष्णः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥ विष्णुपुराण॥

है तो दान, यज्ञ, तप, स्वच्छता, तीर्थयात्रा एवं विद्या को तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता।"[1]

तीर्थों की अति महिमा करने वाले गोस्वामी तुलसीदासजी जब तीर्थों के पण्डे-पुजारियों के अत्याचार देखकर घबराये तब उन्होंने भी कहा—"देवमन्दिरों, तीर्थों और पुरियों में निर्लज्जतापूर्वक निपट दुष्कर्म हो रहे हैं। मानो कलिकाल अपनी पूरी फौज सहित वहां किला रोपकर जमा है।"[2]

कुछ आदमी गंगा स्नान करने जा रहे थे। जिस ट्रेन में वे चल रहे थे, एक महात्मा भी आकर बैठ गये। वे लोग सिगरेट पीने लगे। संत ने कहा कि जब तक आप तीर्थयात्री हैं जब तक तो सिगरेट न पीयें। उन्होंने कहा कि हम लोग तो शराब भी पीते हैं और पता नहीं क्या-क्या उलटा-सीधा करते हैं। हम जितना पाप वर्ष में करते हैं एक बार गंगा में नहा लेते हैं और वे सारे पाप कट जाते हैं। महात्मा ने गंगा से पूछा। गंगा ने कहा कि मैं किसी का पाप अपने पास नहीं रखती, नहीं तो मैं सूख जाती। मैं तो नहाने वालों के सारे पाप अपनी धारा के साथ समुद्र में पहुंचा देती हूं। समुद्र से पूछने पर उसने कहा कि मैं बादलों को पाप सौंप देता हूं; क्योंकि मेरा पानी सूरज की गरमी तथा हवा से हरदम भाप बनता है और भाप ही बादल बनता है। महात्मा ने बादलों से पूछा। बादलों ने कहा कि हम पापियों के पाप अपने पास रखें तो भस्म हो जायेंगे, इसलिए जिनके पाप रहते हैं हम उन्हीं पर उन्हें बरसा देते हैं।

नदी, समुद्र, बादल आदि तो जड़ हैं। वे बात क्या करेंगे ! तात्पर्य यह है कि तीर्थों में नहाने से न पाप कटते हैं, न मोक्ष होता है। ये सब बातें तो पण्डे-पुजारियों की पेटपूजा के लिए गढ़ी गयी महिमाएं हैं। हां, देशाटन, महापुरुषों के दर्शन एवं सत्संग के लिए देश के विभिन्न स्थलों एवं तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों में जाना चाहिए।

माया की जड़ काटो

ये गुणवन्ती बेलरी, तव गुण बर्णि न जाय॥
जर काटे ते हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय॥ 217॥

शब्दार्थ—गुणवन्ती=गुणवाली। बेलरी=बेलि, लता, मनोवृत्ति। तव

---

1. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं...तीर्थानामुत्तमं तीर्थं विशुद्धिर्मनसः पुनः॥...जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥...दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥ स्कन्दपुराण (काशीखंड 6/28-45), पद्मपुराण (उत्तरखंड 237/11-28), मिलाइए मत्स्यपुराण (22/80—सत्यं तीर्थं दया तीर्थम्...)। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1308।
2. सुर सदनन तीरथ पुरिन, निपट कुकाज कुलाज।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज॥ दोहावली॥

गुण=तुम्हारी महिमा। हरियरी=हरीभरी, प्रसन्न। कुम्हिलाय=मुरझा जाना, दुखी होना।

भावार्थ—हे गुणवती लता मनोवृत्ति! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। तुम्हारी विषयासक्ति एवं अहंता-ममतारूपी जड़ काट देने से तू प्रसन्न एवं सुखी होती है और यदि भोगों से तू सींची जाये, तो मलिन होकर दुखी हो जाती है॥ 217॥

व्याख्या—'गुणवन्ती बेलरी' त्रिगुणात्मिका माया है और वह है मनोवृत्ति। मन की मान्यता, भौतिक पदार्थों एवं परोक्ष कल्पनाओं में अहंता-ममता उसकी जड़ है। जीव अपने स्वरूप के अलावा जो कुछ मान लेता है वही माया बन जाता है। उसकी जड़ है अहंता-ममता। विजाति पदार्थों एवं परोक्ष मान्यताओं में अहंता-ममता करने से माया बलवती होती है अर्थात मन का मोह प्रबल होता है। मनोवृत्ति ही माया है जिसके दो रूप हैं एक बंधनप्रद और दूसरा मोक्ष में सहायक। यह मनोवृत्ति ही तो है जो नाना विषयों में रागवती बनती है और यह भी मनोवृत्ति ही है जो वैराग्य, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में रमती है। हमारी मनोवृत्ति तब माया बनती है जब उसके मूल में विजाति पदार्थों के प्रति या परोक्ष कल्पनाओं के प्रति अहंता-ममता बनती है, और नाना मान्यताओं का जाल बिछता है। इसे काट दिया जाये, अर्थात अहंता-ममताओं एवं मान्यताओं को छिन्न कर दिया जाये तो मनोवृत्ति प्रसन्न, सुखी एवं संतुष्ट हो जाती है और यदि इसे भोगों तथा नाना कल्पनाओं से सींचा जाये तो यह दुखी होती है।

कवि-कुल-भूषण कबीर की वाणियों की पंक्ति-पंक्ति में अलंकारों का सुंदर प्रयोग है। इस साखी में भी गुणवन्ती लता का सुन्दर रूपक है और विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है। विरोधाभास अलंकार उसे कहते हैं जहां सचमुच विरोध न होकर केवल विरोध का आभास होता है। जड़ काटने से लता का हरा-भरा होना और सींचने से मुरझा जाना चौंकाने वाली बात है। कबीर साहेब बीच-बीच में उलटवांसी तथा विरोधाभास की बातें कह-कहकर अपने पाठकों एवं श्रोताओं को चौंकाते रहते हैं। इससे पाठक एवं श्रोता को उनके उपदेशों में रुचि तो जगती ही है, साथ-साथ आशय समझ जाने पर कथन के चुटीलेपन के कारण मन में तीव्र संवेदना एवं चेतावनी के उद्रेक होते हैं।

हम इस साखी को सरलता से समझें तो अर्थ होगा कि अहंता-ममता को नष्ट कर देने से ही मनुष्य की मनोवृत्ति संतुष्ट हो सकती है और यदि अहंता-ममता को सींचा गया तो मनोवृत्ति मलिन होकर सदैव दुखी रहेगी।

पूर्व की साखियों में मिथ्या महिमा से मंडित तीर्थों को विष की लता कहा

गया था, परन्तु प्रस्तुत साखी में 'गुणवन्ती बेलरी' से ध्वनित माया-लता केवल तीर्थों की मान्यता तक सीमित नहीं है। इस साखी में मनोवृत्ति मात्र लता है। मनुष्य की मनोवृत्ति प्रसन्न है या मलिन है, यही तो जीवन की सफलता या असफलता का रहस्य है। भौतिक अनुकूलताओं से जो मनुष्य का मन प्रसन्न होता है, वह क्षणिक है। क्योंकि भौतिक स्थितियां परिवर्तनशील हैं, इसलिए उन पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस नहीं रह सकती। मनुष्य की आत्मा अपरिवर्तित तथा एकरस है, इसलिए अपनी आत्मा पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस रहती है। वस्तुनिष्ठ सुख तथा आत्मनिष्ठ सुख में बड़ा अंतर है। वस्तुनिष्ठ सुख क्षणिक है और आत्मनिष्ठ सुख अनन्त है।

माया की जड़ काटने से ही मनोवृत्ति चिरंतन सुखी हो सकती है। माया की जड़ सींचने से मनोवृत्ति दुखों में डूबी रहने के अलावा कुछ नहीं होगा। जो जितना दुनिया के राग-रंग में डूबेगा वह उतना ही दुखी रहेगा, और जो जितना ही इससे विरत रहेगा वह उतना सुखी रहेगा। समस्त सांसारिक उपलब्धियां विनश्वर हैं। उनमें अपने मन को रमाना पीड़ा को निमंत्रण देना है। निर्भयतापूर्वक सारी अहंताओं को काट देना ही सुख के सागर में पहुंचना है।

इस साखी में लता, जड़, काटना, सींचना, हरा-भरा होना, कुम्हलाना आदि रूपक एवं अलंकार हैं जो विषय-वस्तु के समझने में सहयोग करते ही हैं, कथन को रोचक भी बनाते हैं और विरोधाभास कथन तो पाठक के मन को और खींचता है।

बेलि कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय॥
ओर विनष्टी तूमरी, तेरो सरोपात करुवाय॥ 218॥

शब्दार्थ—बेलि=लता, माया, मनोवृत्ति। कुढंगी=कुपथगामी। बसाय=बदबू करता है, दुर्गन्ध करता है। ओर=आरम्भ, शुरुआत। तूमरी=तुमड़ी। सरोपात=संपूर्ण पत्ते। करुवाय=कड़वे एवं तीखे लगना।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी माया-लता विपथगामिनी है, इसलिए इसका फल बुरा होना ही है, क्योंकि इसके कुबुद्धिरूपी फूल पहले से ही दुर्गन्ध देते हैं। हे कड़वी-तुमड़ी माया ! जहां से तेरा आरम्भ होता है, तू उस जीव का ही पतन करती है। तेरे संपूर्ण कर्मरूपी पत्ते कड़वे हैं॥ 218॥

व्याख्या—इस साखी में भी रूपकों तथा अलंकारों का घटाटोप है। बेलि, फल, फूल, तुमड़ी, पत्ते और इनका विपथगामी होना, दुर्गन्ध देना, अपने जनक का विनाशक होना तथा कड़वा होना—ये सब विषय-वस्तुओं को समझने में सरलता उत्पन्न करते हैं।

मनुष्य की मनोवृत्ति ही माया-बेलि है जो कुढंगी अर्थात विपथगामिनी

है। जब मनोवृत्ति विपथगामिनी होगी तब उसका फल बुरा होना ही है। कुबुद्धि फूल है जो दुर्गन्ध से पूर्ण है। कुबुद्धि से कुकर्म तथा कुकर्म से कुफल यह प्रकृति का विधान है। "बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय, ओर विनष्टी, सरोपात करुवाय" ये सभी वचन चुभने वाले हैं। पहली बात है कुबुद्धि के फूल, जो दुर्गन्ध देते हैं। फूल से ही फल होते हैं। कुबुद्धि फूल है, उससे कुकर्म होते हैं। कुबुद्धि की दुर्गन्धी मनुष्य को निरंतर सड़ाती है। कुबुद्धि की दुर्गन्धी दूर-दूर तक फैल जाती है। रावण की कुबुद्धि थी परस्त्री में विमोहित होकर उसका हरण कर लेना और हितचिन्तकों द्वारा समझाये जाने पर भी उसे न लौटाना, युधिष्ठिर की कुबुद्धि थी जुआ खेलना और उसमें भाई-पत्नी सहित स्वयं को हार जाना। दुर्योधन की कुबुद्धि थी पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास की शर्त को पूरा कर देने पर भी उन्हें उनका राज्य न लौटाना, कृष्णवंशी यादवों की कुबुद्धि थी शासनबल, जनबल, धनबल, शरीरबल आदि के नशे में शराबी-कबाबी होकर आपस में एक-दूसरे की अवहेलना करना। इन सब कुबुद्धियों का फल क्या हुआ? यह सब जानते हैं कि इनका सर्वनाश हुआ। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं जिनके इतिहास बन गये हैं। छोटे-छोटे नाम सर्वसामान्य हैं जो सर्वत्र कम-बेश अपनी दुर्गन्धी फैलाते हैं। कुबुद्धि ऐसा फल है जिसमें केवल दुर्गन्धी है। कुबुद्धि से ही मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी बेलि कुपथ में चलती है। उसमें कड़वे कर्मरूपी पत्ते लगते हैं और तीखे फल फलते हैं।

पर-निंदा, ईर्ष्या, क्रोध, वैर, लड़ाई-झगड़े, व्यभिचार, चोरी, हत्या, अभक्ष्य-भक्षणादि दुर्बुद्धि के प्रकाश हैं। दुर्बुद्धि के कारण ही मनुष्य जीवनभर राग-द्वेष की आग में जलते हैं। वे समझते हैं कि हम इस संसार में सदैव रहेंगे और ये जो धन, भवन, स्वजन आदि मिले हैं, इनका सदैव उपभोग करेंगे। कुबुद्धि के कारण मनुष्य की मनोवृत्ति सदैव अनर्थ में भटकती है। इससे मनुष्य बुरे कर्म कर उसके कड़वे फल चखता है। जीवन में आदमी कितना धन कमाया तथा कितने जनसमूह को अपना अनुगामी या साथी बनाया, कितना प्रसिद्ध हुआ इन सबका कोई मूल्य नहीं है। इन सब में उसके जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। जीवन का महत्त्व है सद्‌बुद्धि, संयत मनोवृत्ति एवं विवेकपूर्ण कर्म में। इन्हीं सब से जीवन में मधु इकट्ठा होता है। आदमी कितने कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, भवन आदि का उपयोग करता है इससे उसके जीवन के सार का मूल्यांकन नहीं होता, किन्तु उसका मूल्यांकन इससे होता है कि उसके मन, बुद्धि एवं कर्म कितने संयत, शुद्ध और शांत हैं।

सद्‌गुरु ने माया को "ओर विनष्टी तूमरी" कहा है। मनोवृत्ति ही तो माया है और इसका 'ओर' अर्थात आरम्भ जीव ही है। यह जीव ही तो मनोवृत्ति

का जनक है और यह उसी का पतन करती है। जीव अपनी ही मलिन मनोवृत्तियों से पतित होता है। परन्तु यही मनोवृत्ति यदि पवित्र हो जाये तो जीव का कल्याणकारक हो जाये। जैसे पानी मनुष्य की असावधानी से डुबाता है, परन्तु यदि तैरना जाने तो पानी तैरने में सहयोग करता है, इसी प्रकार मनोवृत्ति जीव को उसकी ही असावधानी से डूबाती है और यदि साधक सावधान है तो उसके मोक्ष में सहायक होती है।

मन का स्वरूप

पानी ते अति पातला, धूवाँ ते अति झीन॥
पौनहु ते उतावला, सो दोस्त कबीरन कीन॥ 219॥

शब्दार्थ—कबीरन=जीवों ने।

भावार्थ—जो पानी से अत्यंत पतला है, धुआं से बहुत बारीक है और वायु से अधिक चंचल है, ऐसे मन से जीवों ने मित्रता की है॥ 219॥

व्याख्या—पानी, धुआं और वायु तो वस्तु हैं, परन्तु मन कोई वस्तु नहीं। यह देखे, सुने और भोगे हुए विषयों के संस्कारों का समुच्चय मात्र है। ऊपर की साखियों में मनोवृत्तिरूपी माया-लता का वर्णन है। उसी मन की सूक्ष्मता एवं चंचलता का इस साखी में दिग्दर्शन कराया गया है।

मन एक ऐसा साधन है जिसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। जैसे कुल्हाड़ी में लकड़ी का बेंट लगाकर तब लकड़ियां काटी जाती हैं, वैसे मन को लेकर ही मन का निग्रह किया जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि मन के आधार में उठते हैं, तो भक्ति, विवेक, वैराग्यादि भी मन के आधार में ही रहते हैं। मन के उपस्थित हुए बिना न बुरा काम होता है और न भला काम। मन न होता तो भवसागर न होता। इस मन ने ही भवसागर बनाया है और इस मन के द्वारा ही भवसागर सुखाया जा सकता है। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि मन मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है।[1] विषयासक्त मन मनुष्य के लिए बंधन बनाता है और निर्विषय मन बंधनों से मुक्त करता है। मन न होता तो प्रपंच ही न होता यह सच है, परन्तु मन है ही और उसके द्वारा रचा हुआ प्रपंच भी है ही, तो अब विवेकवान का काम है कि वह उस मन को लेकर मन के प्रपंचों को शांत कर दे।

मनुष्य अविवेकवश मन की चंचलता ही में आनन्द मानता है। परन्तु मन की चंचलता में खुजली-जैसा आनन्द है जो क्षणिक है और उसके पीछे

---

1. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

केवल जलन है। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन को विषयों में लगाकर उसे चंचल करता है। मनुष्य की रजोगुणी वृत्ति के कारण उसे विषयों में आनन्द लगता है, परन्तु वह अत्यन्त क्षणिक है और उसके परिणाम में मन की घोर अशांति है। मन की चंचलता और चहल-पहल में ही रजोगुणी व्यक्ति आनन्द मानता है। मन की शांति में उसे शून्यता, निराशा और निरर्थकता लगती है। परन्तु यह तो विवेकवान ही समझते हैं कि जब मन निर्विचार होकर शांत हो जाता है तब जीवन के कितने दिव्य क्षण होते हैं। लौकिक दृष्टि में विस्तार विकास है और आध्यात्मिक दृष्टि में विस्तार समाप्त कर देना जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंचना है। विस्तार में मन केन्द्र छोड़कर बाहर तैरता है, और विस्तार समाप्त हो जाने पर केन्द्र में आकर शांत हो जाता है। विस्तार मान्यताओं का लोक है और केन्द्र व्यक्ति का निजस्वरूप है, जो शुद्ध चेतन है, आत्मा है, जीव है। विस्तार में चहल-पहल अवश्य है, परन्तु उसमें विश्राम नहीं है। मन जब केन्द्र में लौट आता है, अर्थात स्वरूपस्थ हो जाता है, तब सारी चहल-पहल समाप्त हो जाती है, और उसे वहां परम विश्राम मिल जाता है। कम-बेश, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब मन के ही प्रपंच हैं। ये सारे प्रपंच न होते तो मेरा क्या नुकसान होता! वस्तुतः इन प्रपंचों में पड़ा रहना ही अपना नुकसान है। इनसे मुक्त हो जाना ही अपना सच्चा फायदा है।

कैसा आश्चर्य है कि जीव अनादिकाल से मन के प्रपंचों में दौड़ते-दौड़ते और उसमें सारी दुर्गति सहते-सहते आज भी उससे नहीं थकता है। मन के विस्तार में पड़कर उन्हीं-उन्हीं मलिन विषयों को असंख्य बार भोग चुके हैं और असंख्य बार पश्चाताप कर चुके हैं, फिर भी मनुष्य न जागे तो क्या उपाय! जिन विषयों में आज तक विश्राम न मिला, उनमें आगे कैसे विश्राम मिल जायेगा!

मन ही जीव के सामने सारे संसार को उपस्थित करता रहता है। यदि मन शांत हो जाये तो जीव के लिए मानो संसार शांत हो जाये। मन की गति सूक्ष्म है। वह मानो जीव को परमार्थ से घुमाकर स्वार्थ में तथा ज्ञान से हटाकर विषयों में लगा देता है। परन्तु बिलकुल ऐसी बात है नहीं। वस्तुतः हमारी आदतें बिगड़ी हैं। हम विषयों के रागी हैं, इसलिए बारम्बार उसकी तरफ फिसल जाते हैं। फिसलने में मन सहायक मात्र बनता है। यदि हमें पूर्ण ज्ञान तथा विषयों से वैराग्य हो जाये तो मन निवृत्ति में सहायक बनेगा। रागात्मक दशा में मन जितना चंचल रहता है, पूर्ण ज्ञान-वैराग्य दशा हो जाने पर मन उतना ही स्थिर हो जाता है। जो मन अज्ञानदशा में एक क्षण स्थिर नहीं होता, वही ज्ञानदशा में चंचल नहीं होता। मन जब समाधि तथा शांति सुख का रस

चख लेता है, तब उसे विषय-रस फीके एवं तुच्छ हो जाते हैं। जो मन कभी स्थिर नहीं होता था, वही मन स्वरूपस्थिति की पूर्ण परिपक्वता में समाधि एवं शांति-सुख से हटना नहीं चाहता। प्रशांत मन वाले साधक को अपने मन को कोच-कोचकर जगाना पड़ता है। उसे व्यवहार में लगाना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानी-से ज्ञानी को भी जीवन का व्यवहार करना पड़ता है।

ज्ञानी आलसी नहीं होता। आलस्य के कारण कुछ करने का मन न होना बिलकुल अलग बात है। यह तो पतन का रास्ता है। ज्ञानी श्रमशील होता है। परन्तु उसका मन शांतिपरायण होता है। विवेकवान का मन गैसबत्ती में लगे हुए मेंथल के समान होता है जो वर्तमान में प्रकाश तो देता है, परन्तु जलकर राख हो चुका होता है। अतः वह उससे खोलकर दूसरी गैसबत्ती में नहीं लगाया जा सकता। अज्ञानदशा में मन जितना ही चंचल और पाजी रहता है ज्ञानदशा में उतना ही शांत एवं शुद्ध हो जाता है। अतएव मन वायु के समान चंचल है, यह पढ़-सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। यह तो सामान्य स्थिति का वर्णन है। मन साधना द्वारा शुद्ध, शांत एवं समाधिनिष्ठ बना लिया जा सकता है और यह सब करने में कठिनाई नहीं, किन्तु सरलता है, केवल सच्ची समझ तथा वैराग्य होना चाहिए।

जीव ही सर्वोच्च है

सतगुरु बचन सुनो हो सन्तो, मति लीजै शिर भार।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, अब तैं सम्हर सँभार॥ 220॥

शब्दार्थ—मति=मत, नहीं। हजूर=हुजूर, उपस्थित, श्रीमान, स्वामी, श्रेष्ठतम। ठाढ़=खड़ा, दृढ़। सम्हार=समर, युद्ध अथवा संभलना, अपने आप को संयत करना। सँभार=संभालना, रक्षा करना।